हिमाचल
सुदर्शन वशिष्ठ

हिमाचल

हिमाचल

सुदर्शन वशिष्ठ

आत्माराम एण्ड संस
दिल्ली □ लखनऊ

हिमालय को

प्रकाशकीय

विश्व का सर्वाधिक सुन्दर तथा विविधता वाला देश है अपना भारतवर्ष। अनेक सभ्यताओं-संस्कृतियों-धर्मों वाले प्रदेश इसकी पुण्यभूमि पर अवस्थित हैं। कश्मीर से कन्याकुमारी तक विस्तृत इस देश ने सात समुन्दर पार के देशों को भी अपनी ओर आकर्षित किया है। इस सोने की चिड़िया को नोचने-खसोटने के मनसूबे ले-लेकर इस पर अनेक आक्रमण किए गए और इसकी अद्‌भुत और अकूत सम्पदा को लूटा गया। इसकी सभ्यता-संस्कृति को विकृत करने के लिए अनुचित और अव्यावहारिक तरीके अपनाए गए। किन्तु देवी-देवताओं, ऋषि-मुनियों की स्थली होने के कारण इसकी धार्मिक-आध्यात्मिक काया अक्षुण्ण बनी रही। इसके अस्तित्व को डिगाने के प्रयास में लगी विदेशी शक्तियों ने बार-बार मुँह की खाई। भौतिक सम्पदा की दृष्टि से भले ही यह देश निर्धन है लेकिन प्राकृतिक सौन्दर्य तथा भूगर्भ में समाई सम्पदा के अकूत भण्डारों से आज भी सम्पन्न है और लोलुप नजरें अब भी इसकी ओर लगी हैं।

भारत की सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना का आदिस्रोत नगाधिराज हिमालय अपने मनभावन सौन्दर्य तथा अनमोल प्राकृतिक सम्पदा के लिए प्रसिद्ध है। प्राचीन तथा पुराकाल से ऋषि-मुनियों, सन्त-महात्माओं की तपोभूमि के रूप में मान्यता-प्राप्त हिमाचल में मेलों-पर्वों, उत्सवों-त्योहारों की बारह महीने धूम मची रहती है। वास्तुकला, चित्रकला-कशीदाकारी, लोक-व्यवहार के चित्रांकनों तथा पूजा-अनुष्ठानों की परम्परा अनवरत रूप से विरासत में मिली है इस प्रदेश को। लोक-कथाओं, लोकगीतों, किंवदंतियों वाला हिमाचल प्रदेश विश्व-भर के सैलानियों-अनुसंधित्सुओं के लिए जिज्ञासा का केन्द्र रहा है। इसे 'पृथ्वी का स्वर्ग', 'देवभूमि', 'मन्दिरों का प्रदेश', 'प्रकृति का पालना' आदि नामों से पुकारा जाता है।

इतने अद्‌भुत इस प्रदेश से जिज्ञासु पाठकों का साक्षात्कार कराने में पूरी तरह सफल हिमाचल के खोजी और यायावरी प्रवृत्ति वाले मर्मज्ञ श्री सुदर्शन वशिष्ठ द्वारा लिखी गई यह पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता और गौरव की अनुभूति हो रही है। आशा है, भारत की आध्यात्मिक, धार्मिक भावनाओं को इस पुस्तक से बल मिलेगा और पाठकों की चेतना प्रबुद्ध होगी।

अनुक्रम

परम्परा और इतिहास — **11-42**
- पौराणिक सन्दर्भ — 11
- ऐतिहासिक सन्दर्भ — 15
- शिलालेख एवं ताम्रपत्र — 31
- पहाड़ी रियासतें — 42

जनजातीय संस्कृति — **43-81**
- लामा धर्म — 43
- ताबो के सहस्र वर्ष — 47
- किन्नर कौन — 52
- किन्नौर—एक — 54
- किन्नौर—दो — 61
- लाहुल — 74
- चम्बा के जनजातीय क्षेत्र — 80

लोक संस्कृति — **82-96**
- लोककथा की यात्रा — 82
- सांस्कृतिक धरोहर : विवाह गीत — 86
- लोक त्यौहार : संस्कृति और समाज के प्रतिबिंब — 90
- मंच की माँग और नृत्य-परम्परा — 94

उत्सव तथा मेले — **97-130**
- नरबलि का उत्सव : भुण्डा — 97
- प्रायश्चित्त के लिए काहिका मेला — 102
- रंगों और उमंगों का त्यौहार : होली — 106
- पशु उत्सव : नलवाड़ — 110
- सुन्दरनगर नलवाड़ — 113
- व्यापार मेला : लवी — 114

ल्हासा (तिब्बत)-बुशहर सन्धि 116
मिंजर महोत्सव 117
राधा अष्टमी पर एक धर्मयात्रा 119
देव-मानस समागम पर्व : कुल्लू दशहरा 122
महाशिवरात्रि का अनोखा पर्व 128
देव संस्कृति **131-172**
गूर हैं तो गाथा भी है देवों की 131
संवाद देवों से 136
मलाणा गणतन्त्र 139
शैव परम्परा 141
वैद्यनाथ धाम यही है ? 145
शक्तिपीठों में श्रद्धा 147
विपाशा के उद्गम से 151
जहाँ मनु की नौका टकराई 157
मणियों की घाटी : पार्वती घाटी 160
सरोवरों में धरती की किश्तियाँ 165
जहाँ रेणुका झील बनी 169
सर्पदंश का देवता : गुग्गा 171
अतीत और वर्तमान **173-188**
सूने गलियारे में बोलता इतिहास 173
सुजानपुर टीहरा 177
शिमला : डायरी के पन्नों में 181
वैदिक सुरा 185
कला **189-198**
महीन कारीगरी का कमाल : काँगड़ा कलम 189
कौन थे वे अनाम चितेरे ! 194
परिशिष्ट **199-238**
भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश 199
हिमाचल कला-संस्कृति भाषा अकादमी 204
हिमाचल एक दृष्टि में 209

परम्परा और इतिहास

पौराणिक सन्दर्भ

हिमाचल हिमालय का पर्याय है। यदि पौराणिक सन्दर्भ में कहें तो जिस हिमालय के घर पार्वती का जन्म हुआ, वह क्षेत्र आज का हिमाचल है। पर्वत पुत्री पार्वती मणिकर्ण में नदी होकर बहती है।

हिमाचल की बात वास्तव में वेद-पुराणों से पहले की है क्योंकि यहाँ अनार्य जातियाँ वास करती थीं। आर्यों के प्रादुर्भाव से पूर्व से ये जातियाँ इन पर्वतों में रहती थीं, जिनमें अधिकांश आज भी विद्यमान हैं।

वैदिक-पौराणिक साहित्य में यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किम्पुरुष, कोल-किरात तथा खश जातियों का वर्णन मिलता है। आर्यों से इनकी मुठभेड़ हुई और इन्हें बार-बार पर्वतों के दुर्गम क्षेत्रों में धकेला गया। इन जातियों को दास, दस्यु तथा क्षुद्र माना गया। सिद्ध-चारणों सहित यक्ष-गन्धर्वों से स्तुतिगान करवाया जाता था। अप्सराएँ देव दरबार में नृत्य करती थीं। तथापि इनका बहुत बार धार्मिक, पवित्र और देव योनि के पुरुषों के रूप में भी वर्णन हुआ है।

विष्णु पुराण में भूगोल वर्णन में गन्धमादन पर्वत तथा कैलास के साथ मेरु पर्वत के चारों ओर शीतान्त आदि केसर पर्वतों के बीच सिद्ध-चारणों से सेवित सुन्दर कन्दराओं का वर्णन है। यहीं गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, दैत्य-दानवों को अहर्निश क्रीड़ा करते बताया गया है। ये सम्पूर्ण स्थान पृथ्वी के स्वर्ग कहलाते थे, जहाँ धार्मिक पुरुष वास करते थे।

महाभारत के सभापर्व में पाण्डवों की दिग्विजय के समय अर्जुन ने उत्तर दिशा में कुबेर द्वारा रक्षित पर्वतों के भीतर तथा बाहर अधिकार किया। उलूक देश, पंचगणों को वश में किया। पौरव नाम के राजा को तथा पहाड़ी लुटेरों, म्लेछों को, जो सात प्रकार के थे, जीता। कश्मीर के क्षत्रिय राजा लोहित, त्रिगर्त, दारू, कोकनद, बाह्लीक वीरों के साथ दरद, कम्बोज, ऋषिक देश सहित पूरे हिमालय पर विजय प्राप्त की। वे किम्पुरुष वर्ष के अधिपति द्रुमपुत्र और हाटक देश के रक्षक गुह्यकों को हराकर मानसरोवर पहुँचे।

इसी प्रकार वन पर्व में भीम ईशाण कोण से आए सहस्रदल कमल की प्राप्ति के लिए गन्धमादन पर्वत के समीप कुबेर के राजभवन जा पहुँचे। जब भीम ने वहाँ अपना शंख बजाया, धनुष की टंकार की और तालियाँ बजाईं तो उस शब्द से यक्ष, राक्षस और

गन्धर्वों के रोंगटे खड़े हो गए। समर्थ अर्जुन भी पाशुपातास्त्र की प्राप्ति के लिए भृगुतुंग पर्वत पर गए और किरात वेशधारी शिव से भेंट की। इसी ओर से इन्द्रपुरी को प्रस्थान किया।

इन्द्र का स्वर्ग, कुबेर की अलकापुरी, शिव की कैलासपुरी ये सभी हिमालय में स्थित थीं। श्रीमद्‌भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में शंकर के प्रिय कैलास का वर्णन इस प्रकार किया है : "उस कैलास पर ओषधि, तप, मन्त्र तथा योग आदि उपायों से सिद्धि को प्राप्त हुए और जन्म से ही सिद्ध देवता नित्य निवास करते हैं, किन्नर, गन्धर्व और अप्सरा आदि सदा वहाँ बने रहते हैं। उसके मणिमय शिखर हैं जो नाना प्रकार की धातुओं से रंग-बिरंगे प्रतीत होते हैं। कैलास जाते हुए कुबेर की अलकापुरी का उल्लेख आता है, जहाँ सौगन्धिक वनों में यक्ष पत्नियाँ निवास करती हैं।

कोल, किरात तथा किन्नर—इन अनार्य जातियों का निवास हिमाचल रहा है। कोल वनों तथा बीहड़ों में क्यों रहने लगे, यह अस्पष्ट है। कुछ इतिहासकार कहते हैं कि कोल सिन्धु नदी के समीप रहते थे, बाद में ये पर्वतों की ओर आए। ये लोग शिल्पी थे। आज हिमाचल में ये बिखरे रूप में पाए जाते हैं। किरात (मंगोल) यहाँ की प्रमुख पर्वतीय जाती है। महाभारत में किरातों का प्रचुर वर्णन है। मनु ने किरातों को शूद्र माना है। महाभारत की परम्परा के अनुसार इन वनवासियों का क्षेत्र कुल्लू या कुल्लू व लाहुल-स्पिति के आस-पास हो सकता है। ऋषि वसिष्ठ के किरातों को शिश्नदेव अर्थात् लिंग पूजन करने वाले कहा है। कुल्लू में आज भी एक उत्सव 'काहिका' में लिंग पूजन किया जाता है। कई बार लकड़ी का लिंग बनाकर लोगों को दिखाया जाता है। किरातों से शिव का सम्बन्ध भी इसी ओर स्थापित होता है जहाँ भृगुतुंग, अर्जुन गुफा, हामटा (हेमकूट) पर्वत हैं। हामटा ही कुल्लू और स्पिति को पृथक् करता है।

तीसरी प्रमुख और महत्त्वपूर्ण जाति किन्नर है। आज के किन्नौर को लें तो यह जाति बुशहर के ऊपरी भाग में बसती है। ये लोग चन्द्रभागा और विपाशा तक फैले थे, ऐसा भी विश्वास है।

एक अन्य जाति जो हिमालय में रही, नाग जाति है। महाभारत में विष दिए भीम को नागों ने बचाया, अर्जुन ने नागकन्या उलूपी से विवाह किया। नाग-पूजा हिमाचल के लगभग सभी भागों में प्रचलित है। कुल्लू, मण्डी के लगभग सभी मन्दिरों में नाग आकृतियाँ, चम्बा, मण्डी, कुल्लू, काँगड़ा में स्वतन्त्र नाग मन्दिर इस बात के प्रमाण हैं। नाग जाति काँगड़ा में आज भी है जो ब्राह्मण मानी जाती है।

इसके बाद महत्त्वपूर्ण जाति खश है। खशों का उल्लेख भी महाभारत, मनुस्मृति में हुआ है। खशों को मनु ने शूद्र कहा है। खश तथा कुलिन्द मेरु व मंदर पर्वतों के बीच बसते थे। नाग और खशों का युद्ध आज भी प्रतीकात्मक रूप में बूढ़ी दीपावली (जो दीपावली के साथ एक मास बाद अमावस्या को होती है) को लोकनाट्य में होता है। निरमण्ड के ही भुण्डा उत्सव में बेड़ा द्वारा अपने लिए बनाए रस्से को नाग समझा

जाता है। यह भी माना जाता है, बेड़ा नाग जाति का ही था जिसे पहाड़ी के ऊँचे सिरे से इस रस्से पर एक घोड़ी पर बिठा झुलाया जाता है।

यह धारणा है कि खश और आर्यों ने मिलकर किरात, किन्नर और नागों को हराया और यहाँ खशों का प्रभुत्व हो गया। खशों के बाद कनैत (कुलिंद) हुए। जिन्हें खशिया कहा जाने लगा। कनैत जाति (राजपूत) आज भी हिमालय में विद्यमान है।

हिमाचल की अनार्य जातियों की प्रमुख विशेषता यह है कि इनमें चार वर्ण नहीं हैं। उदाहरणतः किन्नौर में ब्राह्मण वर्ण नहीं है। अन्तिम ब्राह्मण परिवार बुशहर के सराहन (रावी) में हैं। किन्नौर के मन्दिरों में पुजारी ब्राह्मण नहीं हैं। यही बात कुल्लू में भी है। बहुत से ऊपरी तथा जनजातीय क्षेत्रों में पुजारी राजपूत हैं। अधिकांश ऐसे क्षेत्रों में राजपूतों के अतिरिक्त लुहार तथा चिनाल हैं। राजूपत भी सम्भवतः ये अपने को बाद में कहने लगे। जैसे कई जगह ठाकुर (कुल्लू) या नेगी (लाहुल-स्पिति) कहा जाता है। राहुल जी ने किन्नौर यात्रा में लिखा है : 'पहाड़ में न धोबी होता है, न तेली, न हज़ाम, न कुम्हार। ये और दूसरे कामों को ये लोग अपने आप ही कर लेते हैं। स्कूल के हेडमास्टर साहब ने 11 जुलाई (1948) को मेरे बाल काटे।' किन्नौर तथा स्पिति में मिस्त्री नहीं होता। ये लोग अद्‌भुत शिल्प के उदाहरण बौद्ध मठों को स्वयं ग्रामीण ही बनाते थे। कानम मठ के जीर्णोद्धार के समय (1933) मार्को पालिस ने लिखा है कि मठ के निर्माण में मिस्त्री कनिष्ठ लामा थे जो ग्रामीणों के साथ काम कर रहे थे।

वास्तव में आदि जातियाँ वही थीं जो हल चलाती थीं या अपने हाथों कोई कारीगरी का काम करती थीं, औजार बनाती थीं। इनमें कोली, हाली, डोम, चनाल, बाढ़ी आदि लोग हैं जो मूल वासी रहे हैं। दूसरी जातियाँ बाद में आईं। हल चलाने वाले, शिल्पी, घुमन्तु पशु-पालक, भेड़-पालक—ये मूल वासी रहे हैं हिमाचल में। आर्यों के आगमन पर एक शासक वर्ग बन गया जो बाद में राजाओं में बदला। यहाँ राजा लोग भी कथाओं के अनुसार अवध, मायापुरी जैसे स्थानों से आए जो मैदानों में थे। इसी प्रकार ब्राह्मण भी बाहर से आए।

आदिदेव शिव की उपासना भी हिमाचल की एक विशेषता है। शिव की वेशभूषा से इनका सम्बन्ध वनवासी तथा आदिम संस्कृति से जोड़ा जाता है। मोहन जोदड़ो तथा हड़प्पा में भी मिट्टी की त्रिमुखी शिव प्रतिमाएँ मिली हैं। पशुपति शिव के गले में सर्प, मृगचर्म पहनना आदि जातियों का द्योतक है। शिव के साथ लिंग-पूजा जुड़ी हुई है। किन्नर कैलास, मणिमहेश कैलास, चूड़धार शिव-पूजा के प्रतीक हैं। शिव के मन्दिर तो चम्बा, मण्डी, काँगड़ा, कुल्लू में अनेक हैं। शिव के साथ शक्तिरूपा पार्वती या देवी-पूजा भी प्रमुख है। काँगड़ा, ऊना, बिलासपुर की प्रसिद्ध देवियों के अतिरिक्त शक्ति देवी छतराड़ी, हाटेश्वरी, हाटकोटी आदि शक्ति पीठ हैं।

आर्यों के इस हिमाचल में प्रवेश पर परिदृश्य बदला। आर्यों ने इस क्षेत्र को तपोभूमि बनाया। आर्यों का देश सप्तसिन्धु हो या वे बाहर से आए हों, ऋग्वेद में ही

हिमाचल की नदियों के उल्लेख मिलने लगते हैं। गंगा, यमुना, सरस्वती के साथ शतद्रु (सतलुज), परुष्णी (रावी), चन्द्रभागा (चिनाब), आर्जीकिया या विपाशा (व्यास) का वर्णन हुआ है।

आर्यों का सर्वप्रथम मुकाबला सिन्धु घाटी के लोगों से हुआ जिनके अवशेष मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, रोपड़, चण्डीगढ़ के आसपास मिलते हैं। पंजाब की ओर बढ़ने पर आर्यों को शिवालिक पहाड़ियों के आसपास हिमाचल के मूल निवासियों से भिड़ना पड़ा। ये मूल वासी कोल, किरात, किन्नर-नाग थे। इन कोल, किरात, किन्नर, यक्ष जातियों को आर्यों ने दास और दस्यु कहा। इनके साथ बार-बार युद्धों का वर्णन मिलता है। इनका शासक शम्बर था जिसके पत्थरों से बने सौ दुर्ग थे। शम्बर का अपने समकालीन आर्य शासक भरतकुल के दिवोदास से युद्ध होता रहता था। शम्बर और दिवोदास का युद्ध चालीस वर्ष तक चला। अंततः शम्बर पराजित हुआ और आर्य सतलुज को पार कर सरस्वती व यमुना नदियों की ओर बढ़े।

आर्यों के हिमाचल आगमन में महत्त्वपूर्ण घटना वैदिक ऋषियों को हिमालय भ्रमण तथा अपने आश्रम स्थापित करना है। इन ऋषियों में वसिष्ठ, जमदग्नि, अगस्त्य, गौतम के साथ परशुराम, कपिल, व्यास, मार्कण्डेय, पराशर, लोमश आदि हैं।

ऋग्वेद की रचना शतद्रु और सरस्वती के बीच हुई।

देवताओं का प्रिय सोमरस या सुरा का प्रचलन आज भी हिमाचल में होता है। 'सुर' को देवताओं को अर्पित किया जाता है। ऋग्वेद की भाँति यह पेय पर्वतों से लाई अनेक जड़ी-बूटियों से तैयार किया जाता है। ऋग्वैदिक काल में भी सोमरस ऊँचे पर्वतों पर पाई जाने वाली सोमलता से बनाया जाता था।

जिन पौराणिक जनपदों की आर्यकालीन भारत में स्थापना हुई वे थे—त्रिगर्त, औदुम्बर, कुल्लूत तथा कुलिन्द। सतलुज, रावी तथा व्यास नदियों के बीच का क्षेत्र त्रिगर्त (काँगड़ा) कहलाता था। त्रिगर्तराज सुशर्मा महाभारत युद्ध में कौरव पक्ष से लड़ा। महाभारत युद्ध के बाद आश्वमेधिक पर्व में पुनः त्रिगर्तों ने अर्जुन से युद्ध किया। त्रिगर्त का प्रथम शासक भूमिचन्द माना गया है। औदुम्बर (पठानकोट) रावी, व्यास नदियों के समीप था। इन गणराज्यों का सम्बन्ध शालव जाति से माना जाता है। माद्री के भाई शालव थे। कुल्लूत (कुल्लू) व्यास की ऊपरी घाटी में था तो कुलिन्द (शिमला-सोलन) व्यास से यमुना तक।

टिप्पणी : पौराणिक हिमाचल किंवदन्तियों, परम्पराओं, वेद-पुराणों पर आधारित है। इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

ऐतिहासिक सन्दर्भ

प्रागैतिहासिक हिमाचल

इतिहासकार और भू-वैज्ञानिक मानते हैं कि हिमालय और आदि मानव एक साथ अस्तित्व में आए। नालागढ़ की शिवालिक घाटियों से प्राप्त मानव फॉसिल्ज, गोल पत्थर के औजार इस क्षेत्र में पाषाण युग के आदि मानव होने की पुष्टि करते हैं। ऐसे ही फॉसिल्ज, बिलासपुर के हरितल्यांगर में मिले हैं। जिला सिरमौर की मारकण्ड घाटी, कुल्लू की व्यास घाटी, काँगड़ा की व्यास और बाणगंगा घाटियाँ, हरिपुर-गुलेर, देहरा जैसे स्थानों में पत्थर के औजार प्राप्त हुए हैं। काँगड़ा, गुलेर, देहरा, ढलियारा से ऐसे औजारों के बेहतर नमूने प्राप्त हुए। पुरातत्त्व विभाग द्वारा रावी घाटी में कठुआ के पास उत्तर पाषाण काल के स्थल ढूँढे गए हैं।

पाषाण युग के बाद रोपड़ में ताम्र युग के पहले के प्रमाण पाए गए हैं। रोपड़, मोहनजोदड़ो, स्यालकोट, चण्डीगढ़ आदि स्थानों की खुदाई में निषाद, मंगोल, किरात, पर्वतीय प्रदेशों के वासी लोगों के अस्थिपंजर मिले हैं। ये लोग दास, असुर, पिशाच, राक्षस, किन्नर, किरात रहे होंगे। सिन्धु घाटी की सभ्यता के समय हिमाचल में कोल-किरात, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, दास, असुर, राक्षस, पिशाच जैसी जातियों के होने का अनुमान लगाया जाता है। सिन्धु घाटी में देवदार की लकड़ी का प्रयोग वहाँ की सभ्यता से पर्वतीय संस्कृति का सम्पर्क सिद्ध करता है।

सभी आदिम जातियों की तरह हिमाचल में भी आरम्भ में कंदमूल-फल खाने, शिकार खेलने, पशुपालक बनने, घास की खोज में जगह-जगह घूमने, शीत होने पर खालें पहनने, गुफाओं से लेकर घर में रहने, खेती करने, बस्तियाँ बसाने तथा प्रशासन के लिए देव-व्यवस्था के अस्तित्व में आने की एक लम्बी कहानी है। खाल, ऊन का प्रयोग, घुमन्तु जीवन, जौ की फसल उगाना, ग्राम देवताओं का प्रशासन आज भी हिमाचल के अधिकांश क्षेत्रों की विशेषता है।

वैदिक हिमाचल (2000 ई. पू.)

ऋग्वेद में शतद्रु (सतलुज), परुष्णी (रावी), असिकनी (चन्द्रभागा), आर्जीकिया या विपाशा (व्यास) जैसी नदियों का गंगा, जमुना, सरस्वती के साथ स्मरण किया गया है।

हिमाचल में यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, दानव, असुर, पिशाच, दास, दस्यु जैसी अनार्य जातियों व जनपदों का उल्लेख हुआ है। आर्यों ने अपने इन प्रतिद्वंद्वियों को दास कहकर पुकारा। पर्वतीय क्षेत्र के राजा इन्द्र ने शम्बर तथा दिवोदास युद्ध में दिवोदास को विजय दिलाई। शम्बर यहाँ का शक्तिशाली शासक था जिसका राज्य रावी, व्यास और सतलुज के बीच था। इसके सौ मजबूत दुर्ग थे। चालीस वर्षों के युद्ध में दिवोदास ने इन सौ दुर्गों को ध्वस्त कर शम्बर को पराजित किया। ऋग्वेद में शम्बर को 'दास कोलितर राज' कहा गया है। इसके बाद दिवोदास के पुत्र सुदास और दस आर्य तथा अनार्य राजाओं के बीच पुनः युद्ध हुआ। आर्य राजाओं में अनु, पुरु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वसु आदि थे। सुदास की ओर मन्त्री वशिष्ठ थे तथा दूसरी ओर विश्वामित्र। इस युद्ध में सुदास विजयी हुआ और अनार्य व आर्य राजाओं का शक्तिशाली सम्राट् बन गया। इस प्रकार पर्वतीय क्षेत्र में आर्यों की संस्कृति का विस्तार हुआ। कहा जाता है कि ऋग्वेद की रचना हिमवन्त अर्थात् हिमाचल में हुई। ऋग्वेद आर्यों का प्रिय पेय सोमरस अब भी हिमाचल में 'सुर' के नाम से जाना जाता है जो कई प्रकार की जड़ी-बूटियों से तैयार किया जाता है।

महाभारत काल (1000 ई. पू.)

महाभारत में त्रिगर्त, कुल्लूत, कुलिन्द, सुकुट का वर्णन है। त्रिगर्त नरेश सुशर्मा महाभारत युद्ध में कौरवों की ओर से लड़ा जबकि हिडिम्बा-पुत्र घटोत्कच पाण्डवों की ओर से। अर्जुन ने वनपर्व में तथा दिग्विजय के समय हिमाचल यात्राएँ कीं। राजसूय यज्ञ में पहाड़ी राजा अपनी ओर से भेंट लेकर गए। हिमाचल के सभी राजा पाण्डवों के अधीन हुए।

त्रिगर्त जनपद जो रावी, व्यास और सतलुज के बीच स्थित था आयुधजीवी संघ कहा गया है। पाणिनी ने त्रिगर्त में छः संघ गिनाए हैं। औदुम्बर जनपद को महाभारत में उत्तर के निवासी कहा है। रावी, व्यास के मध्य पठानकोट व नूरपुर के क्षेत्र इसमें शामिल थे। औदुम्बरों की बहुत-सी मुद्राएँ मिलती हैं। व्यास घाटी में कुल्लूत जनपद था जिसका उल्लेख महाभारत आदि पुराणों में मिलता है। कश्मीर तथा त्रिगर्त को छोड़ कुल्लूत सबसे प्राचीन जनपद रहा है। यहाँ की सबसे प्राचीन मुद्रा में "राजनः कुलूतस्य वीरयशः" का उल्लेख है। व्यास के ऊपरी भाग तथा यमुना तक फैले प्रदेश को कुलिन्द कहा गया है। शिमला, सोलन से लेकर अम्बाला तक इसकी सीमा थी।

हिमाचल में बौद्ध धर्म (600 ई. पू.)

तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व, लगभग सम्राट् अशोक के ही समय में हिमाचल में बौद्ध धर्म का प्रसार हो गया था। सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भिक्षु हिमालय में भेजे। स्तूप बनाए गए, शिलालेख खोदे गए। जिला काँगड़ा के खनियारा, पठियार, चैतड़ू, चड़ी, लाखा मण्डल आदि स्थानों में तीसरी शताब्दी पूर्व से कनिष्क के समय के अवशेष पाए जाते हैं।

ह्यूनसांग ने अपनी भारत यात्रा (630-644 ई.) में इन स्थानों का वर्णन किया है। जिला काँगड़ा में धर्मशाला के निकट खनियारा में ब्राह्मी-खरोष्ठी शिलालेख, पठियार का शिलालेख तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व बौद्ध मठ की पुष्टि करता है।

ह्यूनसाँग ने त्रिगर्त में पचास बौद्ध मठ और दो हजार बौद्ध भिक्षु तथा कुल्लू में बीस मठ देखे। कुल्लू घाटी के मध्य एक स्तूप का उल्लेख भी किया गया है।

कनिष्क के समय काँगड़ा के निकट चैतड़ू में स्तूप पाया गया। छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म के प्रबल विद्रोही मिहिरकुल (518-529) ने इन विहारों को नष्ट किया।

सतलुज घाटी

सतलुज घाटी के इतिहास के स्रोत रामपुर बुशहर के पार निरमण्ड गाँव से जुड़े हुए हैं। रामपुर से लगभग बारह किलोमीटर सतलुज के पार निरमण्ड गाँव है। सतलुज के पार चन्द्रा-बीस तक का क्षेत्र जिला कुल्लू में आता है।

निरमण्ड परशुराम द्वारा स्थापित गाँव माना जाता है। सतलुज के पार जिला कुल्लू तथा इस ओर जिला शिमला में भी परशुराम के स्थान माने जाते हैं। निरमण्ड के अतिरिक्त जिला शिमला में निरमण्ड के ठीक पार नीरथ और नग्गर दो स्थान हैं। नीरथ में सूर्य मन्दिर, नग्गर या दत्तनगर में दत्तात्रेय का मन्दिर है। जिला मण्डी में काओ और ममेल दो अन्य स्थान हैं। काओ में कामाक्षादेवी और ममेल में ममेलश्वर महादेव के मन्दिर हैं। कुछ लोग खेखसु और धनाओ को मिलाकर सात स्थान मानते हैं। स्थानों के अतिरिक्त चार 'ठहरी' हैं : डणसा, लालसा, शनेरी और शिंगड़ा।

परशुराम की इस किंवदन्ति या लोकास्था को छोड़ दें तो निरमण्ड के परशुराम मन्दिर में होने वाले भुण्डा उत्सव को नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता। भुण्डा उत्सव की परम्परा से कुछ निकले, न निकले—इस अवसर पर परशुराम मंदिर से निकाली जाने वाली मूर्तियों से इतिहास को दिशा मिलती है।

भुण्डा उत्सव निरमण्ड के अतिरिक्त रामपुर, रोहड़ू में अब भी कई स्थानों में मनाया जाता है। इस पारम्परिक उत्सव में सभी क्रियाएँ तथा रस्में लगभग एक-सी हैं किन्तु वर्षों के अनन्तर इनमें क्या-क्या बदलाव आते रहे, यह कहना कठिन है।

निरमण्ड में हर बारह वर्ष बाद भुण्डा का आयोजन होता था। हारकोट ने 1856 के बाद 1868 में भुण्डा का उल्लेख किया है। 1868 के बाद शैटलवर्थ ने 1909 के भुण्डे का उल्लेख किया है। बारह वर्ष बाद भुण्डा होने की परम्परा खण्डित हो गई थी अब तक, अन्यथा यह भुण्डा 1916 में होता। इसके बाद 1933, 1962 में भुण्डों का उल्लेख मिलता है।

इस उत्सव में अन्य धार्मिक अनुष्ठानों के अतिरिक्त 'बेडा' जाति के एक आदमी को ऊँची पहाड़ी में ऊपर से नीचे मोटा रस्सा बाँधकर एक लकड़ी की घोड़ी पर बिठाकर फिसलाया जाता है जिससे आदमी की मृत्यु हो सकती है। हारकोट ने 1856 के भुण्डा

के दौरान बेडा के मरने का उल्लेख किया है, जिसके बाद यह खतरनाक खेल सरकार ने बंद करवा दिया । फिर रस्से में बकरा बाँधा जाने लगा। अंतिम भुण्डा 1981 में हुआ था जिसमें रस्से से बकरा बाँधा गया।

महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ

भुण्डा के अवसर पर परशुराम मंदिर से मूर्तियाँ निकाली जाती हैं। यूँ यह मंदिर वर्षों बंद रहता है। भुण्डा के आयोजन में सर्वप्रथम एक जगनाहट (ब्राह्मण) तथा तीन माहते (सुनार) भीतर जाकर मूर्तियाँ निकालते हैं। मंदिर के भीतर गुफानुमा कमरे से एक बार जो मूर्तियाँ हाथ लगती हैं, उन्हें निकाला जाता है। ये मूर्तियाँ भुण्डा के आयोजन के दिनों मंदिर के बाहर दर्शनार्थ रखी जाती हैं।

हारकोट ने 1868 में भुण्डा पर निकाली गई मूर्तियों की सूची दी है। उस समय चालीस पौंड का परशुराम का फरसा, एक गागर (या कलश), एक धनुष, लोहे के कुछ तीर और एक बहुत बड़ा कवच निकाले गए थे। इस समय निकाली गई मुख्य मूर्ति के विषय में हारकोट ने लिखा है कि मूर्ति के हाथ में एक ताम्रपत्र है। पुजारी कहते हैं कि इसमें दाता द्वारा लिखित उनकी जागीर का अधिकार-पत्र है।

एच. सी. शैटलवर्थ ने 1919 के भुण्डे में रानी के एक हैड मैटल निकलने का उल्लेख किया है। इस हैड मैटल में एक संस्कृत लेख में सम्वत् सात लिखा है। इसी में एक लेख टाकरी में है जो सम्भवतः बाद में लिखा गया। भुण्डा के रिकार्ड में एक जगह एक मोती-हार का उल्लेख भी आता है जिस पर सम्वत् 749 लिखा है।

1962 में एक अँगूठी भी बाहर लाई गई थी। परशुराम की त्रिमुखी मूर्ति भी बाहर लाई गई।

8 फरवरी, 1981 को हुए अंतिम भुण्डे में ताम्रपत्र के सिवा लगभग सभी मूर्तियाँ निकालकर यज्ञशाला में रखी गईं। परशुराम की मुख्य मूर्ति के अतिरिक्त बुद्ध, तारा, विष्णु, गणेश, महिषासुरमर्दिनी, शूलपाणी, दुर्गा की कलात्मक मूर्तियाँ, सिंहमुख वाले दो स्टैण्ड, कलश, दो मोर तथा घंटियाँ बाहर लाई गईं। इनके अतिरिक्त एक सोने का कण्ठा, कमण्डल, दो हाथी दाँत के पंखे, एक अँगूठी तथा चाँदी का एक थाल भी निकाला गया।

रानी माँ की आवक्ष प्रतिमा, परशुराम का फरसा तथा गेहूँ का दाना इस बार बाहर नहीं निकले।

इनमें महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ बुद्ध की थीं जिन्हें लोग इन्द्र-इन्द्राणी बता रहे थे।

अंतिम भुण्डे के बाद परशुराम मंदिर से मूर्तियों की चोरी हो गई। यद्यपि इन मूर्तियों को पुलिस ने बरामद कर लिया। कुल पचास मूर्तियाँ बरामद हुईं। इनमें रानी माँ की आवक्ष प्रतिमा भी थी। जिसमें 10 आषाढ़ सम्वत 7 खुदा है। बुद्ध की दो प्रतिमाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें एक की आँखें चमकती हुई हैं और पैरों में छोटे पहिए लगे हैं। दूसरी कमलदल पर विराजमान है।

निरमण्ड ताम्रपत्र

निरमण्ड ताम्रपत्र, जिसका उल्लेख हारकोट ने किया है, 1981 के भुण्डे में देखा नहीं जा सका। पता चला एक सज्जन इसे पढ़वाने के लिए ले गए हैं। इसकी प्रतिलिपि स्थानीय वकील महेन्द्रप्रकाश के पास मौजूद थी। ताम्रपत्र 32 × 20 सें. मी. है जो संस्कृत से किसी अन्य भाषा में है।

कनिंघम के अनुसार यह ताम्रपत्र बारहवीं शताब्दी का है, जबकि डॉ. जे. एफ. फ्लीट ने इसे सातवीं शताब्दी का सिद्ध किया है।

ताम्रपत्र में उल्लेख है कि कपालेश्वर मंदिर महाराज सर्ववर्मन द्वारा बनवाया गया। इसमें समुद्रसेन की माता परमदेवी महाभट्टारिका मिहिर लक्ष्मी ने मिहिरेश्वर की मूर्ति की स्थापना की। मिहिरेश्वर व पूजा-अर्चना के लिए महाराजा समुद्रसेन ने शूलिशग्राम और उससे संलग्न भूमि व जंगल निरमण्ड के अथर्ववेदी ब्राह्मणों को अग्रहार के रूप में दी। लेख में चार महासामन्त महाराजाओं की वंशावली दी है—वरुणसेन, संजयसेन, रविसेन और समुद्रसेन।

कपालेश्वर मंदिर में मिहिरेश्वर की स्थापना और कालान्तर के बाद इसका परशुराम मंदिर बनना एक लम्बे इतिहास को छिपाए है। कपालेश्वर मंदिर में शिव की स्थापना बौद्ध के स्थान पर शैव होने की परम्परा को भी लक्षित करती है। अभी भी भुण्डे के अंत में 'नाथ' सम्प्रदाय के लोगों को गाँव के बाहर खदेड़ा जाता है। निरमण्ड का यह ताम्रपत्र 630 ई. का माना जाता है। इस घटना को मिहिरकुल (518-529) से जोड़ा जा सकता है। अतः यह बौद्धों पर ब्राह्मणों की विजय भी हो सकती है।

'हिस्ट्री ऑफ पंजाब हिल्ज़ स्टेट' में उल्लेख है कि स्पिति या पित्ति में सेन वंश के शासकों का राज्य था। 'पित्ति' का अर्थ है मध्यप्रदेश। स्पिति के शासक राजेन्द्रसेन ने रुद्रपाल (600-650) के समय कुल्लू पर हमला किया और इसे अपने अधीन किया। प्रसिद्धपाल ने रोहतांग के निकट युद्ध में पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त की। निरमण्ड का ताम्रपत्र इससे पहले के राजाओं द्वारा दिया गया।

कुल्लू के प्रसिद्धपाल द्वारा हार के तुरन्त बाद स्पिति पर तिब्बत का हमला हुआ और हिन्दू राज्य की समाप्ति हुई। इस युद्ध में लद्दाख की सहायता कुल्लू के संसारपाल ने की । स्पिति के चेतसेन के पुत्रों को जागीर सौंपी गई।

सातवीं शताब्दी के मध्य तिब्बत के शासक स्रों-त्सन-गम्पो (Sron-btsan-Sgam-po) (617-650) ने लद्दाख को अपने अधीन कर लिया। अतः स्पिति भी मध्य तिब्बत का एक भाग बन गई। छोटे-छोटे राज्यों में बँटा स्पिति, लद्दाख, तिब्बत का यह हिस्सा अब स्रों-त्सन-गम्पो के अधीन आ गया जिसका विवाह चीन तथा नेपाल की राजकुमारियों से हुआ। इससे राजा के शक्तिशाली होने की पुष्टि होती है।

चीन तथा नेपाल से आई राजकुमारियों द्वारा अक्षोभ्य तथा शाक्य मुनि की

प्रतिमाएँ दहेज में लाई गईं। अतः चीन से आई रानी ने कोङ-जो-नेर-मो-छे और नेपाल से आई रानी ने ठि-चुन-ने-ठुल-नंङ विहार बनवाए। स्रों-त्सन-गम्पो ने लगभग 632 में अपने एक मन्त्री सम्भोट को सोलह छात्रों के साथ कश्मीर भेजा। बौद्ध धर्म के प्रबल समर्थक इस शासक ने नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयों में बौद्ध भिक्षुओं को तिब्बत आने हेतु प्रेरित करने के लिए अपने दूत भेजे। वे प्रसिद्ध विद्वान् शान्तरक्षित को तिब्बत लाने में सफल रहे। शान्तरक्षित ने रिमपोचे पद्मसम्भव को आमन्त्रण देने के लिए कहा। तन्त्रयान के अनुयायी पद्मसम्भव को बुलाया गया। पद्मसम्भव की जीवनी पेमाकातङ में जोहार (मण्डी-रिवालसर), गार्जा (लाहुल), गुरूघंटाल (गोंधला) का नाम आता है। पद्मसम्भव का नाम लाहुल के मठों से भी जुड़ा है। यह भी कहा जाता है कि पद्मसम्भव ने लगभग 779 ई. में तिब्बत में सम-यास या ममय नाम के मठ की स्थापना की।

स्रों-त्सन-गम्पो का पौत्र राल-पा-चेन (Ral-pa-chen) (1817-36) बौद्ध धर्म का तीसरा प्रबल समर्थक शासक माना जाता है। इसे विद्रोही भाई लङ दरमा (Lang-darma) द्वारा मार दिया गया। लंग दरमा (899-902) बौद्ध धर्म का शत्रु था। उसने भारतीय पण्डितों को निकाल दिया। स्थानीय विद्वान् जहाँ-तहाँ छिप गए।

लङ दरमा 902 ई. में पाल दोर्जे लामा की सुनियोजित योजना द्वारा मार दिया गया। इसकी मृत्यु के बाद उसका भतीजा राजा बना। इसके साथ छोटी रानी के वारिस ओद-स्रंग (Od-Srungs) के बीच संघर्ष चलता रहा। इस संघर्ष के चलते ओद-स्रंग का पौत्र की-दे-निमा-गों अपने अनुयायियों सहित पश्चिमी तिब्बत चला गया। किन्तु वैवाहिक सम्बन्धों से की-दे-निमो-गों ने शक्ति प्राप्त की और गुगे व लद्दाख के क्षेत्रों को मिलाकर राज्य विस्तार किया। लगभग 930 ई. में इसकी मृत्यु के बाद राज्य तीन पुत्रों में बाँट दिया गया। बड़े पुत्र पालगी-गों (Palgyi-gon) को लद्दाख तथा दोनों भाइयों पर शासन। दूसरे पुत्र टशी-गों को पुरंग तथा तीसरे भाई देत्सु-गों (Detsu-gon) को जंगसर व स्पिति। पालगी-गों (930-960) की मृत्यु के बाद शासक का दर्जा टशी-गों को मिल गया। टशी-गों बिना उत्तराधिकारी के मर गया। अतः गुगे व पुरंग का शासन देत्सु-गों के पुत्र खोर-रे (Khor-re) (चक्रसेन) को मिल गया। खोर-रे ही ये-शेस-ओद (Ye-shes-hod) था। इसे लो-चेन अर्थात् पंडित और गुरु भी कहा जाता है।

ये-शेस-ओद (967-1040) ही गुगे का वह शासक था जो अपने दो पुत्रों नागराज और देवराजसहित बौद्ध भिक्षु बन गया। राजपाट अपने भतीजे स्रोन-ने (Sron-ne) को सौंप स्वयं बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में जीवन लगाया। इसने इक्कीस युवाओं को भारत भेजा, जिसमें से रिन-चेन-जंग-पो भी एक था। इनमें से केवल दो—रिन-चेन-जंग-पो तथा लेक-पाई-शे-रेप (Lek-pai-she-rap) ही अपना अध्ययन पूरा करने के लिए बच पाए। रिन-चेन-जंगपो कई वर्षों तक कश्मीर में रहे और भारत के

दूसरे स्थानों का भ्रमण किया। ये-शेस-ओद ने सन् 1005 में रिन-चेन-जंगपो सहित दूसरा दल कश्मीर भेजा। ये वहाँ से पहली यात्रा में रह गई पुस्तकें लाए और अपने साथ लाए बत्तीस बौद्ध कश्मीरी मूर्तिकार और कलाकार।

स्रोन-ने के बाद उसका पुत्र चंग-छुब-ओद (Chang-chub-od) शासक बना, जिसे बोधिप्रभ भी कहते हैं। इसने भी राजपाट त्याग दिया और अपने भाई ज़ी-बा-ओद (Zi-ba-od) सहित विक्रमशिला महाविहार से दीपंकर श्रीज्ञान को गुगे आमन्त्रित करने के लिए अपने चाचा ये-शेस-ओद के ध्येय में जुट गया। परिणामस्वरूप दीपंकर श्रीज्ञान सन् 1042 में गुगे पहुँचे। चंग-छुब-ओद ने ही सन् 1042 में ताबो मठ का जीर्णोद्धार या पुनर्निर्माण किया।

चंग-छुब-ओद ने शासन अपने बड़े भाई ल्हा-इद-होद-इद (Lha-ide-Hod-ide) के सुपुर्द किया था। इसके शासनकाल में ही रिन-चेन-जंगपो सन् 989 में कश्मीर और भारत भ्रमण के बाद गुगे लौटा। ल्हा-इद-होद-इद ने विद्वानों की एक सभा बौद्ध धर्म ग्रन्थों के अनुवाद के लिए बनाई।

मौर्यकाल में (345 ई. पू.) सम्राट् अशोक के बाद सभी पहाड़ी जनपद स्वतन्त्र हो गए। त्रिगर्त, कुल्लूत, कुनिन्द, औदुम्बर, गन्धर्व, यौधेय सभी ने अपने राज्यों में चाँदी और ताम्बे के सिक्के चलाए। सम्राट् कनिष्क ने यहाँ पुनः बौद्ध धर्म का प्रचार करवाया। कुशाणों के बाद लगभग तीन सौ वर्षों तक यहाँ के जनपद स्वतन्त्र रहे।

गुप्तकाल (320 ई.)

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद भारत का स्वर्ण युग गुप्तकाल का उदय हुआ। चन्द्रगुप्त के बाद लगभग 340 ई. में समुद्रगुप्त ने राज्यों व जनपदों का एकीकरण किया। समुद्रगुप्त ने त्रिगर्त, औदुम्बर, कुल्लूत आदि को जीतकर अपने अधीन कर लिया। कुमारगुप्त प्रथम (425-455) के समय हूणों के आक्रमण आरम्भ हुए। कुमार-गुप्त के बाद स्कन्दगुप्त ने हूणों को रोके रखा किन्तु बाद में गुप्त शासन कमजोर हो गया। इसी बीच 525 ई. के लगभग हूणों के तोरमान के पुत्र मिहिरकुल ने आक्रमण कर दिया। मिहिरकुल हारने के बाद कश्मीर की ओर भागा। सम्भवतः कश्मीर तथा हिमालय का बहुत-सा भाग मिहिरकुल के अधीन था। हूणों के साथ-साथ गुज्जर भी आए जो पंजाब, सिन्ध तथा हिमालय में बसे।

इन आक्रमणों के फलस्वरूप गुप्त साम्राज्य का पतन और हिमालय में प्राचीन जनपदों के स्थान पर मैदानों से आए क्षत्रिय राजाओं ने छोटे-छोटे राज्य स्थापित किए।

कुल्लूत में मायापुरी के राजकुमार विहंगमणिपाल के पाल वंश, चम्बा के ब्रह्मपुर में मेरूवर्मन के वर्मन वंश, बुशहर में प्रद्युम्न के चन्द्रवंश, स्पिति में सेन वंश, काँगड़ा में कटोच वंश का शासन आरम्भ हुआ।

हर्षवर्धन (606-647) के समय चीनी यात्री ह्यूनसाँग ने कुल्लूत, ब्रह्मपुर, जालन्धर

(त्रिगर्त) का उल्लेख किया गया है। हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद हिमाचल में और नए राज्य स्थापित हुए। मण्डी तथा सुकेत में भी राज्य स्थापित हुए। 900 ई. के लगभग बुंदेलखण्ड के राजकुमार वीरचन्द ने बिलासपुर राज्य बनाया। 920 ई. में साहिलवर्मन ने चम्बा राजधानी बनाई। इस प्रकार 600 से 1000 ई. के बीच राजपूत काल में राजा, राणा और ठाकुरों का शासन रहा। आपसी संघर्ष के बावजूद मसरूर में शैल मन्दिर, मणिमहेश मन्दिर भरमौर, त्रिलोकीनाथ, शिव मन्दिर बैजनाथ, विश्वेश्वर महादेव बजौरा, महिषासुरमर्दिनी हाटकोटी, शिव मंदिर बलग जैसे मन्दिरों का निर्माण हुआ।

ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद गजनवी ने नगरकोट काँगड़ा पर धावा बोला। 1009 ई. की सर्दियों में महमूद गजनवी के आक्रमण के समय कटोच शासक जगदीशचन्द अपनी अधिकांश सेना के साथ दूसरी सीमा पर था। महमूद गजनवी के मंदिरों को तोड़ते हुए बड़ी तेजी से किले में घेरा डाल दिया और तीन दिनों के संघर्ष के बाद थोड़े से सिपाहियों ने हथियार डाल दिए। महमूद को नगरकोट की लूट से इतनी धनराशि मिली जिसे ऊँटों पर ढोया नहीं जा सकता था, बर्तनों में भरा नहीं जा सकता था। लेखाकार उसका हिसाब नहीं रख सकते थे, न ही गणितज्ञ कल्पना कर सकते थे। यह किला 1043 ई. तक महमूद के अधिकार में रहा।

1070 ई. में गजनी के सुलतान इब्राहिम ने जालन्धर पर अपना अधिकार कर लिया, जिससे त्रिगर्त शासकों का जालन्धर पर अधिकार समाप्त हो गया।

महमूद गोरी-पृथ्वीराज चौहान युद्ध (1192 ई.) में त्रिगर्त के शासक ने चौहान का साथ दिया। भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना पर चंदेल, चौहान, तोमर, सेन, राठौर, परमार, तनवार, पँवार आदि राजपूत तथा ब्राह्मण और वणिक लोग हिमाचल में आए।

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में नूरपुर, कुटलैहड़, जसवाँ, कुमारसेन, नालागढ़, कुनिहार, भंगाहल जैसे नए राज्य बने। सिरमौर में युवराज कर्मचन्द ने अलग राज्य बनाया। भंगाहल के वीरसेन ने सुकेत में सेन वंश की नींव रखी। वीरसेन के छोटे भाई गिरिसेन ने जुणगा में क्योंथल राजधानी बनाई । 1210 ई. में सिरमौर के राजा माल्हीप्रकाश ने अपना राज्य बनाया।

तुगलक वंश (1390-1441), लोधी वंश (1451-1526) आदि मुस्लिमों के आक्रमणों का अधिकांश प्रभाव काँगड़ा, नूरपुर, पठानकोट, नालागढ़, चम्बा, सिरमौर आदि राज्यों पर ही पड़ा। अन्य राज्य और ठाकुराइयाँ जैसे, कुल्लू, लाहुल-स्पिति, मण्डी-सुकेत, जुब्बल, क्योंथल, बुशहर, बाघल, बघाट आपसी वैर-विरोध में व्यस्त रहे।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में हरिपुर, गुलेर, सीबा, दतारपुर, शांगरी, थरोच छोटे-छोटे राज्य बने। राजा अजबर सेन ने 1527 ई. में मण्डी राज्य की स्थापना कर मण्डी शहर को राजधानी बनाया।

सम्राट् अकबर ने पहाड़ी राज्यों के मिलाने हेतु आक्रमण किए और नजराना वसूल किया। काँगड़ा किला, जिसे अकबर नहीं जीत सका था, जहाँगीर ने इसे जीतने का

अभियान 1615 ई. में छेड़ा। अब तक इस किले पर 52 आक्रमण हो चुके थे। मुगल सेना तीन बार आक्रमण कर हार गई। उस समय काँगड़ा का शासक हरीचन्द नाबालिग था, अतः राजमाता के भाई ने चम्बा से आकर सेना का नेतृत्व किया। चौथी बार मुगल सेना ने चौदह महीने तक घेरा डाले रखा। सैनिक घास खाने को विवश हुए। अंततः नवम्बर, 1620 में कटोच सेना ने आत्मसमर्पण किया। इसके बाद नवाब अलीखान प्रथम गवर्नर बना और काँगड़ा मुगलों के अधीन हुआ।

सत्रहवीं शताब्दी में ठियोग, मधान, अर्की, कोटी, घूंड, रतेश छोटी-छोटी रियासतें बनीं। इस ओर बुशहर के राजा केहरी सिंह (1639-1696) ने राज्य-विस्तार किया। ठियोग, कोटखाई, हाटकोटी, शांगटी आदि को अपनी अधीन किया। ल्हासा के साथ समझौता हुआ।

मुगलों की शक्ति क्षीण होने पर काँगड़ा के राजा संसारचन्द ने 1782 ई. में सिखों की कन्हैया मिसिल के जयसिंह की सहायता से बूढ़े मुगल गवर्नर नवाब सैफअली खान को आत्मसमर्पण पर विवश किया। किन्तु जयसिंह ने छल से किला अपने अधिकार में कर लिया। सिख मिसल की पंजाब में हार के समय 1786 में जयसिंह को काँगड़ा किला छोड़ना पड़ा और अंततः काँगड़ा किला कटोच वंश के शासक संसारचन्द के हाथ आ गया। संसारचन्द ने नदौन को राजधानी बनाकर मण्डी, सुकेत, कुल्लू, बिलासपुर, चम्बा को अपने अधीन कर लिया। 1804 ई. में पहाड़ी राजाओं ने नेपाल के अमरसिंह थापा को निमंत्रण दिया। 1806 में उसने महल मोरियाँ में संसारचन्द को हरा दिया। पहाड़ी राजाओं की सहायता से अमरसिंह ने काँगड़ा दुर्ग भी घेर लिया। संसारचन्द को सिक्खों से सहायता लेना पड़ी। रणजीतसिंह ने गोरखों को हराकर संसारचन्द से 1809 में काँगड़ा दुर्ग ले लिया। इस घटना के साथ पहाड़ी राज्य सिख शासन के अधीन हो गए।

सिख-अंग्रेज युद्ध में पहाड़ी राजाओं ने अंग्रेजों का साथ दिया। मार्च, 1846 की संधि के तहत पहाड़ी रियासतें अंग्रेजों के अधीन हो गईं। मण्डी, सुकेत, चम्बा के राजाओं को शिमला क्षेत्र के राजाओं की तरह राज्य लौटा कर आन्तरिक स्वायत्तता दी गई। लाहुल-स्पिति, कुल्लू, काँगड़ा, जसवाँ, गुलेर, नूरपुर, दतारपुर आदि राज्य छीनकर अंग्रेजी राज्य में मिला लिए गए।

1848 में काँगड़ा क्षेत्र के राजाओं ने मन्त्रणा की। नूरपुर के वजीर रामसिंह पठानिया ने विद्रोह कर दिया। रामपुर की अंग्रेज सेना से शाहपुर दुर्ग और 'राजा के डेरा' नामक स्थान में लड़ाई हुई। रामसिंह पंजाब भाग गया। 1849 में रामसिंह पठानिया ने पुनः अंग्रेज सेना से युद्ध किया। रामसिंह पकड़ा गया और सिंगापुर जेल भेज दिया जहाँ उसकी मृत्यु हो गई। इसके बाद काँगड़ा, कुल्लू, लाहुल-स्पिति को एक इकाई बनाकर डिप्टी कमिश्नर के अधीन कर दिया। मण्डी, सुकेत, बिलासपुर तथा चम्बा रियासतों में सिस-सतलुज स्टेट्स सुपरिन्टेंडेंट नियुक्त किया। 1850 ई. में बघाट के

राजा की मृत्यु होने पर उत्तराधिकारी न होने से राज्य छीन लिया गया। 1851 ई. में काँगड़ा के राजा प्रमोदचन्द की अल्मोड़ा जेल में मृत्यु हो गई। काँगड़ा, नूरपुर, जतोग, डगशाई, कसौली और सपाटू में ब्रिटिश सैनिकों की छावनियाँ मजबूत की गईं और 1857 तक पहाड़ी रियासतों पर मनमाने ढंग से अंग्रेजी शासन चलता रहा।

1857 की क्रान्ति और हिमाचल

मेरठ में आरम्भ क्रान्ति की खबर शिमला में 11 मई, 1857 को पहुँची जिसके फलस्वरूप जतोग, सपाटू, डगशाई और कसौली की देशी सेना ने अम्बाला की ओर कूच करने के कमाण्डर-इन-चीफ के आदेश को ठुकरा दिया। जतोग को नसीरी सेना ने जतोग छावनी और खजाने पर कब्जा कर लिया। विद्रोह से आतंकित यूरोपीय शिमला बैंक (वर्तमान ग्रैंड होटल) में जा छिपे। एक गोरखा सैनिक ने बाजार में एक अंग्रेज को मार दिया। अंग्रेजों ने जुणगा, धामी, कोटी, बघाट नरेशों के यहाँ शरण ली।

इंग्लैंड के समाचार-पत्रों ने इसे 'शिमला आतंक' और 'शिमला कत्लेआम' शीर्षक से छापा। डिप्टी कमिश्नर विलियम हेय ने लिखा है : "शिमला के अंग्रेज निवासी क्योंथल, कोटी, धामी, मशोबरा और बलसन के देशी राजाओं की शरण में जा पहुँचे। कुछ लोग डगशाई, सपाटू और कसौली की सैनिक छावनियों में ब्रिटिश सेना की सुरक्षा में चले गए। ...मैं इन यूरोपीय लोगों की शिमला से हड़बड़ी में भागदौड़ को रोक न सका।"

16 मई, 1857 को देशी सैनिकों ने विद्रोह की घोषणा कर कसौली में ब्रिटिश सेना पर धावा बोल दिया। खजाने पर कब्जा करके जतोग की ओर बढ़े किन्तु अंग्रेज सेना ने पीछे से धावा बोलकर इन्हें पकड़ लिया।

क्रान्ति की इस दौड़ में शिमला हिल्ज की जुब्बल, कोटगढ़, कोटखाई, बुशहर जैसी रियासतों ने भी अंग्रेजों से विद्रोह किया और उन्हें अपमानित किया। बुशहर रियासत ने अंग्रेज सरकार को पन्द्रह हजार रुपए का वार्षिक नजराना देना बंद कर दिया।

इस बीच यहाँ एक गुप्त संगठन भी बना जिसके नेता रामप्रसाद वैरागी थे। 12 जून, 1857 को इस संगठन के कुछ पत्र अम्बाला के कमिश्नर जी. सी. बार्नस् के हाथ लग गए फलतः रामप्रसाद वैरागी को अंबाला जेल में फाँसी दी गई।

मेरठ, दिल्ली तथा स्यालकोट में विद्रोह की सूचना काँगड़ा के डिप्टी कमिश्नर मेजर टेलर तथा दूसरे अधिकारियों को दी गई। ब्रिटिश पुलिस ने काँगड़ा किले पर अधिकार कर लिया। इससे क्रांतिकारी सिपाहियों द्वारा अंग्रेजों को मारने की योजना असफल हो गई। सुजानपुर टीहरा में राजा प्रतापचन्द ने क्रांति के लिए गुप्त मन्त्रणाएँ कीं। राजा ने डिप्टी कमिश्नर को सैनिक सहायता देने के इन्कार कर दिया। अतः टीहरा के कटोच थानेदार को बदलकर वहाँ मुस्लिम थानेदार लगा दिया। राजा प्रतापचन्द को महल में ही नजरबंद कर दिया। उधर काँगड़ा के मिशन स्कूल में सब ईसाइयों को खत्म

करने के इश्तहार लगा गए। इन घटनाओं को देखते हुए अंग्रेजों ने रावी, व्यास, सतलुज घाटों पर नाकाबंदी कर दी। 29 नाका चौकियों पर पैहरे बिठाए गए। अंग्रेज सरकार और सैनिकों के संघर्ष के बाद स्यालकोट की 9 लाइट कैवेलरी के सैनिक कमाण्डर बिग्रेडियर रमजान तथा हवलदार गुगादीन व पाँच अन्य को नूरपुर में फाँसी दी गई। धर्मशाला में छः लोगों को फाँसी दी गई। लगभग दो सौ क्रान्तिकारियों को जेलों में डाल दिया गया।

कुल्लू और लाहुल तक 1857 की क्रांति की लहर पहुँची। कुल्लू में विद्रोह की योजना राजा किशनसिंह के पुत्र युवराज प्रतापसिंह ने बनाई। प्रतापसिंह सिख-अंग्रेज लड़ाई में अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ते हुए घायल हो गया था। 16 मई, 1857 को प्रतापसिंह ने कुल्लू के सिराज में विद्रोह किया। प्रतापसिंह के साथ उसका साला मियाँ वीरसिंह बैजनाथ का रहने वाला था। इन दोनों ने सिराज के गाँवों से समर्थन लेकर हथियार इकट्ठे किए। गुप्त रूप से क्रान्तिकारियों ने लाहुल तक योजनाएँ बनाईं। एक क्रान्तिकारी के पकड़े जाने से गुप्त पत्र अंग्रेजों के हाथ लग गए। बंजार में सशस्त्र मुठभेड़ हुई, जिसमें प्रतापसिंह, वीरसिंह तथा दूसरे क्रान्तिकारी पकड़े गए। इन्हें भागसू जेल (धर्मशाला) में कैद कर दिया गया। प्रतापसिंह और वीरसिंह को 3 अगस्त, 1857 को फाँसी दी गई। सात क्रान्तिकारियों को 3 वर्ष से 14 वर्ष तक की कैद हुई।

इसी प्रकार नालागढ़ रियासत में पलौण के क्रान्तिकारियों द्वारा सैनिक गार्ड पर हमला किया गया। लगभग छः सौ सैनिकों ने नालागढ़ पर धावा बोलकर खजाना लूटा। नाहन में सिरमौर बटालियन ने अम्बाला की ओर चलने के आदेश को नहीं माना। मण्डी-सुकेत में अंग्रेजों के वफादार वजीर गोसाऊँ ने विद्रोह आरम्भ में ही दबा दिया।

स्वाधीनता संग्राम और हिमाचल

हिमाचल का स्थानीय आन्दोलनों के साथ-साथ राष्ट्रीय स्तर पर भी स्वाधीनता संग्राम में दखल रहा। यद्यपि यह प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से कटा हुआ और पिछड़ा था। तथापि स्वाधीनता आन्दोलन में सदा जागरूक और अग्रणी रहा। विधिवत् स्वाधीनता आन्दोलनों से पूर्व यहाँ 'दूम्ह' तथा जन-आन्दोलनों के माध्यम से विभिन्न रियासतों—मण्डी, सुकेत, बिलासपुर, बुशहर, नालागढ़ आदि में विद्रोह होते रहे।

कांग्रेस का जन्म शिमला में हुआ। ए. ओ. ह्यूम ने शिमला के रॉथनी कैसल में एक राष्ट्रीय संगठन की जरूरत महसूस करते हुए देश के जाने-माने नेताओं को पत्र लिखे। यहाँ से नवम्बर, 1884 में वे बम्बई गए। देश के कुछ भागों का दौरा करने के बाद ह्यूम ने शिमला में लार्ड डफरिन से बात की और राष्ट्रव्यापी संगठन की घोषणा की। नवम्बर, 1885 में पुनः भारत आने पर 28 दिसम्बर, 1885 को दोपहर बारह बजे गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कॉलेज के सभागार में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना की।

1895 में चम्बा में किसान आन्दोलन, 1909 में मण्डी में विद्रोह हुआ। 1921 में काँगड़ा के पंचमचन्द कटोच, नादौन के सर्वमित्र, काँगड़ा के लाला बाशीराम, भवारना के कृपालसिंह, टीहरा के सिद्धूराम, सुजानपुर के थोहलोराम ने कांग्रेस का प्रचार आरम्भ किया। इसी दौरान मण्डी के भाई हिरदाराम को काले पानी की सजा हुई और स्वामी कृष्णानन्द असहयोग आन्दोलन चला रहे थे। मण्डी की रानी ललिता कुमारी खैरागढ़ी ने भी इस आन्दोलन में भाग लिया। ऊना में बाबा लक्ष्मदास, सिरमौर में पं. राजेन्द्रदत्त और शेरजंग ने आन्दोलन सँभाला। मई, 1921 में शिमला में भी कांग्रेस का प्रथम संगठन बना। इस संगठन ने महात्मा गांधी का भव्य स्वागत किया, जब वे 23 मई, 1921 को शिमला पधारे। महात्मा गांधी के साथ मौलाना मुहम्मद अली, शौकत अली, लाला लाजपतराय, मदनमोहन मालवीय, लाला दुनीचन्द अम्बालवी भी थे। शिमला की ईदगाह में जलसा हुआ। जतोग के ज्योतिप्रसाद टूटू, कोटखाई के आत्माराम वकील ने नौकरियाँ छोड़ जन-जागरण का काम आरम्भ किया। कुनिहार के बाबू काँशीराम, कोटगढ़ के सत्यानन्द स्टोक्स ने बेगार के विरुद्ध झंडा उठाया। इस दौरान काँगड़ा तथा ब्रिटिश शासित शिमला में असहयोग आन्दोलन चलता रहा। रियासतों में शांति थी।

प्रजामण्डल आन्दोलन

'हिमालय रियासती प्रजामण्डल' शिमला की स्थापना दिसम्बर, 1938 में हुई जिसमें टिहरी के देव सुमन, बुशहर के पं. पद्मदेव, जुब्बल के भागमल सौहटा का विशेष योगदान था। इस आन्दोलन में भज्जी से भास्करानन्द, बाघल से हीरासिंह, मधान से देवीदास मुसाफिर, क्योंथल से देवीराम केवला, ठियोग से सूरतराम प्रकाश, बिलासपुर से सदाराम चंदेल, सम्मिलित हुए। 1939 ई. में सिरमौर तथा शिमला की पहाड़ी रियासतों में इन प्रजामण्डलों का दमन आरम्भ हो गया। रियासती शासकों ने कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारियों के साथ अपनी रियासतों में आने पर प्रतिबन्ध लगाया। इसी वर्ष काँगड़ा की ओर देहरा से बाबा काँशीराम, छगनराम सूद, ख्यालीराम आदि ने अंग्रेज सरकार का विरोध जारी रखा।

इस आन्दोलन में धामी गोली काण्ड एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई जिसके बारे में महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू के वक्तव्य समाचार-पत्रों में आए। 16 जुलाई, 1939 को भागमल सौहटा के नेतृत्व में हीरासिंह पाल, मनशाराम चौहान, पं. सीताराम, बाबू नारायणदास, भगतराम, गौरीसिंह आदि राणा से मिलने राजधानी हलोग गए। घणाहट्टी में रियासत की पुलिस ने भागमल सौहटा को हिरासत में ले लिया। लगभग हजार-डेढ़ हजार लोगों का समूह जब हलोग पहुँचने लगा तो राणा के सिपाहियों ने व पुलिस ने जुलूस पर पत्थर बरसाए और गोलियाँ चलाईं। अस्सी-नब्बे व्यक्ति घायल हो गए। इस घटना की जाँच के लिए पं. नेहरू ने अपने सचिव शान्तिस्वरूप धवन को यहाँ जाँच के लिए भेजा।

सन् 1942 में पझौता किसान आन्दोलन हुआ। जिसमें गिरि पार के जागरूक किसान एकत्रित हुए। गुलाबसिंह, चूँचूँ मियाँ, वैद्य सूरतसिंह, महीसिंह आदि ने 'लोटा लूण' किया और रियासती सरकार के सामने अपनी माँगें रखीं। महाराजा राजेन्द्र प्रकाश ने इन माँगों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। अतः किसानों ने विद्रोह कर दिया। 14 मई, 1943 को पुलिस ने दमनकारी नीति अपनाई और लूटपाट की। 11 जून, 1943 को फौज ने आन्दोलनकारी कलीराम के घर को आग लगा दी। इससे आसपास के कई लोग इकट्ठा हो गए। इस टकराव में मेजर एच. एस. बाम के बयान के अनुसार फौज ने छब्बीस राउंड फायर किए। जिससे एक व्यक्ति की मृत्यु हो गई, छः घायल हो गए। इसके बाद कुल 69 नेताओं को गिरफ्तार कर लिया और इस पर देशद्रोह के मुकदमे चलाए गए। इनमें 52 को काले पानी की सजा हुई, तीन को दो-दो वर्ष की कैद, 14 को बरी किया गया।

आजाद हिन्द फौज

हिमाचल का आजाद हिन्द फौज में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। इसमें यहाँ के लगभग चार हजार जवान थे। देहरा के लेफ्टिनेंट कर्नल मेहरदास, धर्मशाला के मेजर दुर्गामल, ऊना के कैप्टेन रामरत्नसिंह, नूरपुर के कैप्टेन खुशीराम, इन्दौरा के कैप्टेन चन्दरसिंह, दाड़ी के कैप्टेन दलबहादुर थापा, चढ़यार-पालमपुर के कैप्टेन बख्शी प्रतापसिंह, सुजानपुर टीहरा के कैप्टेन अमीचन्द आदि ने आजाद हिन्द फौज में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। लेफ्टिनेंट रैंक के हिमाचल से पचास से ऊपर ऑफिसर थे। आजाद हिन्द फौज की लड़ाई में देहरा के लेफ्टिनेंट कर्नल मेहरदास को 'सरदार-ए-जंग', चढ़ियार के बख्शी प्रतापसिंह को 'तमगा-ए-शत्रुनाश' उपाधि दी गई। हमीरपुर के लेफ्टिनेंट अमरचन्द को 'तमगा-ए-बहादुरी', ऊना के लेफ्टिनेंट सुखदेव चौधरी को 'वीर-ए-हिन्द', सरकाघाट के हरिसिंह को 'शेर-ए-हिंद' का खिताब दिया गया।

हिमाचल का गठन

भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्र हो गया किन्तु हिमाचल का गठन 15 अप्रैल, 1948 को हुआ। देश के स्वतन्त्र होने के बाद भी हिमाचल की प्रजा देशी रियासतों के अधीन रही, यद्यपि कई रियासतों में स्वाधीनता प्राप्ति का जश्न मनाया गया।

सर्वप्रथम प्रजामण्डल ठियोग ने राणा कर्मचन्द (ठियोग) को सत्ता छोड़ने पर विवश किया। यहाँ प्रजामण्डल के नेता सूरतराम प्रकाश मुख्यमन्त्री बने और देवीदास मुसाफिर केबिनेट सेक्रेटरी। डॉ. परमार कानूनी सलाहकार हुए। ठियोग के राणा को बाद में सरदार बल्लभभाई पटेल ने केंद्र से सहायता भेज नजरबंद कर दिया। मुख्यमंत्री सूरतराम प्रकाश ने केन्द्र द्वारा भेजे रीजनल कमिश्नर मि. प्रसाद आई. सी. एस. को ठियोग का प्रशासन सौंपकर केंद्र सरकार में सम्मिलित किया।

सुकेत, महलोग, सिरमौर आदि रियासतों में स्वाधीनता दिवस के अवसर पर खुशियाँ मनाने वाले नेताओं को गिरफ्तार किया गया। जुब्बल में डॉ. पट्टाभि सीतारामैया ने अपने सचिव वेंकटरमन को भेजा, जहाँ राजा जुब्बल को संवैधानिक अध्यक्ष और प्रजामण्डल के नेता भागमल सौहटा को मुख्यमन्त्री बनाया गया।

डॉ. यशवन्तसिंह परमार, पद्मदेव, भागमल सौहटा, सत्यदेव बुशहरी, शिवानन्द रमौल आदि नेता रियासतों में आन्दोलन करते रहे। मण्डी और सुकेत रियासतों ने ऐसे नेताओं को बाहर निकाल दिया।

सन् 1948 तक रियासती शासकों ने सत्ता छोड़ने का मन बना लिया। बघाट के राजा दुर्गासिंह, मण्डी के जोगेन्द्रसेन, शांगरी के रघुबीरसिंह, कुनिहार के राणा हरदेवसिंह, अर्की के कुँवर मोहनसिंह आदि 'रियासती संघ' या 'पहाड़ी प्रान्त' बनाने की योजना में लग गए।

4 जनवरी, 1948 को शिमला में प्रजामण्डल की एक बैठक में 'हिमाचल प्रान्त' बनाने का प्रस्ताव पारित किया गया। ऐसी दूसरी बैठक 13 जनवरी, 1948 को कोटगढ़ में हुई। तीसरी बैठक 19 जनवरी को रामपुर में हुई। इस घटना से रियासती शासकों की दमनकारी नीति में ढील आई। सिरमौर के महाराजा राजेन्द्र प्रकाश ने पझौता आन्दोलन के बीस कैदी रिहा किए। महलोग के राणा ने भी आन्दोलनकारी रिहा किए। मण्डी के स्वामी पूर्णानंद, पं. गौरीप्रसाद, केशवचन्द्र, कृष्णचन्द्र वैद्य, हीरासिंह आदि का आन्दोलन जारी रहा। 25 जनवरी को शिमला के गंज मैदान में एक विशाल सभा हुई जिसमें पुनः 'हिमाचल प्रान्त' का प्रस्ताव रखा गया। राजाओं ने 'पहाड़ी रियासत संघ' बनाने के प्रस्ताव के साथ 26 जनवरी, 1948 को सोलन में एक बैठक बुलाई। इस बैठक में 27 पहाड़ी रियासतों के प्रजामण्डल नेताओं ने भाग लिया। राजा दुर्गासिह के दरबार हॉल में हुई इस बैठक में रियासती संघ का नाम 'हिमाचल प्रदेश' रखा गया। गृहमन्त्री सरदार पटेल से सभी पहाड़ी रियासतों को इकट्ठा कर 'हिमाचल प्रदेश' बनाने का आग्रह किया गया। राजा दुर्गासिंह ने 25 पहाड़ी रियासतों को मिलाकर 'हिमाचल प्रदेश' बनाने और सत्ता छोड़ने की भी घोषणा कर दी।

16 फरवरी, 1948 को तत्तापानी, करसोग, पांगणा से सत्याग्रहियों के जत्थे सुन्दर नगर की ओर बढ़े। 25 फरवरी को इन्होंने सुन्दरनगर पर कब्जा कर लिया। दूसरे दिन केन्द्र सरकार की ओर से फौजी टुकड़ी भी आ पहुँची। सुन्दरनगर के राजा लक्ष्मण सेन दिल्ली चले गए। यहाँ अंतरिम सरकार बनी। सिरमौर के शिवानन्द रमौल इस सरकार के अध्यक्ष बने। रत्नसिंह, राधाकृष्ण, मुकुन्दलाल, काँशीराम सलाहकार बने।

2 मार्च, 1948 को केन्द्र की मिनिस्ट्री ऑफ स्टेट्स ने पंजाब तथा शिमला हिल्ज़ के शासकों की सभा में बिना शर्त विलय के लिए कहा। राजा बघाट दुर्गासिंह ने 'हिमाचल प्रदेश' में विलय का आग्रह किया। सचिव, सी. सी. देसाई ने यह प्रस्ताव नहीं माना, अतः दूसरे दिन सरदार पटेल से बातचीत की गई। पटेल ने इन्हें देशी राज्य सचिव

वी. पी. मेनन से मिलने को कहा। अंततः विलय-पत्र में 'हिमाचल प्रदेश' क्षेत्र केन्द्र के अधीन दर्ज हो गया। 8 मार्च, 1948 को शिमला हिल्ज़ की 27 पहाड़ी रियासतों के विलय से हिमाचल प्रदेश का गठन आरम्भ हुआ। ये रियासतें थीं—क्योंथल, कोटी, ठियोग, मधाण, घूण्ड, रतेश, बुशहर, खनेटी, देलठ, बाघल, बघाट, जुब्बल, रावीं, ढाडी, कुमारसेन, भज्जी, महलोग, बलसन, धामी, कुठार, कुनिहार, अर्की, मांगल, बेजा, दरकोटी, थरोच, शांगरी। इनमें रतेश सबसे छोटी रियासत थी, जिसका क्षेत्रफल दो वर्गमील था। जनसंख्या 542 और वार्षिक आय पाँच सौ रुपए।

14 मार्च, 1948 को मण्डी-सुकेत के शासकों द्वारा विलय-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए गए। चम्बा के शासक ने भी विलय स्वीकारा। 22 मार्च को वित्त सचिव, ई. पी. कृपलानी के सिरमौर आगमन पर दूसरे दिन 23 मार्च को सिरमौर रियासत भी हिमाचल प्रदेश में शामिल हुई। नालागढ़ (हण्डूर) का विलय पंजाब में हुआ।

इस प्रकार 27 रियासतों के बाद मण्डी-सुकेत, चम्बा, सिरमौर आदि तीस छोटी-बड़ी रियासतों के मिलने पर 15 अप्रैल, 1948 को हिमाचल प्रदेश का गठन हुआ। इन रियासतों में पंजाब हिल्ज़ स्टेट्स की दो (चम्बा तथा मण्डी-सुकेत) तथा शिमला हिल्ज़ स्टेट्स की अट्ठाईस रियासतें (बिलासपुर के अतिरिक्त) शामिल हुईं। सर्वप्रथम हिमाचल प्रदेश केन्द्र शासित 'चीफ कमिश्नर प्रोविंस' के रूप में अस्तित्व में आया। केन्द्र की ओर से एन. सी. मेहता प्रथम चीफ कमिश्नर और ई. पी. मून डिप्टी कमिश्नर बने। शिमला में राजधानी के साथ 27,018 वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र हिमाचल प्रदेश में आया।

रियासती प्रजामण्डलों के नेताओं को अब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में स्थान दिया गया। मई, 1948 में अस्थायी प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की स्थापना के बाद 6 जून, 1948 को कांग्रेस कमेटी की बैठक में डॉ. यशवन्तसिंह परमार को कांग्रेस का प्रेजीडेंट और बिलासपुर के संतराम कांगा को महामंत्री बनाया गया।

चीफ कमिश्नर के साथ स्थानीय नेता मात्र सलाहकार बने रहे। सन् 1951 में सलाहकार समिति से कांग्रेस के नेताओं ने त्यागपत्र दे दिया। चीफ कमिश्नर के विरोध में डॉ. यशवन्त सिंह परमार शीर्षस्थ नेता के रूप में सामने आए। पर्याप्त संघर्ष के बाद केन्द्र ने हिमाचल प्रदेश को 'पार्ट सी स्टेट' का दर्जा दिया और 1952 के प्रथम आम चुनावों के साथ यहाँ भी चुनाव करवाए गए। कांग्रेस पार्टी ने चारों लोकसभा सीटों के साथ 36 सदस्यों की विधानसभा में 28 सीटें जीतीं। 24 मार्च, 1952 को डॉ. यशवन्तसिंह परमार प्रथम मुख्यमंत्री बने। चीफ कमिश्नर की जगह मेजर जनरल हिम्मतसिंह उपराज्यपाल बने। हिमाचल प्रदेश के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना में 5.27 करोड़ रुपए के बजट प्रावधान के साथ प्रदेश में विकास आरम्भ हुआ। कोटगढ़, कोटखाई पंजाब के शिमला जिला की एक तहसील थी, जिसे 15 अप्रैल, 1950 को हिमाचल प्रदेश में मिलाया गया।

इधर अभी तक बिलासपुर के राजा आनन्दचन्द ने अपना स्वतन्त्र राज्य बचाया हुआ था। सदाराम चंदेल, दौलतराम सांख्यान, संतराम, नरोत्तम शास्त्री आदि ने सत्याग्रह जारी रखा था। अंततः पं. नेहरू द्वारा लोकसभा में घोषणा के फलस्वरूप प्रथम जुलाई, 1954 को बिलासपुर हिमाचल प्रदेश में मिलाया गया।

राज्य पुनर्गठन आयोग द्वारा हिमाचल को पंजाब में शामिल करने की सिफारिश की गई। इस संवैधानिक संघर्ष में हिमाचल का दर्जा 'पार्ट सी स्टेट' से घटाकर यूनियन टैरिटरी कर दिया गया। प्रथम नवम्बर, 1956 को यहाँ उपराज्यपाल की तैनाती हुई। 15 अगस्त, 1957 को टेरिटोरियल कौंसिल की स्थापना हुई।

1962 के चुनाव में टेरिटोरियल कौंसिल में कांग्रेस को बहुमत मिला। प्रथम जुलाई, 1963 को टेरिटोरियल कौंसिल को फिर से विधानसभा में बदला गया। डॉ. यशवन्तसिंह परमार दोबारा मुख्यमन्त्री बने।

प्रथम नवम्बर 1966 को केन्द्र ने काँगड़ा, कुल्लू, लाहुल-स्पिति, ऊना, शिमला, नालागढ़, डलहौजी, बकलोह के पहाड़ी क्षेत्रों को हिमाचल में मिलाकर विशाल हिमाचल का गठन किया। 1 जुलाई, 1970 में तत्कालीन प्रधानमंत्री, श्रीमती इन्दिरा गांधी की संसद में घोषणा के फलस्वरूप 25 जनवरी, 1971 को पूर्ण राज्यत्व की प्राप्ति हुई।

वर्तमान हिमाचल प्रदेश का क्षेत्रफल 55,673 वर्ग किलोमीटर है। 1991 की जनगणना के अनुसार 51.7 लाख जनसंख्या वाले इस प्रदेश में बारह जिले (काँगड़ा, हमीरपुर, ऊना, लाहुल-स्पिति, किन्नौर, सोलन, शिमला, सिरमौर, मण्डी, बिलासपुर, चम्बा, कुल्लू) हैं। क्षेत्रफल की दृष्टि से जिला लाहुल-स्पिति (13,835 वर्ग किलोमीटर) सबसे बड़ा और जनसंख्या की दृष्टि से जिला काँगड़ा (लगभग 11 लाख) सबसे बड़ा है। सबसे छोटा जिला हमीरपुर (1,118 वर्ग किलोमीटर) है किन्तु साक्षरता में सबसे आगे (74.88 प्रतिशत)। सबसे कम जनसंख्या (31,294) लाहुल-स्पिति की है। साक्षरता में सबसे पीछे जिला चम्बा (44.70 प्रतिशत) है।

शिलालेख एवं ताम्रपत्र

भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग (उत्तरी वृत्त) के अधीक्षक के नाते जे. पी. एच. वोगल ने तत्कालीन राजा भूरिसिंह के सहयोग से सन् 1902 से 1908 तक चम्बा की यात्रा कर एक सौ तीस शिलालेख ढूँढ़ निकाले।

वोगल ने अपनी भूमिका में चम्बा को तीन चौथाई सदी पहले तक 'अज्ञात' और 'अनन्वेषित' माना है। राजा भूरिसिंह को समर्पित वोगल द्वारा लिखित भारतीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा सन् 1911 में प्रकाशित 'एंटीक्वीटीज़ ऑफ चम्बा स्टेट' न्यू इम्पीरियल सीरीज खण्ड 36 है जो पुरातात्त्विक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है जिसे आज एक मानक अध्ययन के रूप में उद्धृत किया जाता है।

वोगल द्वारा सन् 1911 में चम्बा को तीन चौथाई सदी पहले तक 'अज्ञात' कहना इस दृष्टि से तर्कसंगत है कि गुलाम देश के गुलाम इलाके अपनी अद्वितीय पुरा सम्पदा के होते हुए भी अजाने रहे, क्योंकि कोई उन्हें सामने नहीं ला सका सिवाय यूरोपियनों के।

हमने अपने को विदेशियों की आँख से देखा है। उन्होंने कहा कि हमारी सभ्यता अति प्राचीन है, तभी हमें अहसास हुआ। ऐसी स्थिति में हम वोगल जैसे विद्वानों पर यह कटाक्ष भी नहीं कर सकते कि यूरोपीय यात्रियों के 'उल्लेख' से पूर्व चम्बा जैसा ऐतिहासिक स्थान था ही नहीं।

वोगल कहते हैं कि इस क्षेत्र का सबसे पहले उल्लेख यूरोपीय यात्री जार्ज फॉर्स्टर ने किया जिन्होंने 1783 में पंजाब हिल्ज की यात्रा के समय नूरपुर, बसोहली, जम्मू होते हुए चम्बा की पश्चिमी सीमा को मात्र छुआ था। इनके बाद विलियम मूरक्राफ्ट ने जुलाई, 1820 में काँगड़ा यात्रा के दौरान रावी के बारे में लिखा जो सही नहीं था क्योंकि वे स्वयं चम्बा नहीं आ पाए।

वास्तव में चम्बा आने वाले प्रथम यूरोपियन विगने थे जो फरवरी, 1839 में चम्बा आए। इन्होंने राजधानी चम्बा का ही वर्णन किया है, राज्य के अन्दरूनी भागों में ये नहीं गए। चम्बा की पुरातात्त्विक सम्पदा को अलेक्जेंडर कनिंघम ही सर्वप्रथम सामने लाये जो 1839 में ऊपरी रावी घाटी तक आए और पहली बार पुरातन राजधानी भरमौर और उसके मंदिरों का वर्णन किया।

पश्चिमी हिमालय में स्थित चम्बा राज्य तीन पर्वत-शृंखलाओं में विभक्त है। तीस से साठ मील लम्बी ये शृंखलाएँ एक-दूसरे के समानान्तर स्थित हैं। बाहरी शृंखला धौलाधार है जो 15,000 से 18,000 फुट तक ऊँची है। इसमें 8,000 से 15,000 फुट तक ऊँचे दर्रे हैं। जिनमें से गद्दी लोग आते-जाते हैं। दूसरी शृंखला पीर पंजाल है जिसमें 14,328 से 18,000 फुट तक ऊँचे दर्रे हैं। यह चम्बा को दो भागों में विभक्त करती है। तीसरी शृंखला जस्कर है जो 18,000 से 20,000 फुट तक ऊँची हैं। भीतरी हिमालय की यह शृंखला उत्तर-पश्चिम दिशा में चलती हुई लद्दाख को लाहुल-स्पिति से अलग करती है और चम्बा-लाहुल को छूती है। पांगी घाटी से भी ऊँचाई वाली ये शृंखला स्थायी ग्लेशियर लिए हुए है।

चम्बा राज्य की स्थिति के बारे वोगल तथा चम्बा गैजेटियर में दिए अंश कुछ भिन्नता लिये हुए हैं। चम्बा गैजेटियर में चम्बा राज्य उत्तर में $32^{0}10'$ तथा $33^{0}13'$ तथा उत्तर में $75^{0}45'$ तथा $71^{0}31'$ में स्थित बताया गया है। वोगल तथा गैजेटियर दोनों में ही इसका क्षेत्रफल 3216 वर्गमील माना है। ताजा सेटलमैंट के अनुसार (चम्बा गैजेटियर : 1963) क्षेत्रफल 2,467 वर्गमील है। 1961 की जनगणना में कुल जनसंख्या 2,10,579 थी, वोगल के समय (1911) 1,27,834 थी। 1991 की जनगणना के अनुसार चम्बा की जनसंख्या 3,93,286 है।

चम्बा राज्य की पाँच वजारतों में से भरमौर या गद्दियों का क्षेत्र गधेरन मुख्य और केन्द्रीय वजारत रही है। तीन वजारतें रावी घाटी में हैं, चौथी सीमान्त क्षेत्र व्यास घाटी में, पाँचवीं चन्द्रभागा में।

भरमौर वजारत पुरातन राजधानी भरमौर के नाम पर है जो बुधल नदी के बाएँ किनारे पर स्थित है। घाटी का निचला क्षेत्र भरमौर में लगभग दसवीं शताब्दी में जोड़ा गया। भरमौर के अतिरिक्त चम्बा और चुराह वजारत रावी घाटी में आती हैं। हाथीधार और धौलाधार के बीच व्यास घाटी में भटियात का क्षेत्र है। यह क्षेत्र बहुत उपजाऊ और घनी आबादी वाला है।

चन्द्रभागा घाटी में पांगी और जस्कर शृंखलाओं के बीच लगभग पैंतीस वर्गमील का क्षेत्र चन्द्रभागा के साथ-साथ लाहुल की ओर थरोट नाला और जम्मू की ओर संसारी नाला तक चलता है। इस क्षेत्र को जस्कर शृंखला दो भागों में बाँटती है। लगभग 21,000' ऊँची शृंखलाएँ दक्षिण-पश्चिम में सेचू और मियाड़ नाले के बीच चलती हुई तिंदी तक जाती है। उत्तर-पश्चिम में रोहली से गनौर नाले तक पांगी है, दक्षिण-पूर्व में रौहली से थरोट तक चम्बा-लाहुल है। चन्द्रभागा वजारत में पांगी और चम्बा-लाहुल आते हैं।

भरमौर में महत्त्वपूर्ण शिलालेख

चम्बा की प्राचीन राजधानी ब्रह्मपुर (भरमौर) में लक्षणा देवी, गणेश तथा शिव

मन्दिर के प्रांगण में खड़े नंदी के आधार में महत्त्वपूर्ण शिलालेख हैं। जे. पी. एच. वोगल ने इन शिलालेखों का विस्तृत वर्णन किया है।

भद्रकाली लक्षणा देवी

लक्षणा देवी की अद्वितीय मूर्ति महिषासुरमर्दिनी के रूप में है। मूर्ति 3'-4" है और इसका आधार 9"। देवी का दायाँ पाँव महिषासुर को दबाए हुए है। दाएँ हाथ से उसका सिर त्रिशूल से दबा रखा है जबकि बाएँ हाथ से महिषासुर की पूँछ उठा रखी है जिससे उसका धड़ ऊपर उठा हुआ है। तीसरे दाएँ हाथ में तलवार है और चौथे बाएँ हाथ में घण्टा।

त्रिशूल जो शिव का शस्त्र है, देवी का भी। यह इन्द्र के वज्र के समान है। गधेरन में देवी के मन्दिरों में त्रिशूल चढ़ाया जाता है। घण्टी शत्रुओं को भयभीत करने की प्रतीक है।

लेख : मूर्ति के आधार पर 18 $\frac{1}{2}$" तथा 17 $\frac{1}{4}$" लम्बी दो पंक्तियों में है। अक्षरों का आकार लगभग $\frac{3}{8}$" से $\frac{1}{2}$" है। उत्कीर्णन व्यवस्थित ढंग से किया गया है। यह कार्य मेरूवर्मन के आदेश से कारीगर गुग्गा द्वारा किया गया है।

अनुवाद

ओं मूषूणगोत्रोद्भव सूर्यवंशी श्री आदित्य वर्मदेव के प्रपौत्र श्री बल वर्मदेव के पौत्र तथा श्री दिवाकर वर्मदेव के पुत्र श्री मेरूवर्मा ने पुण्य वृद्धि हेतु लक्षणा देवीजी की मूर्ति का गुग्गा मिस्त्री से निर्माण करवाया।

गणेश

गणेश की मूर्ति 3' ऊँची है और आधार 14 $\frac{1}{2}$"। मूर्ति की दोनों टाँगें टूट चुकी हैं किन्तु आधार में कमलदल के अवशेष अभी भी हैं। कमर में बाघचर्म और शरीर में सर्प धारण किए हुए गणेश की तीन आँखें और चार हाथ हैं। आधार में सिंहासन के प्रतीक एक जोड़ी सिंह हैं। बीच में हाथी के कानों वाली आकृति है जिसके ऊपर लेख है।

गणेश की यह मूर्ति कलाकार गुग्गा की अद्वितीय कृति है जिसमें गणेश की अद्भुत छवि दिखाई गई है।

लेख : मूर्ति के आधार में चार पंक्तियों का लेख है। पंक्तियों की लम्बाई बराबर न होकर 13" से 5 $\frac{3}{4}$" तक है। चौथी पंक्ति दो भागों में है। अक्षर $\frac{1}{4}$" से $\frac{3}{8}$" तक हैं। लिखावट साफ-सुथरी है। लेख की सामग्री लगभग वही है जो लक्षणा देवी के लेख में है।

अनुवाद

ओं गणपति जी को प्रणाम। मूषणगोत्रोद्‌भव आदित्यवंशी श्रीमान आदित्य वर्म-देव के प्रपौत्र श्री बल वर्मदेव के पौत्र और श्री दिवाकर वर्मदेव के पुत्र महाराजाधिराज श्री मेरूवर्मा ने कार्मिक गुग्गा के द्वारा इस पवित्र उपद्वार का निर्माण करवाया।

नन्दी

मणिमहेश मन्दिर भरमौर के प्रांगण में खड़े नंदी की ऊँचाई 5' है और इसका आधार 13" है। नंदी की पूँछ, कान और घण्टी क्षतिग्रस्त हैं। लोकास्था है कि यह क्षति बाहरी आक्रमणकारियों द्वारा की गई किन्तु इन आक्रमणों की पुष्टि नहीं होती। आक्रमणकारी मुसलमान न होकर यारकन्द से आए बताए जाते हैं। मेरुवर्मन के पौत्र लक्ष्मीवर्मन के समय कीरों के आक्रमण की बात वंशावली में है जिसमें राजा की मृत्यु हो गई थी। इस आक्रमण का सम्बन्ध मूर्तियों की क्षति से जोड़ना युक्तिसंगत नहीं है।

लेख : लेख $3\frac{1}{2}$" लम्बी दो पंक्तियों में है। तीसरी पंक्ति में कलाकार का नाम है। अक्षर लगभग $\frac{1}{2}$" आकार में है। लेख लिखने वाले ने कलाकार की तुलना में कम संतोषजनक कार्य किया है क्योंकि लेखक को संस्कृत का ज्ञान पूरा नहीं था। व्याकरण का अल्पज्ञान होने से इसे समझ पाना भी आसान नहीं है। लेख से पता चलता है कि मेरुवर्मन ने मन्दिर का निर्माण करवाया जो मेरु पर्वत के समान था। यह निश्चित नहीं है कि यह शिखर शैली का मन्दिर मेरुवर्मन ने बनवाया हो। सम्भव है यह मन्दिर पहले लक्षणा देवी मन्दिर की शैली में ही रहा हो, बाद में इसे शिखर शैली में पुनर्निर्मित किया गया।

अनुवाद

ओं। अपने अनेक शुभ कर्मों के साथ-साथ हिमालय के ऊपर मेरु पर्वत के समान एक ऊँचे प्रासाद (देव मन्दिर/राजभवन) का निर्माण किया। इसमें एक नयनाभिराम चन्द्रशाला का भी निर्माण कराया गया जो पूर्व दिशा की ओर थी तथा अनेक मण्डपों से वह सुसज्जित थी एवं अनेक चित्रों से शोभित।

उसके आगे एक सुन्दर नंदी (बैल) की मूर्ति की स्थापना की गई। यह वृषभ, जो पुष्ट देह, ऊँची कुकुद और स्थूल भरे हुए मुँह वाला है, भगवान् शंकर का वाहन है। अपने माता-पिता तथा अपने आध्यात्मिक लाभ हेतु चारों समुद्रों तक जिनकी कीर्ति फैली हुई है उन श्री मेरु वर्मा ने इसका निर्माण कराया शिल्पी गुग्गा के द्वारा।

भरमौर शिलालेख

भरमौर से लगभग दो किलोमीटर पीछे जहाँ ब्रह्माणी नाला सड़क से होकर नीचे उतरता है, एक ओर चट्टान को काटकर शिवलिंग, देवी-देवताओं के चित्र खुदे हैं। नंदी के आगे खड़े शिव, गणेश, महिषासुरमर्दिनी के रूप में चतुर्भुजी देवी की मूर्तियाँ चट्टान उकेर कर बनाई गई हैं।

चट्टान में खुदी तीनों मूर्तियाँ वही हैं जो मेरुवर्मन द्वारा भरमौर में 700 ई. के लगभग बनवाई गईं। शिवलिंग भी भरमौर में स्थापित शिवलिंग की भाँति है। केवल नृसिंह प्रतिमा यहाँ नहीं है। भरमौर में भी नृसिंह मंदिर लगभग ढाई सौ वर्ष बाद बना। इन मूर्तियों में भी नृसिंह प्रतिमा न होने के आधार पर वोगल ने शिला-प्रतिमाओं (Rock-cut-figures) को 700 से 950 ई. के बीच माना है।

इन शिला-प्रतिमाओं के ऊपर वाली चट्टान में, जो एक दरार से विभाजित है, तिब्बती भाषा में शिलालेख है। तीन फुट दस इंच लम्बी पंक्ति में मोटे अक्षरों में लिखे इस लेख को ए. एच. फ्रैंक ने 'गरुड़ भगवान् का महिमामय अनुज राजकुमार' पढ़ा। फ्रैंक ने 'गरुड़' नाम से एक राजवंश का उल्लेख भी किया है। फ्रैंक के अनुसार यह लेख प्राचीनतम लेखों में एक हो सकता है जो 700 से 900 ई. का रहा होगा। तिब्बत के राजकुमार का उल्लेख भरमौर पर तिब्बत की विजय के समय से जोड़ा जाता है। राजा लक्ष्मीवर्मन के समय कीरों द्वारा विजय को तिब्बत द्वारा विजय से सम्बन्धित मान फ्रैंक ने इसके उस समय की होने की सम्भावना प्रकट की है।

छतराड़ी का लेख

शक्तिदेवी छतराड़ी

शक्तिदेवी छतराड़ी की चतुर्भुजी मूर्ति 4'6" ऊँची है। लक्षणा देवी की तरह मुख्य आयुध त्रिशूल न होकर 'शक्ति' है। दूसरे दाएँ हाथ में कमलदल है। दोनों बाएँ हाथों से घण्टी तथा साँप है। देवी कमल के ऊपर खड़ी है, जिसमें लेख का उत्कीर्णन हुआ है।

लेख : मूर्ति के आधार में 13" लम्बी दो पंक्तियों में लेख है। कलाकार का नाम 3" की अलग पंक्ति में दिया गया है। लिखावट का उत्कीर्णन भरमौर के लेख से निम्नकोटि का है। अक्षरों का आकार $\frac{3}{8}''$ से $\frac{1}{2}''$ है। भरमौर के नंदी वाले लेख की भाँति इस में भी व्याकरण की अशुद्धियाँ हैं।

अनुवाद

विशुद्ध कुलप्रसूतों में अग्रणी श्री देववर्मा की कीर्ति सर्वत्र फैली थी। उनके पुत्र श्री मेरू वर्मा सर्वगुण-सम्पन्न तथा पृथ्वी पर प्रख्यात थे। उन्होंने अपने माता-पिता की तृप्ति के लिए तथा अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के बाद अपनी भक्ति को माँ

शक्ति के चरणों में प्रकट करने के लिए, जिनकी कृपा से उन्हें विजय मिली, गुग्गा कार्मिक के द्वारा माता की मूर्ति का निर्माण करवाया।

युगाकरवर्मन का भरमौर ताम्रपत्र लेख

यह ताम्रपत्र $13\frac{1}{2}''$ चौड़ा $8\frac{1}{4}''$ ऊँचा है और अक्षरों का औसत आकार $\frac{3}{16}''$ है। ताम्रपत्र में उन्नीस पंक्तियाँ हैं। दाएँ हाशिए में भी ऊपर से नीचे कुछ लिखा हुआ है। पत्र के चारों कोने टूटे हुए हैं जिसमें कुछ अक्षर मिटे हुए हैं। निचले कोनों में अन्तिम दो पंक्तियों के पहले चार अक्षर मिटे हैं। चौदहवीं पंक्ति के अक्षर और उन्नीसवीं के नौ अक्षर मिटे हैं।

ताम्रपत्र का आरम्भ शिवस्तुति से होता है। आगामी पंक्तियों में युगाकरवर्मन और उनके माता-पिता साहिल और नीना का नाम है। जिस पंक्ति में दान या अनुदान का उल्लेख है, वह स्पष्ट नहीं है।

ताम्रपत्र में 'ब्रह्मपुर' का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। 'चम्पक' खणी तथा अन्य गाँवों के नाम भी ध्यान आकर्षित करते हैं।

ताम्रपत्र की भाषा अशुद्ध है। अधिकतर अशुद्धियाँ सम्भवतः उत्कीर्ण करती बार हुई होंगी। उत्कीर्णकार ने कुछ अक्षर छोड़ दिए या गलत लिखे।

मृकुला देवी स्लेट लेख

मृकुला में 1907 में मिस जे. इ. डंकन ने एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक लेख ढूँढ़ा। यह लेख स्लेट पत्थर में है। इस लेख में मास्कुल मठ का उल्लेख है। जिससे सिद्ध होता है कि किसी समय वहाँ बौद्ध मठ था। ए. एच. फ्रैंक ने उल्लेख किया है कि ब्रिटिश लाहुल में बौद्ध लोग मृकुला तथा त्रिलोकीनाथ दोनों स्थानों की यात्रा करते थे। फ्रैंक के अनुसार यह लेख तीन सौ वर्ष पुराना नहीं है।

चामुण्डा (देवी री कोठी) लेख

बैरागढ़ के समीप 7,705 फुट की ऊँचाई पर चामुण्डा देवी के मंदिर में सुन्दर काष्ठकला के अतिरिक्त टाकरी में लेख है। मंदिर राजा उमेदसिंह द्वारा सन् 1754 में बनाया गया।

मूल पाठ

सं. 30 भद्रो प्र 21 नगअत अथ जे स्त्री-माहरजे उमेद सींघे स्त्री-देवी चमुंडा दा देहार पाय देहारे दा सीरदार स्त्री-मीअ बीसन सींघ हाजरी नील्हेड़ी घया सुगलाल झगड़ त्रखाण गुदेव झड़ा बटेहेड हेतु देबु गठीर द्यल पोह प्र 21 समत लीख्य सुभ।

शुद्ध पाठ

सं. भाद्रो प्र लगायत अथ जे श्री-महाराजे उमेद सिंघे श्री-देवी चामुंडा दा देहरा पाया। देहरे दा सरदार श्री मियाँ बिसन सिंघ। हाजरी निलेड़ी छंयां सुगलाल झगड़ु। त्रखाण गुरदेव झंडा। बल्हेड़ा हैलु देबु गठीर द्याल। पोह प्र 21 संवत् लिख्या।शुभ॥

TRANSLATION

In the year 30 (the month of) Bhadre 21, on that date the illustrious Maharaja Umed Singh has built the temple of the goddess Chamunda. The Superintendent (Sardar) of the temple the illustrious Miyan Bisan Singh, the stewards, Ghamyam the Nilheri and Jhagru of Sungal, the carpenter Gurdev and Jhanda, the stone masions Debu of Hail and the cela (?) Dyal. Written on the 29th of Poh. Bliss !

मिंधल माता लेख

साच परगने में चन्द्रभागा नदी के बाएँ किनारे स्थित मिंधल माता मंदिर का लेख भूरिसिंह संग्रहालय चम्बा में है। यह लेख साढ़े सात इंच लम्बा और साढ़े दस इंच चौड़ा है जिसमें तख्ती-सा हैंडल भी लगा लगा हुआ है। लेख के बाएँ किनारे,ऊपर की ओर 'सही' लिखा हुआ है जो देवनागरी में है। लेख में कुल इक्कीस पंक्तियाँ हैं। ये कुछ संस्कृत में और कुछ चम्बयाली में लिखी हुई हैं। लिखने वाले का नाम लक्ष्मीकांत है।

वैशाख शुक्ल अष्टमी विक्रमी सम्वत् 1698 का लिखा यह लेख 8 अप्रैल, 1641 का बैठता है। इसके अनुसार राजा पृथ्वीसिंह ने मिंधल गाँव में प्रजासहित देवी चामुण्डा को दे दिया।

वोगल का मानना है कि पृथ्वीसिंह ने कुल्लू से आते हुए देवी की पूजा-अर्चना की है और यह भूमि दान की। सम्भवतः राजा पृथ्वीसिंह कुल्लू से चम्बा जा रहा था। पृथ्वीसिंह, जो मण्डी में था, कुल्लू होता हुआ रोहतांग से पाँगी और चुराह के रास्ते चम्बा पहुँचा। यहाँ 1641 की गर्मियों में नूरपुर के अधिकारियों को निकाल राज्य सँभाला।

मूल पाठ

सही

ॐ स्वस्ति श्रीगणेशाय नमः॥ श्रीमद्विक्रमार्कसंवत्सरे 1698 (ll.2-4) वैशाखमासे शुक्लपक्षे तिथौ व ष्टम्यां श्रीरामराम etc. (l.5)····श्रीपृथ्वीसिंहवर्मण (l.6)

पाडीमंडल मध्यतो मिंधलाख्यो ग्रामस्सीमः प्रजसहितः श्रीभग (1.7) वतीचामुंडाप्रीतये संप्रदत्तस्तदनेन ससंतानेनानचन्द्रसूर्यध्रुव (1.8) ब्रह्मांडस्थितिपर्यंतमुपभुंजनीयो यः कश्चिन्मम वंशयो वा अन्यो (1.9) वापहर्ता स्यात्स दंड्यो वद्धयो नरकपाती स्यात् ॥ अथ भाषा ॥ ग्राम (1.10) इक मिंधल सीमाये प्रजे समेत श्री चामुण्डा की श्रीमहाराजे पृ (1.11) थ्वीसिंहे कुलूरे चामुंडाये दे वैशाख प्र 21 आइ पूजी संकल्प करी दिता (1.'2) एह श्री राजे दा धर्म श्रीराजे तथा राजे दे पुत्रे पोत्रे अगे पालणा (1.13) मिंधले दे प्रज कने बंधेज शाख त्रीपाले डन दथर अ इ दे गा- (ll.14-15) धे धारे दा होढा देणा। साधारोयं etc. (1.16) दयोड बाजो री (1.17) वजीरी मंझ शासण दिता लिखितं पंडित ल (क्ष्मी) कांतेन ॥ (1.18) शस्त्रसंवत् ॥ (1.19) 17 (1.20) शुवर्णकार अर्ज- (1.21) ण जीवनशुत ॥

TRANSLATION

Approved.

(L.1) Om. Hail! Obseance to the holy Ganesa! In the year 1698 of the illustrions Vikramarka, the month of Vaisakha, the bright fortnight, on the 8th day, the illustrious P.M. Prithvisimhavarman has donated the the village called Minidhala, with its *(fixed)* boundaries, together with its inhabitants, in the Pangi *Mandala*, to the holy divinity Chamunda, out of devolion to her.

(L.7) That is to be enjoyed, etc. (as usual).[2]

(L.10) Now the *bhasha*! One village *(called)* Mimdhala, with its *(fixed)* boundaries, together with its inhabitants, has been donated by the illustrious king Prithvisimha, with libation of water, to Chamunda, on tse 21st day of Vaisakha when he came form Kulu to *(the temple of)* Chamunda and worshipped her.

(L.12) This pious gift of the illustrious king is in future to be preserved by the illustrious king as well as by the sons and grandsons the king.

(L.13) The People of Mimdhala are pledged to....A ram is to be given as dues *(for grazing sheep and callte)* on the Gadha Dhar.

(L.14) (Here follows one customary verse.)

(L.16) This grant has been given in the *Vajiri* of Dayoda Baje.

(L.17) *(This)* has been written by *Pandit* Lakshmikanta.

(L.18) The Sastra year 17.

(L.20) The goldsmith Arjana, son of Jivana *(has engraved this)*.

अनुवाद

ओं कल्याण हो श्री गणेश जी को प्रणाम। 1698 विक्रमी के वैशाख मास के पक्ष की अष्टमी के दिन सुपुत्र श्री पृथ्वीसिंह वर्मा ने पांगी जिला के मध्य से मिंधल ग्राम की जितनी सीमा है उसे प्रजा सहित श्रीभगवती चामुण्डाजी के लिए प्रदान किया। जब तक चन्द्र, सूर्य और ध्रुवतारा है तथा जब तक ब्रह्माण्ड की स्थिति है तब तक चामुण्डा के उपयोगार्थ है, मेरा कोई भी वंशज अथवा अन्य कोई भी इसका उपभोग या अपहरण करेगा तो वह दण्डनीय होगा, वध्य होगा और नरकगामी होगा।

लुज पनघट शिलालेख

धरवास (पांगी) से लगभग दो किलोमीटर दूर लुज गाँव का पनघट शिलालेख चार फुट ऊँची और छः फुट चौड़ी शिला के बीच खुदे कमलदल के नीचे है। शिला में एक ओर गणेश और दूसरी ओर सम्भवतः वरुण की प्रतिमाएँ हैं। दोनों ओर नाग भी अंकित हैं। लेख में चौदह इंच लम्बी पाँच पंक्तियाँ हैं। एक छोटी पंक्ति तीन इंच की है। अक्षरों का आकार आधे से पौना इंच है। लेख की भाषा अशुद्ध संस्कृत और स्थानीय है।

यह शिलालेख 'भाटलौ' व 'भटागिरी' के पुत्र नागरा द्वारा बनवाया गया। लोकश्रुति है कि यह धरवास के एक राजस्व अधिकारी, जो ब्राह्मण था, ने बनवाया। भाटलौ, राजा पृथ्वीसिंह (1671) की धाय का पुत्र भी हो सकता है। लेख में महत्त्वपूर्ण वह तिथि है जिससे राजा 'जासठ' के राज्यारोहण तिथि का पता चलता है।

मूल पाठ

ओं स्वस्तिः । सं. 8 । श्री-महाराजा-जासठ-प्रथम-वर्श (1.2) थापित। तत्र काले भाटलौ-भटगिरी-सुत। नागरा। म-(1.3) हापुजा। पलौकार्थ वरुण-देव थापितं। इदं भोग्या नाना भो-(1.4) कण समुत्पन्य। पोश-मासे थापितं इति शुभं॥ बाढ़ाई कंलोणे (1.5) सतधर देव-पुत्र-देव। महाप्रजा। जोदं धानिकं समुत्पन्य (1.6) मुल द्र 20 (या 30)

अनुवाद

Hail! Evected in the year 81, in the first year of illustrious Maharaja Jasata. At that time Nagara, the son of Bhatalau and Bhatagiri (and the) people (of the village?) (have) erected a fountain stone (lit. God Varuna) for the sake of the next world. This is to be used (or useful?) various enjoyment (or foods?) have been provided (?). Erected in the month of Posa (Skn Pausa) Thus

(May it be) blessed! The carpenter Kamlone, the stone mason Deva, the son of Deva, (and the) people (of the village) grain (?) has been supplied (?) price 20 (or 30) Dramas.

सेहली पनघट शिलालेख

विभिन्न देवी-देवताओं की अनुकृतियों से अलंकृत सेहली (पांगी) का पनघट शिलालेख वोगल के अनुसार अपनी तरह का सबसे बड़ा शिलालेख है। साच से लगभग दस किलोमीटर सेहली की यह शिला छः फुट, छः इंच ऊँची और सात फुट चौड़ी है। इस पनघट शिला में आकर्षक मूर्तियाँ तीन पंक्तियों में हैं। सबसे नीचे की पंक्ति में चार, ऊपर की दो पंक्तियों में पाँच मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। पनघट शिला का पानी का स्रोत्र अब सूख गया है। ग्लेशियर के गिरने से इसका निचला भाग टूट गया है और ऊपर का दायाँ कोना भी टूटा हुआ है। वोगल द्वारा टूटे टुकड़ों को ढूँढ़ कर शिला में ही सहारा देने हेतु लगाए जाने का उल्लेख है।

शिलालेख में अलग-अलग प्रकोष्ठों में अलग सुन्दर मूर्तियाँ उकेरी हैं और शिलालेख के अतिरिक्त प्रत्येक मूर्ति के नीचे भी इसका नाम लिखा गया है।

सबसे ऊपर की पंक्ति में सभी मूर्तियाँ चतुर्भुजी और बैठी हुई मुद्रा में हैं। ललितासन में बैठे देवताओं के वाहन चरणों में है।

ऊपर की पंक्ति में सबसे पहले गणेश विराजमान हैं। गणेश अपने वाहन चूहे पर विराजमान न होकर सिंह पर बैठे हैं। इनके हाथों में पुष्प, फरसा है। एक हाथ में मिठाई है जिसे वे सूँड़ से खा रहे हैं। नीचे गणाधिपति लिखा है जिसका 'ग' टूट गया है। अंत में शिव के दूसरे पुत्र स्कन्द कार्तिकेय हैं। यह अपने वाहन मोर के ऊपर विराजमान हैं। इनके हाथों में त्रिशूल, पुष्प आदि हैं।

बीच में शिव हैं, नंदी पर विराजमान। त्रिमुखी शिव की चार भुजाओं में त्रिशूल, पुष्प आदि हैं। नीचे 'लोकपाल ईशान' लिखा है। शिव के दोनों ओर लोकपाल वरुण तथा लोकपाल देवराज इन्द्र हैं। वरुण घोड़े पर सवार हैं और हाथों में अंकुश, पद्म, गदा और शंख लिये हुए हैं। चतुर्भुजी इन्द्र के हाथों में वज्र, तलवार आदि हैं।

दूसरी पंक्ति के बीच की मूर्ति आसपास की मूर्तियों से बड़ी है जो विष्णु प्रतिमा है। शेषनाग का फन नमस्कार मुद्रा में है, शेष शरीर सर्प का है। विष्णु के तीन मुख हैं। चतुर्भुजी विष्णु के हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म हैं। विष्णु के सामने लक्ष्मी चँवर झुला रही हैं। मूर्ति में 'शेष शय्या' लिखा है।

विष्णु के दोनों ओर दो-दो नारी प्रतिमाएँ हैं। एक के हाथ में घट-कलश और दूसरी के कमलदल। ये चारों आकृतियाँ एक-सी हैं किंतु इनके साथ अलग-अलग पशु दिखाए हैं। ये सभी जल देवियाँ हैं। विष्णु के दाएँ-बाएँ की पहली देवियाँ गंगा-यमुना हैं। दूसरी देवियाँ वितस्ता तथा सिन्धु हैं।

तीसरी पंक्ति के देवता आधे टूट चुके हैं। जिसकी आकृतियाँ ऊपर वाली से छोटी हैं। एक लेख में 'व्यास' हैं, दूसरी में शतद्रु। बीच की आकृतियाँ पूरी टूट चुकी हैं। सम्भवतः ये रावी और चन्द्रभागा हो सकती हैं।

इन जलदेवियों से 'पंचनद' की भूमि का स्मरण हो जाता है। जलस्रोत के साथ इन नदियों का स्मरण एक विशाल दृष्टिकोण का परिचय देता है। पनघट शिला के सभी पत्थर बेहतरीन घड़े हुए हैं और गान्धार की बौद्ध कला के स्तूपों की भाँति हैं।

शिलालेख की दो पंक्तियाँ पूरी शिला में फैली हुई हैं और छः फुट साढ़े छः इंच हैं। तीसरी पंक्ति पाँच फुट साढ़े सात इंच है। अक्षरों का आकार आधा इंच है। शिलालेख की भाषा अशुद्ध है। दूसरी पंक्ति में शिलालेख की तिथि है।

स्तुति के बाद दूसरी पंक्ति के पहले भाग में तिथि—ललितवर्मन के राज्यकाल के सम्वत् 27 और शास्त्र सम्वत् 46 है। ललितवर्मन का कार्यकाल सन् 1143 से आरम्भ होता है। अतः इस लेख का समय सन् 1170 माना गया है। दूसरी पंक्ति के दूसरे भाग में स्थानीय अधिकारियों के नाम दिए गए हैं। अधिकारियों में से दो को 'शेगाण' कहा गया है जो सम्भवतः तिब्बती मूल के शब्द हैं। पहला शेगाण कालू है जिसे 'पांगती' या पांगी कहा गया है। दूसरा अधिकारी प्रतिहार नेणकु है। इसके बाद दण्डवासिक कुतुक और अंतिम शेगाण शिरिक।

'शेगाण' को ए. एच. फ्रैंक ने कस्टम अधिकारी या कर-अधिकारी माना जो तिब्बती सोगम्पा के करीब है। दण्डवासिक पुलिस अधिकारी हो सकता है।

अंतिम पंक्ति में इस जलस्रोत की स्थापना राणा लुद्रपाल की पत्नी रानी देल्ही द्वारा करवाए जाने का उल्लेख है। जलस्रोत की स्तुति के बाद कायस्थ सेख और दो मूर्तिकारों सहज और गुग्गा का नाम आता है।

पहाड़ी रियासतें

पंजाब की पहाड़ी रियासतें (पंजाब हिल स्टेट्स)

(हचिसन वोगल की सूची)

1. काँगड़ा (नगरकोट) (शाखाएँ : गुलेर, जसवाँ, सीबा, दतारपुर, नूरपुर), 2. चम्बा 3. सुकेत 4. मण्डी 5. कुल्लू 6. लाहुल 7. स्पिति 8. कुटलेहड़ 9. भंगाल 10. बिलासपुर।

शिमला की पहाड़ी रियासतें (शिमला हिल स्टेट्स)

(मियां गोवर्धनसिंह की सूची)

1. अट्ठारह ठाकुराइयाँ

जुब्बल, सारी, रावींगढ़, बलसन, कुमारसेन, देलठ, खनेटी, कोटखाई, कराँगला, भड़ोली, ठियोग, मधान, घूण्ड, रतेश, तरहोच, ढ़ाडी, दरकोटी, साँगरी।

2. बारह ठाकुराइयाँ

क्योंथल, बाघल, बघाट, भज्जी, कोटी, धामी, भड़ोली, महलोग, कुनिहार, कुठाड़, बेजा, माँगल।

अन्य रियासतें

1. बुशहर-किन्नौर
2. कलहूर
3. हण्डूर
4. सिरमौर

लामा धर्म

तिब्बत, हिमाचल प्रदेश के जनजातीय जिलों किन्नौर तथा लाहुल-स्पिति में बौद्ध धर्म अपनी विलक्षणता के साथ विद्यमान है। गेरुआ वस्त्र पहने लामा, ऊँचाइयों में स्थित बौद्ध मठ, आकर्षक मूर्तियाँ व चित्र पाण्डुलिपियों के अम्बार, पत्थरों, चट्टानों पर खुदे बौद्ध मन्त्र, हवा में लहराती धर्मपताकाएँ इस अद्‌भुत परम्परा के दृढ़ अस्तित्व को दर्शाती हैं। लामा लोग इसके अधिष्ठाता हैं। विपरीत परिस्थितियों और भौगोलिक कठिनाइयों के बावजूद इन्होंने इसे आज तक सुरक्षित रखा है। परम्परा का भार ढोते हुए लामा आज भी त्याग, तपस्या से परिपूर्ण कष्टमय जीवन जीते हुए धर्मचक्र लिए रहते हैं।

इस परम्परा को समझने लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर नजर दौड़ानी होगी।

बुद्ध का जन्म

563 ई. पू. कपिलवस्तु के लुम्बिनी ग्राम में बुद्ध का जन्म एक अद्वितीय घटना थी। शाक्यवंश के शुद्धोदन तथा माता महामाया के यहाँ जन्मे सिद्धार्थ का जीवन प्रारम्भ ही से विचित्र रहा, अनहोनी घटनाओं से परिपूर्ण। कहीं राह जाते हुए जन्म, अकस्मात् माता महामाया की मृत्यु, महाप्रजापति गौतमी द्वारा लालन-पालन आदि- आदि। यद्यपि उन्नीस वर्ष की आयु में पत्नी तथा पुत्र को त्याग कर संसार छोड़ने की कथाएँ जुड़ी हैं। इतनी आयु होने पर विवाह तथा पुत्र प्राप्ति होने के बाद जीवन के इन कटु सत्यों से अनभिज्ञ रहकर पहली बार वृद्ध, रोगी, मृतक तथा संन्यासी से साक्षात्कार व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता। तथापि ये घटनाएँ प्रतीकात्मक लगती हैं और बुद्ध के अभावग्रस्त जीवन के कारण जो वैराग्य शनैः-शनैः घर कर गया होगा, उसी ने सुविधापूर्ण संसार छोड़ने पर विवश किया।

संसार त्यागने पर विभिन्न साधु-संन्यासियों के पास भटकने के बाद अंततः अपनी एक राह खोजी। एक धारणा बनाई और पैंतीस वर्ष की आयु में सारनाथ से उपदेश प्रारम्भ करने के बाद जीवन के अंत (483 ई. पू.) तक जारी रखे। बुद्ध के पहले पाँच शिष्य ब्राह्मण माने जाते हैं। इसके बाद शाक्यवंश से शुद्धोदन के भाई के पुत्र आनन्द, बुद्ध के सौतेले भाई नन्द, चचेरे भाई देवदत्त और कुछ राजपुरुष भिक्षु बने।

महाप्रजापति गौतमी तथा आनन्द के आग्रह पर बुद्ध ने संघ में महिलाओं को स्थान दिया।

चार परम सत्य, आत्मा, पुनर्जन्म सिद्धान्त, कर्म सिद्धान्त, मध्यमार्ग तथा निर्वाण पर बुद्ध के उपदेश केन्द्रित रहे। संसार नित्य है या नहीं, आत्मा का शरीर से क्या सम्बन्ध है, जीवन के बाद मृत्यु तथा मृत्यु के बाद जीवन है या नहीं, ऐसे अनेक प्रश्न अनुत्तरित भी माने जाते हैं जिन्हें उन्होंने या तो टाल दिया या इन पर वे मौन रहे।

कब लिपिबद्ध हुए बुद्ध के उपदेश !

बौद्ध सिद्धान्त कब लिपिबद्ध हुए, यह स्वयं बौद्ध भी नहीं जानते। उत्तर भारत में यह और भी अस्पष्ट है। बुद्ध वचन तो मौखिक था। मौखिक परम्परा से ही शिष्यों ने ग्रहण कर आगे बढ़ाया। इस परम्परा को पहली बार किसने और क्यों लिपिबद्ध किया होगा, यह अज्ञात है। बाद में तो पूरा एक शास्त्र तैयार हुआ जिस की कई शाखाएँ बनीं। बुद्ध वचन क्या रहे होंगे, इसमें भी मतभेद है। आत्मा-संसार-त्याग, निर्वाण आदि शब्दों की अलग-अलग व्याख्या की गई।

दक्षिण भारत में लिखित परम्परा पर विभिन्न बौद्ध सम्मेलनों से प्रकाश पड़ता है जिनमें बौद्ध धर्म के विद्वानों ने एक परिपाटी निर्धारित की और कुछ सिद्धान्त बनाए जिन पर अधिकांश विद्वान् सहमत हुए।

पहला बौद्ध सम्मेलन बुद्ध के परिनिर्वाण के तीन महीने बाद अजातशत्रु की अध्यक्षता में राजगृह में हुआ। कहा जाता है, शुभदा नामक भिक्षु को बुद्ध के प्रति प्रतिकूल टिप्पणी से आगामी समय में धर्म-सुरक्षा का प्रश्न उत्पन्न हो गया। अतः पाँच सौ भिक्षुओं की एक सभा बनी जिसमें भिक्षु आनन्द को बाद में सम्मिलित किया गया। भिक्षु आनन्द पर कुछ आरोप भी लगाए गए। अश्वघोष की सुमंगल विलासिनी के अनुसार आनन्द द्वारा प्रतिपादित धम्म तथा उपालि द्वारा प्रतिपादित विनय को स्वीकारा गया। इस सभा में बुद्ध के रथवाहक चन्ना को ब्रह्मदण्ड दिया गया।

दूसरा सम्मेलन महानिर्वाण के एक सौ दस वर्ष बाद हुआ। यह सम्मेलन वैशाली के भिक्षुओं द्वारा दस सूत्रों में छूट लेने के कारण हुआ। इनमें सींग में प्रयोग हेतु नमक ले जाना, दोपहर के बाद भोजन करना, दूसरे गाँव में पुनः भोजन करने से अधिक खाना, दुष्कर्म के लिए संघ से आज्ञा, भोजन के बाद दूध-मक्खन लेना, सोना-चाँदी लेना बहस का मुख्य मुद्दा था। ये सब विनय के विरुद्ध तो थे ही अतः अधिकांश विद्वानों ने इन्हें गलत करार दिया। सभा में सात सौ भिक्षु एकत्रित हुए। जिसमें वैशाली के भिक्षुओं ने इन दस बातों को अस्वीकार कर दिया।

तीसरा सम्मेलन सम्राट् अशोक के समय पाटलिपुत्र में हुआ जो महानिर्वाण के 218 या 236 वर्ष बाद हुआ माना जाता है। बौद्ध धर्म में विभिन्न सम्प्रदाय बनने के कारण धर्म में शुद्धि लाने के उद्देश्य से इसे बुलाया गया। भ्रष्ट लोगों के संघ में आने से

संघ की मर्यादा क्षीण हुई। इस सम्मेलन का भारत तथा एशिया के विभिन्न भागों में बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु भिक्षुओं को भेजा जाना महत्त्वपूर्ण निर्णय था। सम्राट अशोक के पुत्र महेन्द्र तथा पुत्र संघमित्रा को लंका भेजा गया। कुछ इतिहासकार तीसरे सम्मेलन की ऐतिहासिकता पर संदेह करते हैं।

चतुर्थ सम्मेलन कनिष्क के समय 100 ई. में हुआ। सम्मेलन जालन्धर या कश्मीर में हुआ जिस में अट्ठारह सम्प्रदायों को मान्यता दी गई। कनिष्क ने पाँच सौ भिक्षुओं का सम्मेलन किया जिसमें वसुमित्र उपाध्यक्ष तथा अश्वघोष अध्यक्ष थे। एक मठ का निर्माण किया और उन्हें पिटक पर व्याख्या लिखने को कहा।

इतिहासकार बताते हैं कि बुद्ध के महानिर्वाण के लगभग चार सदियों से बाद तक बुद्ध वचन मौखिक ही चलते रहे। लिखित उपदेश 104 ई. पू. के बीच आया। पिटक पहली बार पालि में लिखा गया। इसकी व्याख्या सिंहली में की गई। मगध के मूलतः ब्राह्मण बुद्धघोष ने लंका जाकर मागधी में काम किया। बुद्धघोष ने पालि को बौद्धों की पवित्र भाषा बनाया। इस के बाद महावंश तथा दीपवंश की रचना पालि में हुई।

त्रिपिटक को पालि, मागधी आदि में लिखा गया किन्तु इसकी पालि में ही पूरी व्याख्या उपलब्ध-रही। इस समय संस्कृत में कोई पूरी कृति उपलब्ध नहीं है।

बौद्ध ग्रन्थ

बौद्ध ग्रन्थ धर्म के अनुसार दो श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं—हीनयान और महायान। हीनयान के सूत्र पालि तथा मिश्रित संस्कृत में हैं, महायान के शुद्ध तथा मिश्रित संस्कृत में।

पालि में त्रिपिटक सबसे पुराना और पूरा ग्रन्थ है। त्रिपिटक में तीन पिटक हैं—विनय पिटक (अनुशासन संग्रह), सूत्रपिटक (व्याख्यान), अभिधम्म पिटक (धर्मग्रन्थ)।

विनय पिटक में चार ग्रन्थ आते हैं। सूत्रपिटक में बुद्ध के व्याख्यान, (सूत्र) हैं। इसमें पाँच ग्रन्थ हैं। अभिधम्म में सूत्रपिटक के अनुसार ही धर्म के विषय में कहा है जिस के अन्तर्गत सात ग्रन्थ आते हैं।

ॐ मणि पद्मे हुं

नेपाल, तिब्बत तथा लाहुल-स्पिति में बौद्ध शब्दावली मिश्रित तथा अशुद्ध संस्कृत व स्थानीय भाषाओं से ली गई है। 'ॐ मणि पद्मे हुं' इस का उदाहरण है। इस ओर अवलोकीतेश्वर एक अधिष्ठाता देवता है जिसकी हजार आँखें, हजार सिर या ग्यारह सिर, आठ बाँहें होती हैं।

तिब्बत, लाहुल-स्पिति तथा किन्नौर की ओर बौद्ध ग्रन्थों के रिन-चेन-जंगपो द्वारा अनुवाद से पूर्व भी यहाँ पद्मसम्भव के समय बौद्ध मठ विद्यमान थे। इस युग में बौद्ध ग्रन्थों का पाठ तथा परम्परा का निर्वाह सम्भवतः मिश्रित भाषा के माध्यम से होता था।

रिन-चेन-जंगपो ने बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद भोटी में उपलब्ध कराया और एक नई परम्परा का जन्म हुआ जिसमें तन्त्रवाद का समावेश रहा।

वर्तमान लामा धर्म

तिब्बत, किन्नौर तथा लाहुल-स्पिति में बौद्ध धर्म के वर्तमान स्वरूप को देखकर लगता है कि यह शाक्य मुनि द्वारा प्रतिपादित बौद्ध धर्म नहीं, कोई दूसरा ही धर्म है। बौद्ध मठों में लामाओं द्वारा वाद्यों के साथ मन्त्रोच्चारण, सामाजिक जीवन में धर्मगुरु की तरह दखल, हर संस्कार करवाते हुए टाणे-माणे में मुख्य भूमिका—यह सब ब्राह्मण धर्म की भाँति प्रतीत होता है। जो ब्राह्मण लोग मन्दिरों में करते थे वही सब लोग मठों में कर रहे हैं।

लाहुल-स्पिति में प्रत्येक परिवार में बड़े लड़के की शादी कर दी जाती है। छोटे लड़के को लामा बनाया जाता है। पाँच-छः वर्ष की आयु में ही उसे शपथ दिलाई जाती है। अहिंसा धर्म का पालन, सत्य वचन, मद्यनिषेध आदि की शपथ के बाद उसे 'ग्याछुल' कहा जाता है। वरिष्ठ लामा उस पर नजर रखते हैं। यदि शपथ तोड़े तो मठ से बाहर निकाल दिया जाता है। मठ में ही अब शिक्षा-दीक्षा दी जाती है। गर्मियों में ऐसे युवा लामा घर आ सकते हैं। घर का पूरा काम कर सकते हैं। मठ में वापसी पर इस बात की पुष्टि की जाती है कि कोई गलत काम तो नहीं किया। दस-बारह वर्ष बाद यह व्यक्ति 'गेलोङ' बन जाता है। गेलोङ अर्थात् धर्म पर चलने वाला। पूर्ण लामा बनने में वर्षों लग जाते हैं।

लामा लोग मठ में रहते हैं जहाँ धर्मग्रन्थों के पाठ के अतिरिक्त धर्म चक्र घुमाते रहते हैं। ग्रामीण मठ में जाने पर भेंट चढ़ाते हैं। लामाओं को धर्म-कर्म के लिए घरों में आमन्त्रित किया जाता है।

तिब्बत में बौद्ध धर्म के चार सम्प्रदाय विकसित हुए। यही सम्प्रदाय किन्नौर तथा लाहुल-स्पिति में फैले। पद्मसम्भव तथा शान्तरक्षित द्वारा प्रतिपादित सबसे पुराना सम्प्रदाय ञिङम-पा या निङमा। गे-लुगपा, कर-ग्युद-पा, डुग्पा आदि अन्य शाखाएँ हैं।

ताबो के सहस्र वर्ष

हिमाचल प्रदेश में किन्नौर के पूह तथा कुल्लू के रोहतांग जोत से परे का क्षेत्र बर्फ का रेगिस्तान कहलाता है। 3955 मीटर ऊँचे रोहतांग के उस पार लाहुल तथा 2837 मीटर ऊँचे पूह से आगे स्पिति मिलकर लाहुल-स्पिति जिला बनते हैं। लाहुल तथा स्पिति के बीच कुंजम जोत इन्हें वर्ष में नौ महीने के लिए जुदा करता है।

इस रेगिस्तान में बौद्ध धर्म नखलिस्तान की भाँति खिला हुआ है। अनेक समृद्ध बौद्ध मन्दिरों को अपने में छिपाए यह बर्फ का प्रदेश लामाओं का गढ़ है। इन मठों में एक ताबो मठ के इस वर्ष हजार वर्ष पूरे होने जा रहे हैं, यह एक अद्भुत आश्चर्य है।

हिमालय में बौद्ध मठ

हिमालय की ऊँचाइयों में सर्वप्रथम बौद्ध विहार स्थापित करने का श्रेय पद्मसम्भव को दिया जाता है। कहते हैं पद्मसम्भव ने 779 ई. में तिब्बत में पहला बौद्ध मन्दिर सेम-पास या समये स्थापित किया। इसके पूर्व चीन और नेपाल से ब्याही दो रानियों द्वारा दहेज में लाई अक्षोभ्य और शाक्य मुनि की प्रतिमाओं के लिए तिब्बत की इन रानियों ने मन्दिर बनवाए।

बौद्ध धर्म के प्रबल समर्थक तिब्बत के शासक स्रोङ त्सन गम्पो (617-650) ने अपने दूत नालन्दा और विक्रमशिला विश्वविद्यालय भेजे ताकि वे बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु कुछ विद्वानों को तिब्बत ला सकें। ये दूत बौद्ध दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् शान्तरक्षित को तिब्बत लाने में सफल हुए। शान्तरक्षित ने रिमपोचे पद्मसम्भव को आमन्त्रित करने का परामर्श दिया। यह आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की बात रही होगी जब बौद्ध धर्म में तन्त्रयान का प्रवेश हो चुका था। पद्मसम्भव तन्त्रयान के हिमायती थे जिसकी नींव इन्होंने तिब्बत में रखी। पद्मसम्भव की जीवनी पेमा कातङ में जोहार (रिवालसर), गार्ज़ा (लाहुल) और गुरूघण्टाल (गोन्धला) का उल्लेख पद्मसम्भव के साथ हुआ।

इस कार्य में दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम रिन-चेन-जंग-पो (रत्नभद्र) है। रिन-चेन-जंग-पो को लो-त्स-वा या लोचावा कहा जाता है, जिसका अर्थ अनुवादक है।

तिब्बत, लद्दाख और गुगे—इन तीन राज्यों में सतलुज का मानसरोवर का ऊपरी

क्षेत्र गुगे कहलाता था। गुगे के शासक ये शेस-ओ या ये शेस-ओद ने इक्कीस युवाओं को भारत भेजने के लिए चुना। रिन-चेन-जंग-पो उनमें से एक था जिसने तीन बार भारत भ्रमण किया और सत्रह वर्ष भारत में बिताए। वर्षों तक कश्मीर में अध्ययन किया। भारत के कई स्थानों का भ्रमण किया।

क्या कहते हैं इतिहासकार

इन मठों के निर्माण में गुगे तथा लद्दाख के शासकों का सीधा योगदान होते हुए भी निर्माता रिन-चेन-जंग-पो को माना जाता है, यह एक आश्चर्यजनक बात है। प्रायः मठ-मन्दिर के निर्माण के शासक अपना नाम जोड़ते हैं। यहाँ ऐसा नहीं है।

रिन-चेन-जंग-पो (950-1055) एक धर्म-प्रचारक, महाअनुवादक ही नहीं, एक कलाप्रेमी और मन्दिर-निर्माता भी माना जाता है। कहा जाता है उसने एक सौ आठ के लगभग बौद्ध विहार बनाए। गुगे और लद्दाख के शासकों से प्रश्रय मिला। रिन-चेन-जंग-पो कश्मीर से बत्तीस कश्मीरी बौद्ध कलाकार साथ लाए और मठों का निर्माण करवाया। कानम, चिनी, नाको, गैमूर जैसे मठों के साथ ताबो एक महत्त्वपूर्ण मठ है जिसका निर्माण 996 ई. में हुआ।

ताबो मठ में उपलब्ध लेख में इसकी स्थापना का उल्लेख है। 'द टेम्पल्ज़ ऑफ वेस्टर्न तिब्बत एण्ड देयर आर्टिस्टिक सिम्बॉलिज्म' में इस लेख का मूल व रूपान्तर दिया गया है जिसके अनुसार मन्दिर का निर्माण दादा बोधिसत्व (ये-शेस-ओ) द्वारा हुआ। छियालीस वर्ष बाद पोते ल्हा-सुम-पा द्वारा मन्दिर पुनः बनवाया गया। ये-शेस-ओ का कार्यकाल 967-1040 माना जाता है।

ए. एच. फ्रैंक ने 'एंटीक्यूटीज़ ऑफ इण्डियन तिब्बत' में लेख की तिथि 1050 निश्चित करते हुए उसमें से पुनर्निर्माण के 46 वर्ष घटाकर 1004 निर्माण काल माना है।

जीर्णोद्धार या पुनर्निर्माण के समय रिन-चेन-जंग-पो की भेंट भारतीय विद्वान् दीपंकर श्रीज्ञान (अतिशा) से हुई। अतिशा का गुगे में लगभग तीन वर्ष का प्रवास रहा (1048-45)। इसमें से 46 वर्ष घटाने पर 996-999 की अवधि आती है। तिब्बती कैलेण्डर के अनुसार 'फायर-एव वर्ष' में ताबो का निर्माण हुआ जो 996 ई. है।

ताबो छोस खोर

शिमला से 365 किलोमीटर दूर ताबो छोस खोर स्पिति का एक महत्त्वपूर्ण मठ है। स्पिति के विहारों की यह विशेषता है कि ये ऊँचे पर्वतों पर किलानुमा ढंग से बने हैं। की तथा ढंक्खर मठ ऐसे ही हैं। ये दूर से देखने पर मठ कम और किले अधिक लगते हैं। की और ढंक्खर का वास्तुशिल्प एक-सा है। दोनों जैसे ऊँची पहाड़ खोदकर बनाए गए हों, या इन्हें बनाकर पहाड़ की शक्ल दी गई हो।

ताबो एक ऐसा मठ है जो पहाड़ की गोद में 3050 मीटर ऊँचे मैदान में स्थित

है। स्पिति नदी से बाईं ओर बिल्कुल खुले में इसकी अवस्थिति तत्कालीन शासकों के संरक्षण की प्रतीक है।

ताबो पहुँचने के लिए शिमला से चलने वाले यात्री को किन्नौर के मुख्यालय रिकांग पियो में या उससे आगे पूह में ठहरना पड़ेगा। शिमला से पियो 206 किलोमीटर है और पूह 274 किलोमीटर। पियो वन-वनस्पति भरा है, पूह से प्रकृति में एकदम बदलाव आ जाता है और वनस्पति-रहित बर्फ का रेगिस्तान आरम्भ हो जाता है। पूह से आगे सतलुज और स्पिति नदी के संगम से आगे स्पिति नदी के ऊपर और बहुत ऊपर होती हुई सड़क एक दूसरे संसार में ले जाती है जहाँ बस पर्वत ही पर्वत नजर आते हैं। इस ओर 3274 ऊँचे यंगथम से दूसरी ओर उतराई आरम्भ होती है। नीचे आने पर घाटी खुलती है और ताबो एक मैदान में प्रकट होता है।

यह रास्ता मई से नवम्बर तक खुला रहता है। आगे-पीछे मौसम पर निर्भर करता है। दूसरा यह रास्ता मनाली से होकर है जो दो दर्रों पर निर्भर है। पहला दर्रा रोहतांग है मनाली से 51 किलोमीटर, 3976 मीटर और दूसरा कुंजम 4545 मीटर ऊँचा। मनाली से 248 किलोमीटर का यह रास्ता जुलाई से अक्तूबर तक ही खुलता है।

अद्‌भुत कला संग्रहालय

ताबो पहुँचने पर कुछ मिट्टी के घर नजर आते हैं जो बाहर से अति साधारण प्रतीत होते हैं।

रेस्ट हाउस से ठीक सामने वर्तमान ताबो का नया मुख्य द्वार है। वर्तमान ताबो इसलिए कि इस द्वार के भीतर का मठ नया बना है। अब इसी भवन में पूजा-अर्चना होती है। भीतर आकर्षक व सुन्दर थंका चित्र है। अन्य प्रतिमाओं के अतिरिक्त ताबो के पूर्व लामा की प्रतिमा भी है। ऊपरी मंजिल में लामाजी के आवास के साथ एक बैठक बनी है। यहाँ दलाई लामा के ठहरने के लिए भी एक अलग कमरा बना रखा है। यह भवन 1981-83 के मध्य बना और 1983 में ही यहाँ कालचक्र समारोह हुआ जिसमें दलाई लामा पधारे थे।

इस मठ के दाईं ओर एक सुन्दर छोरतन और एक बड़ी सराय है। दो मंजिली इस सराय में यात्रियों के ठहरने की व्यवस्था है।

नए मठ के पीछे पुराने मठ का मुख्य द्वार है। द्वार के भीतर लामा छात्रों के लिए पेंटिंग का एक स्कूल चलता है। इस स्कूल की उत्तर दिशा में प्राचीन मठ आता है।

प्राचीन मठ

प्राचीन मठ 84.70×74.30 मीटर के परिक्षेत्र में फैला हुआ है जिसके चारों ओर दो मीटर ऊँची दीवार है। इसके भीतर नौ मंदिर माने जाते हैं। इनमें से एक दीवार के बाहर है। इनमें ज़ैलमा और गो-खङ दक्षिणाभिमुखी हैं, शेष सब पूर्वाभिमुखी। नौ मन्दिरों में से पाँच प्राचीन माने जाते हैं।

बौद्ध दर्शन बहुत गहरा होता गया है। सर्वतथागत-तत्त्व-संग्रह में योग की 'समय' शाखा है। 'समय' तीन मुख्य तान्त्रिक शाखाओं में से एक है। तन्त्र में अभी समय, वज्र समय, धर्म समय, कर्म समय है। इसी प्रकार पाँच तथागतों में विरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसम्भव, अमिताभ तथा अमोघसिद्धि हैं। इन सब के अपने-अपने मण्डल हैं। इस तरह 24 मण्डल हैं जिनमें मूर्तियों की स्थिति अपने ढंग से रहती है।

द्वार मण्डप के भीतर मुख्य मन्दिर में, जिसे शुग-ल्हा-खङ कहते हैं, ऐसे ही मण्डल में व्यवस्थित मूर्तियाँ हैं। बीच में महाविरोवन की धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा में अद्‌भुत मूर्ति (फ्रेस्को) है। महाविरोचन की चार ऐसी मूर्तियाँ एक-दूसरे की ओर पीठ किए हुए हैं। मुख्य मूर्ति पूर्वाभिमुख है। महाविरोचन की सभा में यहाँ रखी कुछ महत्त्वपूर्ण पोथियों के अतिरिक्त बत्तीस अन्य आदमकद मूर्तियाँ हैं। कमलदल पर आसीन और प्रभामण्डल से युक्त मूर्तियाँ दीवार में लकड़ी गाड़ हवा में रखकर उभारी गई हैं।

मूर्तियों के अतिरिक्त दीवारों पर भित्तिचित्र ध्यान आकर्षित करते हैं। जातक कथाएँ, महात्मा बुद्ध की कथा तथा एक हजार बुद्ध जैसे चित्र अपने में अनोखे हैं।

गो खङ महाकाल में वज्र भैरव मन्दिर है। जैलमा में सुन्दर भित्तिचित्र हैं। ल्हा-खङ चेन्पो में बोधिसत्व मैत्रेय विराजमान हैं। सेर-खङ को स्वर्ण मन्दिर कहा जा सकता है। यहाँ भी आकर्षक भित्तिचित्र हैं। क्यलखोर-खङ में रहस्यमय मण्डल हैं। इसमें जीव-जन्तुओं के चित्रों के अतिरिक्त गन्धर्व-किन्नरों के चित्र भी हैं।

कारएब्यून ल्हा-खङ श्वेत मन्दिर है जिसे देवी का मन्दिर भी कहा जाता है। ब्रोम-तोन ल्हा-खङ में शाक्य मुनि की प्रतिमा है।

ताबो में सड़क से ऊपर पुरातन गुफाएँ हैं जिनमें कभी लामा लोग रहा करते थे। इनमें से अधिकांश गुफाएँ अब क्षतिग्रस्त हो गई हैं। इसमें एक अभी सलामत है। इस गुफा में, जिसे फो-गोम्पा भी कहा जाता है, अभी भी भित्तिचित्र देखे जा सकते हैं।

ताबो के मुख्य मन्दिर शुग-ल्हा-खङ में बौद्ध ग्रन्थों का विपुल भण्डार है। इस निधि का उल्लेख टूची तथा फ्रैंक दोनों ने किया है। फ्रैंक ने यहाँ पाँच फुट ऊँचा पोथियों का ढेर देखा था। एक-एक ढेर में सैकड़ों खुले पृष्ठ थे। ये पृष्ठ सम्भवतः प्रज्ञापारमिता के तिब्बती अनुवाद के थे।

जून 1996 में अन्तर्राष्ट्रीय उत्सव

ताबो मठ की स्थापना के एक हजार वर्ष पूरे होने पर जून 1996 में ताबो में एक अन्तर्राष्ट्रीय उत्सव मनाया गया। यह उत्सव 21 जून से आरम्भ होकर 5 जुलाई तक चला। इस बीच 21 जून से प्रथम जुलाई तक कालचक्र समारोह भी चला, जिसमें महापावन दलाई लामा उपस्थित थे।

उत्सव की सम्पूर्ण व्यवस्था के लिए हिमाचल प्रदेश के मुख्यमन्त्री वीरभद्र सिंह उपसमिति की अध्यक्षता में एक समिति बनी थी। सेमिनार के लिए एक उपसमिति

शिक्षा तथा संस्कृति मन्त्री प्रो. नारायणचन्द पराशर की अध्यक्षता में गठित हुई। समारोह की व्यवस्था में जनजातीय क्षेत्र (स्पिति) से सम्बन्ध रखने वाले राज्यमन्त्री (स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण) फुन्चोग राय भी सम्बद्ध थे।

24 जून से 2 जुलाई तक यहाँ एक अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार हुआ। जिसमें भारत तथा विदेशों से बौद्ध धर्म के विद्वान् आमन्त्रित किए गये थे। इस सेमिनार में करुणा फाउंडेशन, दिल्ली के अध्यक्ष लामा कग्यूर रिमपोचे ने भी भाग लिया।

कालचक्र समारोह 21 जून से 3 जुलाई तक हुआ, जिसमें पूर्णमासी को अभिषेक किया गया।

किन्नर कौन ?

किन्नर एक अद्‌भुत प्रदेश है। इसे प्रदेश इसलिए कहा जा रहा है क्योंकि यह पौराणिक है, ऐतिहासिक है और एक विशिष्ट भूखण्ड है। इसकी विलक्षणता है—मधुर कण्ठ में, विशेष भाषा-वेशभूषा में, भरे-पूरे आभूषणों में, आकर्षक काष्ठकला व धातुशिल्प में। जहाँ यहाँ की शाल की बुनाई मनमोहक है, वहीं नृत्य चित्ताकर्षक है। विचित्र है यहाँ की किन्नरी वीणा और मधुर शहनाई। चमकदार मीठा सेब, पौष्टिक बादाम, चिलगोजा, अपने में अनोखा है।

यक्ष, गन्धर्व और किन्नरों का जो उल्लेख बार-बार हमारे पौराणिक साहित्य में हुआ है, उसी के अनुसार किन्नर के साक्षात् दर्शन आज भी हो सकते हैं। अपनी विशिष्ट संस्कृति सँजोए हुए किन्नर लोग आज भी अपनी समृद्ध परम्परा से बँधे हैं। प्रकृति ने भी किन्नौर को अपना अनुपम सौंदर्य उपहार में दिया है। एक ओर रंग बदलता किन्नर कैलास, दूसरी ओर अनुपम सांगला घाटी, तीसरी ओर मठ-मंदिर, किले उस अज्ञात अध्यात्म और पुरातन का स्मरण कराते हैं जो सदियों से यहाँ की शिखर घाटियों में विद्यमान रहा है।

तिब्बत, उत्तर प्रदेश, कुल्लू तथा रामपुर बुशहर के बीच हिमाच्छादित चोटियों से घिरे किन्नौर के बीचो-बीच सतलुज नदी बहती है। शिपकी दर्रे की ओर आने वाली सतलुज टशीगंग और नमग्या के बीच से होकर स्पिति में मिलती है। यहाँ से गहरा होता सतलुज का पानी किन्नौर को दो भागों में विभक्त करता है।

6,401 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल वाले हिमाचल प्रदेश के जिला किन्नौर में इस समय कल्पा, निचार, पूह तीन उपमण्डल हैं। निचार, कल्पा, पूह, सांगला, मूरंग तहसीलें तथा हंगरंग उपतहसील है। 1931 में 29,270 की जनसंख्या के मुकाबले 1991 में यहाँ की जनसंख्या 71,270 हो गई जिसमें 38,394 पुरुष और 32,876 महिलाएँ हैं। कुल 662 गाँवों में 228 आबाद और 434 गैर-आबाद गाँव हैं। शहरी जनसंख्या कोई नहीं है। ग्रामीण क्षेत्र में 16,333 घर तथा परिवार हैं। 1500 से 3500 मीटर की ऊँचाई पर बसे गाँव हिमालय की ऊँची शृंखलाओं से घिरे हुए हैं।

किन्नौर का सर्वप्रथम नोटिस लेने वाला यूरोपीय यात्री सम्भवतः जे. बी. फ्रेजर था जो किन्नौर न जाकर सन् 1815 में सराहन में ठहरा। किन्नौर के भीतर प्रवेश करने वाला पहला यूरोपीय अलेक्जेंडर गेराड था जो 1817 में अपने भाइयों जेम्स और पार्टिक

सहित आया और इसके बाद भी वैज्ञानिक अभियान में आता रहा। इन भाइयों ने 1829 तक कई दौरे किए।

किन्नौर पर पहला दौरा कैप्टेन हर्बर्ट और डॉ. डी. गेरार्ड ने किया। अपने 1819 के दौरे के बाद कैप्टेन तथा गेरार्ड द्वारा 'द एकाउंट ऑफ किन्नौर इन द हिमालया : लंदन 1841' लिखा गया। सन् 1939 में जर्मन विद्वान् आर. एच. डस्टर ने किन्नौर पर पुस्तक लिखी। इसके बाद सिलसिला जारी रहा।

प्रथम मई, 1960 को हिमाचल प्रदेश का एक जिला बनने से पूर्व किन्नौर जिला महासू के अन्तर्गत रहा। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व यह बुशहर राज्य का एक भाग था।

राहुलजी ने इसे किन्नर प्रदेश कहा : "किन्नर के लिए किंपुरुष शब्द भी संस्कृत में प्रयुक्त होता है, अतः इसी का नाम किंपुरुष देश या किंपुरुष वर्ष भी था। किन्नर या किंपुरुष देवताओं की एक योनि मानी जाती थी, किन्तु उससे इतिहास जानने में कोई सहायता नहीं मिलती।"

किन्नौर को 'कनावर' भी कहा है जो यूरोपीय यात्रियों का सम्बोधन है। रियासत के समय बुशहर के ऊपरी भाग को 'कोची' कहते थे। (हिस्ट्री ऑफ पंजाब हिल्ज़ स्टेट्स) और यहाँ के निवासियों को किन्नर या कन्नौर। किन्नर अपनी बोली में अपने को 'कनौरिङ' कहते हैं तिब्बती किन्नौर को 'खुनू' पुकारते हैं जिसका अर्थ पर्वत है। लेह वासी 'माउन' कहते हैं। कामरू का पुराना नाम भी 'मोने' था।

किन्नर को 'नर' से भिन्न अर्थ में लेने पर यह नाम आर्यों द्वारा रखा भी हो सकता है क्योंकि किन्नर यहाँ के मूल वासी थे। किसी समय किन्नर लोग एक विस्तृत भूभाग में रहते थे जो चन्द्रभागा तक फैला था।

हमारे पौराणिक साहित्य में यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, किंपुरुष आदि का उल्लेख एक साथ हुआ है। यह जातियाँ हिमालयवासी थीं। वायु पुराण में किन्नरों को महानील पर्वत का वासी बताया गया है। कुछ पुराणों में किन्नरों को निशाचरों की श्रेणी में रखा है। मत्स्य पुराण में यक्ष, पिशाच, राक्षस, विद्याधर, किन्नर, गन्धर्व को हिमवान पर्वत का वासी माना है। किन्नरों को अश्वमुख तथा किन्नरियों को मधुर कण्ठी कहा गया है।

महाभारत में किन्नरों का वास किंपुरुष वर्ष कहा गया है। यह प्रदेश धवलगिरि को लाँघकर आता था। गन्धर्व, किन्नर अप्सराओं का वास मानसरोवर में भी माना गया है। कुबेर को यक्षराज सम्बोधित किया गया है।

इन सम्पूर्ण सन्दर्भों से एक बात स्पष्ट होती है कि किन्नर हिमालय या पर्वतवासी थे। यह जाति यहाँ गन्धर्व या किरात के समीप तो थी किन्तु भिन्न थी। यह अनार्य और आदिम या मूल वासी थे। नृत्य तथा गायन इनकी मूल परम्परा थी।

किन्नौर—एक

सागर से संन्यासी

रहस्यमयी पर्वत शृंखलाओं और तिलस्मी घाटियों की भूमि है किन्नौर। जहाँ यह पता नहीं चलता कि केसर के फूल की भाँति रंगीन पत्तियों के भीतर कौन-सी बेजोड़ दुनिया आबाद है। आकाश को छूते पर्वतों के बीच गहन और सँकरी घाटियों के द्वार दूर से नहीं दिखते किन्तु भीतर अपनी गोद में समेटे हैं सेब, बादाम, चिलगोजा, जीरा और केसर की खेतियाँ। सीधी, ऊँची और ठोस चट्टानें, जहाँ से ओस की भाँति टपकती हैं शिलाजीत। अलग-अलग घाटियों की अलग फसल। चिलगोजा यदि रिकांग पियो में होता है तो जीरा वास्पा के किनारे। केसर की खेती सांगला की घाटी में होती है तो बादाम के लिए स्पिलो प्रसिद्ध है।

बर्फीली चोटियों के महामौन में भी गम्भीर ध्वनि जो सीधे मन-मस्तिष्क पर चोट करती है। और नीचे फैले भोज वृक्ष जगह-जगह अपनी छाल बिखेरते। भोजपत्र जैसी पौराणिक और वंदनीय वस्तु यहाँ बिखरी पड़ी है, जैसे सागर किनारे शंख। शंख और भोजपत्र! हमारी आर्य संस्कृति के प्रतीक। दोनों ही दो छोरों की दुर्लभ वस्तुएँ। दोनो की दूरी सूर्य के उगने और डूबने तक लम्बी। फिर भी दोनों ही वस्तुएँ मिलती हैं प्रत्येक भारतवासी के घर में, पूजागृह में। ये दूरियाँ सिमटी हैं यात्राओं से। यात्रा, जो सेतु है। जोड़ती है एक को दूसरे से। पहाड़ को समुद्र से। शंख को भोजपत्र से। पुरातन ऋषि-मुनियों ने यात्राओं से ज्ञान के द्वार खोले हैं। एक अलौकिक अनुभव हुआ होगा जब सागर से आए संन्यासी ने भोजपत्र माथे से लगाकर फूँका होगा शंख। जिसका नाद फैला चोटी दर चोटी, किन्नर कैलास होता हुआ सड़क मार्ग से जुड़े एशिया के सबसे ऊँचे गाँव किब्बर तक।

हमारे पौराणिक साहित्य में यक्ष, गन्धर्व तथा किन्नरों का बार-बार वर्णन आया है। ब्रह्माजी के मानस पुत्रों—मरीची, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु में से पुलस्त्य के राक्षस, वानर, किन्नर और यक्ष हुए। यक्ष, गन्धर्व और राक्षसों के लिए दिन के अंत में लालिमामयी संध्या के बाद अस्सी लव (चालीस निमेष) के अतिरिक्त सारा समय नियत किया गया था। दिन का समय मनुष्यों के लिए था। ये सभी जातियाँ पर्वतवासी थीं।

खतरनाक सफर

किन्नर कैलास की यात्रा में शिमला से रामपुर होते हुए ज्यूरी से आगे आता है किन्नौर का पहला गाँव चौरा। सड़क के नीचे बसा छोटा गाँव अपनी अलग पहचान लिए हुए। सतलुज के किनारे गाँव के अन्त में ऊँचे टीले पर बना किलानुमा मन्दिर उस अद्वितीय काष्ठ वास्तुकला का परिचय करवाता है जो किन्नौर में भव्य काष्ठ मन्दिरों की बनावट में विद्यमान है। यहीं से शुरू होता है वह खतरनाक सफर जो पहली बार इस ओर जाने वाले रोंगटे खड़े कर देता है। भावानगर तक सड़क सीधी चट्टानें काटकर बनाई हुई। कहीं-कहीं बिल्कुल चट्टानों के बीच गुजरती जैसे गुफा से निकल रही हो। एक बार तो सोचना पड़ता है कि कैसे बनाई होंगी ये सड़कें, सीधी खड़ी चट्टानों के पेट फोड़कर। यह भगीरथ प्रयत्न ही तो है गंगा पहाड़ में ले जाने का। दोनों ओर सीधे खड़े पहाड़ नब्बे का कोण बनाते हैं। एक ओर प्रसिद्ध हिन्दुस्तान-तिब्बत रोड है, दूसरी ओर जलविद्युत परियोजना के लिए सड़क बन रही है। पार की चट्टान में खड़े मजदूरों को देख अचम्भा होता है कि ये खड़े कहाँ हैं। ज्यूरी में उन शहीदों के नाम लिखे हैं जो सड़क निर्माण के समय मारे गए। नई सभ्यता का तकाजा है आदमी को सड़क से जोड़ना, इसलिए सड़क की गंगा पहाड़ की ओर बही।

भावानगर के आगे सड़क नीचे-नीचे है सतलुज के किनारे। एक तरह से सुरक्षित। बर्फ गिरने पर पदयात्री यहाँ सुरक्षित रहते हैं। ऊपर से चट्टानें गिरें भी तो ऊपर-ऊपर से सतलुज में समा जाती हैं। हाँ, पूरा पहाड़ ही खिसक आए तब बात दूसरी है जैसे खदरा ढाँक में बार-बार कच्चा पहाड़ गिरने से सड़क सतलुज के दूसरे किनारे बनानी पड़ गई। बीच-बीच में ऐसे कच्चे पहाड़ भी हैं जो गिरते रहते हैं। वास्तव में सड़क मार्ग नया है। पुराना पैदल मार्ग ऊपर-ऊपर से था, एक गाँव से दूसरे गाँव होता हुआ।

उषा देवी की स्मृति

वर्तमान भावानगर से ठीक ऊपर है निचार। सीधी चढ़ाई से क़रीब, घुमावदार सड़क से लगभग 18 किलोमीटर। निचार में उषा देवी का मन्दिर है। उषा, महाभारत के नायक श्रीकृष्ण के पौत्र की प्रेमिका। उषा-अनिरुद्ध प्रेम प्रसंग, बाणासुर-कृष्ण संग्राम के कई पौराणिक आख्यानों की स्मृति मन में उभरती है। क्या यह वही उषा देवी है जिसकी स्मृति में कालान्तर में मन्दिर बना? लोगों की आस्था है कि अभी भी यहाँ बाणासुर आता है। बाणासुर का आगमन चाहे प्रतीक हो, यहाँ आकर तो ऐसा अनुभव होता है कि कैसे पौराणिक संस्कृति ने यात्रा की है द्वारिका से दुर्गम पर्वत कन्दराओं तक।

उषा देवी का मन्दिर गाँव के ऊपर की ओर है। मुख्य द्वार के भीतर प्रांगण में दो युवतियाँ बैठी थीं। सम्भवतः ये पुजारी परिवार से होंगी, हमने सोचा। गाँव में एक आदमी ने हमें रूखे स्वर में बताया कि इस समय हम मन्दिर के भीतर नहीं जा सकेंगे। उस आदमी

की रुखाई का राज हमें मन्दिर के भीतर जाने पर पता पड़ा। पुजारी को बुलाने के बाद जब भीतर गए तो ज्ञात हुआ वे पहरेदार थीं। दिन में पहरा देने की बारी आज उनकी थी। देवी के पास पर्याप्त सोना-चाँदी है। अतः दिन में गाँव की महिलाएँ और रात को पुरुष बारी-बारी से पहरा देते हैं। जो पहरा न दे सके उसे पहरेदारी जितनी मजदूरी देनी पड़ती ।

मुख्य द्वार के भीतर देवी के दो मंदिर हैं। एक पुराना किलानुमा और दूसरा नया। नए मन्दिर में देवी का सुसज्जित रथ रखा था। देवी के पुजारी को बुलाकर लाया गया, जो अविवाहित था। परम्परा के अनुसार देवी का पुजारी अविवाहित होता है। वह मन्दिर के भीतर प्रवेश कर सकता है। महिलाओं का मन्दिर में प्रवेश वर्जित है। मन्दिर की प्रबन्ध व्यवस्था के लिए समिति बनी हुई है जिसका प्रमुख मोहतमीम कहा जाता है। मन्दिर में वैशाख में बिशु, असौज में फुलाइच और श्रावण में हूहू मेला होता है।

निचार के साथ सुंगरा में सुंगरा महेश्वर का भव्य काष्ठ मन्दिर है। मन्दिर के द्वार बन्द मिले। वापसी पर सड़क में चौकीदार मिला जो कहीं गया हुआ था। मन्दिर के ऊपर देवता का सेब का बगीचा है और जंगल है। मन्दिर में फुलायच तथा बीस भादों को निजागदरंग त्यौहार मनाया जाता है।

सुंगरा महेश्वर तथा उषा देवी किन्नौर के आठ प्रमुख देवताओं में से हैं। अन्य हैं : विष्णु कल्पा, महेश्वर भावा, महेश्वर चगाँव, देवी चण्डिका कल्पा, उषा देवी निचार, बद्रीनारायण कामरू तथा माता देवी छितकुल। इनमें सुंगरा, माता तथा चगाँव के महेश्वर तीनों भाई माने जाते हैं।

भावानगर में संजय जलविद्युत परियोजना है। यहाँ के आगे टापरी होते हुए करछम से प्रवेश होता है सांगला घाटी में।

झील-सी मादा सांगला घाटी

अद्वितीय सौंदर्य की खान है सांगला घाटी, झील-सी मादा, जहाँ से वास्पा नदी आती है। घाटी में प्रवेश पर एक दूसरी दुनिया नजर आती है। वास्पा नदी जहाँ सतलुज में मिलती है, वहाँ से देखकर सोचा भी नहीं जा सकता कि इस सँकरे द्वार में भीतर ऐसा खुला संसार होगा।

कहा जाता है कि पूरी सांगला घाटी कभी झील थी। सांगला के अंतिम गाँव छितकुल से भी आगे तक पूरी घाटी एक भरी-पूरी झील की मानिंद लगती है। जैसे झील का बाँध टूट गया। पानी वास्पा नदी बन गया और पृथ्वी उजली और मादा होकर उभर आई।

बहुत ही खुला आमन्त्रण देती है यह घाटी। यहाँ पर कई स्थानों के लिए रास्ते खुलते हैं। जहाँ एक ओर शिमला के दूरस्थ क्षेत्र डोडराक्वार को रास्ता जाता है वहाँ दूसरी ओर उत्तर प्रदेश की उत्तर काशी, बद्रीनाथ धाम को। तीसरी ओर तिब्बत की ओर द्वार है।

सांगला किन्नर कैलास के पृष्ठभाग के नीचे है। सांगला रेस्ट हाउस के ठीक ऊपर है किन्नर कैलास की पीठ। यहाँ से यह पर्वत बहुत समीप लगता है। धूप होने से इस ओर बर्फ कम टिकती है।

सांगला के ऊपर कामरू गाँव है। एक ही गाँव में कामरू किला, बद्रीनारायण मन्दिर और बौद्ध मन्दिर। गाँव के बीच में बौद्ध मन्दिर के साथ बद्रीनारायण का सुंदर काष्ठ मन्दिर है। दोनों मन्दिरों का एक ही प्रांगण है। जब हम वहाँ पहुँचे तो प्रातः की आरती का समय था। प्रांगण में दो बालक बैठे थे। एक नगारा बजा रहा था। मन्दिर के भीतर दो रथ थे—एक बद्रीनारायण का और दूसरा राजा कल्याणसिंह का। राजा कल्याणसिंह बुशहर रियासत के प्रतापी राजा थे। कालान्तर में देवता समान पूजे जाने लगे और उनका भी देवता की भाँति रथ (पालकी) बना। प्रसिद्ध बद्रीनाथ धाम की ओर सांस्कृतिक यात्रा का पहला पड़ाव है यह बद्रीनारायण मन्दिर। यहाँ से देवता को उत्तरकाशी होते हुए बद्रीनाथ ले जाया जाता है।

बद्रीनारायण मन्दिर के ऊपर कामरू किला है जो अब मन्दिर बन गया है। पहले यह एक किला था सामरिक महत्त्व का। बुशहर रियासत के राजाओं का यहाँ राजतिलक होता था। किले की ऊपरी पहाड़ी से कभी-कभी विद्रोही पत्थरों से हमला करते थे। ऐसे एक हमले और किले के एक कोने में क्षति पहुँचने का जिक्र वहाँ के बुजुर्गों ने किया। कुछ गोल-गोल पत्थर भी रखे थे जो हमलावरों ने ऊपर से फेंके थे। इस समय किले के भीतर कामाक्षा देवी की मूर्ति है जिसे बुशहर के किसी राजा द्वारा यहाँ लाया गया। इसी कारण गाँव तथा किले का नाम कामरू पड़ा है। गाँव का पुराना नाम और था। यहाँ कामाक्षा देवी और बद्रीनारायण तक की यात्रा का सेतु मिलता है।

सांगला के नीचे प्रदेश के कृषि विश्वविद्यालय का क्षेत्रीय अनुसंधान उपकेन्द्र है। यहाँ जीरे तथा केसर की खेती की जाती है। काला जीरा यहाँ सामने के गाँव शौंग के जंगल में भी होता है। यूँ तो जीरा एक जंगली बूटी है, यहाँ इसका फार्म है। इसी फार्म में केसर की खेती होती है। दो क्यारियों में केसर का प्रयोगात्मक रूप से सफल उत्पादन किया जा रहा है।

यहाँ केसर का फूल पहली बार देखा। बैंगनी रंग के छोटे-से फूल के भीतर लाल-लाल केसर अलग से दमकता हुआ। केसरिया रंग प्रतीक है त्याग का, बलिदान का। यहाँ समृद्धता का प्रतीक भी है। दोनों तरह से ऐश्वर्य और समृद्धता। आध्यात्मिक और भौतिक। बौद्ध भिक्षुओं के गैरिक वस्त्रों में अध्यात्म और केसर में भौतिक सम्पन्नता।

सांगला और इस ओर के अन्तिम गाँव छितकुल के बीच में है रॉकछम। रॉक अर्थात् पत्थर और छम यानी पुल। यहाँ कभी पत्थर का पुल हुआ करता था। इसलिए गाँव का नाम रॉकछम पड़ा, एक बुजुर्ग ने बताया।

रॉकछम गाँव के नीचे एक छोटा-सा शिव मन्दिर है जो नया प्रतीत होता है। गाँव

के बीच में है कलात्मक काष्ठ देव मन्दिर। इस मन्दिर के ऊपर गाँव के सिरे में एक दूसरा मन्दिर है जो अब नया बनाया गया है। नए मन्दिर में दरवाजा पुराने मन्दिर का ही लगाया गया है। पुराने मन्दिर के कलात्मक स्तम्भ भी यहाँ सुरक्षित रखे हुए हैं।

इस मन्दिर को 'दुमथानङ' कहा जाता है। 'दुम' अर्थात् सभी और 'थानङ' स्थान। इसे हिमालय के समस्त देवताओं का सभास्थल माना जाता है। यहाँ 6 माघ से 15 माघ तक देव सभा होती है जब समस्त देवता सभा में भाग लेते हैं। इन मन्दिरों में माघ की बड़ी पूजा, आषाढ़ में उत्सव, भादों में फुलाइच के उत्सव मनाए जाते हैं।

इस ओर का अंतिम गाँव है छितकुल। थोड़ी-थोड़ी चढ़ाई के बाद 3,450 मीटर की ऊँचाई पर बसा अद्भुत गाँव है। लगभग सत्तर घर और आबादी पाँच सौ के करीब। रॉकछम में ऊँचाई 3,050 मीटर और सांगला में 2,680 मीटर। कब एकाएक 3,450 मीटर की ऊँचाई पर पहुँच जाते हैं, पता नहीं चलता। आगे ऊँचे-ऊँचे पहाड़। भोज वृक्ष के जंगल और बौने देवदार। आगे कोई पेड़ नहीं। इसकी ऊँचाई पर भोजवृक्ष और कुछ बौने पेड़ देखने पर आश्चर्य भी होता है।

गाँव के बीच गोल छत वाला माता देवी का सुन्दर मन्दिर है। ऊपर कामरू किले के शिल्प का एक किला किन्तु आकार छोटा। गाँव एक स्वप्नलोक की भाँति लगता है। इतनी ऊँचाई पर जहाँ कोई आबादी होने की सम्भावना नहीं रहती। गाँव के लोगों की बोली सांगला से भिन्न है किन्तु रॉकछम से ग्रामीण अपनी करीबी रिश्ता बताते हैं। मन्दिर के माली अर्थात् गूर गंगालाल की आकृति तिब्बतियों से मिलती है। मन्दिर में नवरात्रे बिशु (वैशाखी), फुलाइच, बूढ़ी दीवाली, श्रावण में शानू तथा भादों में जागरा आदि त्यौहार मनाए जाते हैं।

रूठना देवी का

साँगला घाटी से वापसी पर मुख्य सड़क में पवारी से ऊपर मार्ग है रिकांग पियो के लिए। रिकांग पियो जिला किन्नौर का मुख्यालय है। ऊँचाई 2,290 मीटर। पियो से ऊपर कोठी में है देवी कोठी का मन्दिर। देवी कोठी में देवी नहीं थी। मन्दिर खाली था। पता चला कि देवी रूठकर चली गई है। रात को पहरेदारी के लिए किसी गाँव के व्यक्ति मुकर गए अतः देवी रूठकर कल्पा में नारायण के पास चली गई। मन्दिर परिसर में दो भव्य मन्दिर हैं, एक किलानुमा और दूसरा साधारण मन्दिर। मन्दिर परिसर के पास एक पुराना तालाब है जहाँ कुछ उत्कृष्ट पाषाण प्रतिमाएँ भी हैं। यहाँ वर्ष में अट्ठारह पर्व मनाए जाते हैं।

रिकांग पियो और कल्पा से दिखता है किन्नर कैलास। विशेषकर कल्पा से अद्वितीय दृश्य दिखता है। यूँ तो सामने के पहाड़ पर शिवलिंग ही शिवलिंग है किन्तु एक विशेष चोटी को किन्नर कैलास माना जाता है। यह चोटी सूर्य के उदय होने, धीरे-धीरे ऊपर चढ़ने, अस्त होने के साथ अपना रंग बदलती है। प्रातः या सायं ही

विशेष दृश्य होता है, क्योंकि दिन में प्रायः बादल छा जाते हैं। इन बदलते रंगों को धार्मिक आस्था एक अलौकिक अनुभूति प्रदान करती है। सायं जब हम पहुँचे तो सारा रिकांग पियो, किन्नौर अँधेरे में डूब रहा था, किन्नर कैलास पर लालिमा लिये धूप थी। प्रातः ही चोटी के पीछे आकाश को एक दिव्य आभा ने घेर लिया।

कल्पा में एक साथ कई मन्दिर हैं। विष्णु मन्दिर, नागिन, देवी चण्डिका और बौद्ध मन्दिर, सब के साथ-साथ। विष्णु मंदिर के साथ नारायण व नागिन के मंदिर हैं। नारायण के साथ ही यहाँ रूठी हुई देवी विराजमान थीं। इन मन्दिरों में भी वर्ष के अट्ठारह पर्व मनाए जाते हैं।

मूरंग किला

रिकांग पियो से पूह मार्ग के बीच सतलुज के पार है मूरंग किला। किला जो कभी सामरिक महत्त्व का रहा होगा, अब मन्दिर है। किले को मुरम्मत के लिए खाली किया गया है। देवता को यहाँ से गाँव ले जाया गया है। देवता अट्ठारह मोहरे (मास्क) हैं। अट्ठारह प्रबन्धक हैं, अट्ठारह वाद्य हैं और अट्ठारह ही पर्व हैं।

मूरंग किले के नीचे सेना का एक जवान बकरियाँ चरा रहा था। ये भेड़-बकरियाँ सेना द्वारा सर्दियों के लिए पाली जाती हैं। जवान बिहार से था। पूछने पर उसने हँसते हुए बताया कि जो ड्यूटी मिल जाए, हम वही करेगा।

संस्कृति में बदलाव

पूह तक आते-आते पर्वत एक-दूसरे से मिलने को आतुर हो जाते हैं। सड़क सँकरी है। पूह में आकर संस्कृति में एकदम बदलाव आ जाता है। वनस्पति, वातावरण एकदम भिन्न। बिल्कुल लाहुल-स्पिति में केलांग जैसा माहौल। यहाँ से बौद्ध गोम्पा आरम्भ होते हैं। 2,837 मीटर की ऊँचाई पर बसे पूह से लेकर 3,600 मीटर कोरिक तक और समदो होते हुए काजा वे केलांग तक यह संस्कृति व्याप्त है। पूह के गोम्पा में अभी-अभी तिब्बतियन शैली मे चित्रकारी की गई है। मनाली के कलाकार को बुलवाया गया था यह कार्य करवाने। यहाँ से बौद्ध संस्कृति आरम्भ होती है, पूरी तरह। कानम गोम्पा के बाद रिचलिंग में बाकायदा बौद्ध विहार स्थापित है जहाँ बौद्ध भिक्षु हैं, भिक्षुणियाँ हैं तथा शिक्षा-दीक्षा दी जाती है। यहाँ से नीचे किन्नौर में हिन्दू हैं किन्तु वे हिन्दू तथा बौद्ध दोनों को समान रूप से मानते हैं।

मंदिर और गोम्पा या बौद्ध मन्दिर साथ-साथ, यह रामपुर से ही आरम्भ हो जाता है। रामपुर बुशहर बस स्टैण्ड के साथ ही है बौद्ध गोम्पा। गोम्पा के साथ ही है मंदिर। यह गोम्पा भी ऐसा जिसमें कई प्राचीन पाण्डुलिपियाँ हैं। कंग्युर और तंग्युर नामक पाण्डुलिपियाँ भी यहाँ हैं। पूह के नीचे पूरे इलाके में, हर गाँव में जहाँ एक मंदिर है, वहीं एक गोम्पा है। कहीं-कहीं एक ही परिसर में एक ओर मंदिर है तो दूसरी ओर गोम्पा।

दोनों को समान रूप से पूजा जाता है। हालाँकि बौद्ध धर्म यहाँ गौण प्रतीत होता है, किन्तु लोग दोनों के समान उपासक हैं। पूह में आकर यह स्थिति बदल जाती है। यहाँ बौद्ध धर्म प्रभावी है।

किन्नौर के मंदिरों में महिलाओं का प्रवेश वर्जित है। किसी भी मंदिर के भीतर महिला को जाने की अनुमति नहीं है। युवतियों में अधिकांश को जोमो अर्थात् भिक्षुणी बना दिया जाता है। बालिका को उसकी इच्छा या अनिच्छा की परवाह किए बगैर जोमो बना दिया जाता है। इस पर यह भी त्रासदी है कि इन्हें जोमो बनने पर अपने-अपने घरों में रहना पड़ता है। किन्नौर के निचले क्षेत्र के बौद्ध मंदिरों में आवासीय व्यवस्था नहीं है। ये बौद्ध विहार न होकर मात्र बौद्ध मंदिर हैं। विशेष अवसरों पर लामाओं को अनुष्ठान के लिए बुलाया जाता है। शिक्षा-दीक्षा की इन मंदिरों में व्यवस्था नहीं है। ऐसी स्थिति में भिक्षुणियाँ घरों में ही रहती हैं। बहुपति प्रथा के कारण इस परम्परा ने जन्म लिया हो, ऐसा सम्भव है। बहुपति प्रथा का कारण कुछ भी रहा हो, समय के अनंतर इससे कुछ कुप्रथाएँ जन्मीं जिस कारण नारी शोषण का शिकार हुई। बदलते हुए परिवेश व मूल्यों के कारण अब ये परम्पराएँ धीरे-धीरे समाप्त हो रही हैं।

किन्नौर—दो

विचित्र अनुभव है बर्फ से पहले पर्वतों पर जाने का। मई के बाद जब बर्फ पिघलने लगती है, पर्वतों की ओर जाने का अलग मंजर है। अक्तूबर तक बर्फ गिरने का अंदेशा नहीं होता। नवम्बर लगते ही अम्बर के किसी अदृश्य कोने में छिपी ढेरों बर्फ हवा चलने पर रूई के ढेर को छेड़ने के मानिंद उड़-उड़कर जाने का खतरा रहता है। न जाने कब कोई धुनिया रूई के पर्वत को छेड़ दे और सारी-की-सारी रूई आकाश में बिखर जाए। सुबह आँख खुलने पर सब ढका हुआ नजर आए।

बर्फ से पहले पहाड़ों की आकृति कुछ गमगीन-सी होती है। बर्फ केवल दूर की चोटियों पर नजर आती है। जो पर्वत बर्फ रहित होते हैं, वे गुमसुम खड़े रहते हैं। रूखे-सूखे एक खतरनाक खामोशी ओढ़े। उन्नींदे से जैसे एकदम सफेद लिहाफ ओढ़े सोना चाहते हों।

अटूट रिश्ता है पर्वत और बर्फ का। जैसे घोंसला और पंछी। पंछी उड़ तो जाता है। कुछ दिन दूर भी चला जाता है। आखिर लौटता है घोंसले में ही। बर्फ बिना पहाड़ नंगे कहे जाते हैं। वैसे तो कुछेक पर्वत शिखर बर्फ के बिना नहीं रह सकते। पर्वतों के नीचे भी जमे ग्लेशियरों में ऐसी पृथ्वी है जो आज तक किसी ने नहीं देखी। जिन पर्वतों के ऊपर बर्फ गायब हो जाती है, वे मायूस खड़े रहते हैं।

पहाड़ों में नवम्बर का महीना उदास रहता है। एक अजीब-सी शान्ति, अकेलेपन की हदों को छूती छा जाती है। बर्फीली सर्दियाँ बिताने की तैयारी तो अक्तूबर में ही हो जाती है। नवम्बर में बस इन्तजार रहता है। कहीं जरा-सा सफेद बादल निकला, चाँद के गिर्द बादलों ने घेरा डाला तो बर्फ आई।

शंका भरे ऐसे माहौल में किन्नौर फिर जाना हुआ। कुछ ने चेताया भी, आजकल जाना ठीक नहीं।

पूह में आठ नवम्बर, 1995 की सुबह जब उठे तो कुछ ऐसी ही चुप्पी छाई थी। यह चुप्पी शांति की प्रतीक नहीं थी। बहुत बार अधिक शांति में दुनियादार आदमी विचलित हो उठता है। सुबह की शुरुआत खटपट और शोर-शराबे के आलम से होती हो तो एकदम शान्ति भी बेताब कर देती है...बस बहुत हुआ...कोई चिड़िया चहके।

कोई प्राणी चिहुँके। किसी लारी की घूँ, किसी मंदिर का लाउडस्पीकर या कोई कुत्ता ही अलख जगाए।

पूह की सुबह एकदम शांत थी। शिपकी दर्रे की ओट में कहीं सूरज था, बाहर झाँकने की कोशिश में। दो बार रेस्ट हाउस से बाहर हो आया। नीचे के घरों, पार के गाँव में कोई चिल्लपों नहीं। शाम को जो मस्ती के आलम में चौकीदार बरामदे में घूम रहा था, अब पता नहीं कहाँ दुबका था। एक आदमी रेस्ट हाउस के कोने वाले कमरे से दो बार प्लास्टिक का जूता पहने खटखट करता गया। किचन के बाहर घूरा और वापस हो गया। मैं फिर धूप के इंतजार में बिस्तर पर दुबक गया।

दस बजे तक कुक ने बड़ी मुश्किल से चाय और दो-दो पराँठे खिलाए। एक साथी ने और पराँठा माँगा तो नहीं मिला।

सामने पूह गाँव के सिरे पर ट्रक में सेब लादे जा रहे थे। रात सोने से पहले एक सेब का मालिक पूरा ट्रक लिये रेस्ट हाउस में आ गया था। चौकीदार ने बताया, कोई मिलना चाहता है तो मैंने भीतर बुला लिया। वह पूह का ही एक लड़का था जो सेब देने की बात के साथ अपने सम्बन्ध प्रदेश के बड़े नेताओं से बताने लगा। पूह के प्रधान के बारे में पूछा तो उसने कहा कि प्रधान उसे ही चार्ज देकर कहीं गया है। किसी से काम है तो बताओ, अभी घर से सीधा फोन करता हूँ। बार-बार आग्रह करने लगा कि मैं एक बार उसके ट्रक ड्राइवर से मिल लूँ। बहुत टालने पर भी वह नहीं माना और मुझे बिस्तर छोड़ बरामदे पर आना पड़ा। बरामदे में ड्राइवर खड़ा था जो उससे अधिक पिए था। उनसे किसी तरह पीछा छुड़ाया। देर रात तक वे वहाँ शोर-शराबा करते रहे। अंत में ट्रक मुड़ने की आवाज सुनाई दी, उसके बाद निश्चिंत हो सोया जा सका।

पूह गाँव में दस-बारह दुकानें हैं जिनके साथ नीचे रास्ता जाता है बौद्ध मंदिर तक। यहाँ एक फोटोग्राफर से मिलना था जिसके पास कुछ अच्छे फोटो थे। 'प्राण स्टूडियो' तो शुरू में ही मिल गया किन्तु प्राण खेतों में पानी देने गया था। आगे एक दर्जी था जिसके पास किन्नौरी या बुशहरी टोपियाँ थीं। जिन्हें वह एक सौ बीस रुपए से कम देने को तैयार नहीं हुआ।

प्राचीन बौद्ध मंदिर

बाजार के नीचे भित्तिचित्रों से सुसज्जित गोम्पा में समाधिस्थ बुद्ध की प्रतिमा है। पिछली बार आया था तो मनाली का एक कलाकार यहाँ काम कर रहा था। बुद्ध प्रतिमा के साथ दो शिष्य या सेवक खड़े हैं। अवलोकीतेश्वर, शाक्य मुनि की मूर्तियाँ भी यहाँ विद्यमान हैं। मंदिर में सुन्दर चित्रकारी के साथ-साथ मुखौटे तथा बौद्ध धर्म से सम्बन्धित पोथियाँ भी रखी हैं।

लो-त्सा-बई-ल्हा-खङ नाम के इस गोम्पा को लो-त्सा-वा-रिन-चेन-जंग-पो अर्थात् रत्नभद्र द्वारा निर्मित माना जाता है। दूसरा गोम्पा माणी है जिसमें बोधिसत्व की प्रतिमाएँ हैं।

उल्लेख है कि डॉ. ए. एच. फ्रैंक लेह जाते हुए 2 जुलाई से पाँच जुलाई 1904 तक पूह में ठहरे। उन्होंने पूह के नीचे गाँव में तिब्बती भाषा में एक सौ अस्सी सें. मी. ऊँचे पत्थर में एक शिलालेख देखा। इसका नीचे का आधा भाग मनुष्य रूप और ऊपर का आधा भाग स्तूप में निर्मित था। प्रतिमा की दूसरी ओर ग्यारह पंक्तियों का तिब्बती भाषा में लेख था। पहली दो पंक्तियों, जो ठीक हालत में थीं, में ग्यारहवीं शताब्दी के गुगे के शासक का नाम था जिसने रिन-चेन-जंग-पो तथा दूसरे तिब्बती विद्वानों को कश्मीर तथा भारत में बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए भेजा और एशिया के बौद्ध भिक्षुओं को अपने राज्य में बुलाया। दस राजकुमार पूह में भी भेजे गए। लेख के अन्त में उल्लेख है कि उन्होंने यहाँ कुछ स्थापित किया। अतः सम्भवतः पूह में यह पहला बौद्ध स्थान था।

बौद्ध मन्दिर देखने के बाद पिछली बार हम प्रधान के घर भी गए थे। जिन्होंने बताया कि राहुल उनके घर ठहरे थे।

किन्नौर में कुश्ती

छः नवम्बर को हम शिमला से चले थे। जब निकले तो ताबो पहुँचने का इरादा था। पूह में जीप में खराबी आने से आगे जाना खतरनाक हो गया।

शिमला से चलने के बाद शाम को ज्यूरी पहुँचे जहाँ सड़क से ऊपर नए रेस्ट हाउस में रात बिताई। पुराने रेस्ट हाउस के साथ ही नया बना है। बिल्कुल आधुनिक। इसका उद्घाटन अभी दो अक्तूबर को प्रदेश के मुख्यमन्त्री वीरभद्र सिंह द्वारा हुआ। उद्घाटन प्लेट अभी चमचमा रही थी और ऊपर के कमरों में रहने वाले हम पहले व्यक्ति हो सकते थे।

ज्यूरी का यह रेस्ट हाउस नीचे है। यहाँ से सराहन की तरह किन्नौर की पर्वत शृंखलाओं का नजारा देखने को नहीं मिलता। रेस्ट हाउस के साथ बने हनुमान मंदिर में सुबह ही हनुमान चालीसा के पाठ ने जगा दिया।

सात नवम्बर जब लगभग दो बजे किन्नौर के मुख्यालय रिकांग पियो पहुँचे तो वहाँ कुश्ती देखने को मिली। किन्नौर में कुश्ती देखना एक रोमांचक अनुभव था। हिमाचल में बिलासपुर कुश्ती के लिए प्रसिद्ध है। जहाँ से घर के बाहर लाल कच्छा टँगा नजर आए, समझो बिलासपुर शुरू हो गया। मण्डी, काँगड़ा, हमीरपुर में छिंज मेलों में कुश्तियाँ होती हैं।

जिलाधीश श्री रिज़वी ने बताया कि कुछ नवीनता लाने के लिए यहाँ पहली बार इस जनजातीय मेले में कुश्ती का आयोजन किया गया है। हमारे सामने किन्नौर के ठंगी गाँव का एक पहलवान कुश्ती लड़ रहा था। बिलासपुर की कुश्तियों में ढोल बजाने वाले बुजुर्ग ढोली ढोल बजा रहे थे। अंतिम कुश्ती माली कुश्ती मण्डी के एक युवा पहलवान ने जीती।

जनजातीय मेला या किन्नौर लवी को आरम्भ हुए अभी ज्यादा समय नहीं हुआ है। पहले जनजातीय मेला अब किन्नौर लवी में बदला गया है। यह मेला सरकार की ओर से राज्य स्तरीय मेला घोषित है। जिस तरह रामपुर लवी में किन्नौर के व्यापारी पशम, बादाम, अखरोट, विलगोजे, सेब, शालें, पट्टू-दोहड़ू बेचते हैं, वैसे यहाँ नजर नहीं आए। हाँ, कुछ लोग खुले में अखरोट, सूखी खुमानी, ऊन आदि अवश्य बेच रहे थे। मेला जिलाधीश कार्यालय के इस ओर स्टेडियम में और थोड़ा ऊपर बाजार में ज्यादा भरा था। भीड़ भरे मेले में दूसरे मेलों की तरह धक्के लगाते कुछ मसखरों के अतिरिक्त दिल्ली से आए रैगज़ बेचने वालों का विशेष आकर्षण था। अपनी सधी हुई मोटी और ऊँची आवाज में वे जैकेट, कोट, स्वेटर आदि बेच रहे थे। रैगज़ का भारत में बड़ा महत्त्व है, विशेषकर ठंडे इलाकों में। रैगज़ की महिमा अपरम्पार है। रैगज़ ने गरीबों का सर्दी में तन तो ढाँपा ही है, अमीरों को भी अमीर बनाया है। चोरी से खरीदी गई जैकेटों को वे विदेश में रह रहे रिश्तेदारों द्वारा लाई भेंट बताते हैं। कुछ लोग लज्जावश नौकरों के नाम ऐसी चीजें खरीदकर खुद पहनते हैं। अब तो जैकेट, कोट, ओवरकोट, टी-शर्ट, यहाँ तक कि कमीज-पैंट भी मिल जाती हैं।

कौन-सा है शिवलिंग?

किन्नौर का मुख्यालय रिकांग पियो अब दो भागों में विभक्त है। पहले जिलाधीश तथा अन्य कार्यालय ऊपर काल्पा में थे, अब नीचे हैं। काल्पा की ऊँचाई अधिक है। नीचे पियो 2,290 मीटर की ऊँचाई पर है तो काल्पा यहाँ से दस किलोमीटर ऊपर 2,900 मीटर पर। काल्पा का छोटा-सा बाजार जो बिल्कुल सिरे पर है, अब सूना हो गया है। हालाँकि यहाँ चिलगोजे के पेड़ों के अतिरिक्त देवदार हैं।

काल्पा से नीचे उतरती बार जब मैं किन्नर कैलास के फोटो लेने लगा तो एक किन्नौरी महिला ने कैमरे में किन्नर कैलास दिखाने को कहा। बातों-बातों में उसने बताया कि किन्नर कैलास पहले पर्वत के साथ 'वी' आकार के दाईं ओर छोटा-सा उभरा हुआ लिंग है। यही असली शिवलिंग है। आजकल किन्नर कैलास के शिवलिंग के फोटो बिक रहे थे। किन्नौर के ही एक सज्जन ने बताया कि ये असली शिवलिंग के फोटो नहीं हैं। ऐसे कई शिवलिंग हैं कैलास में। यह सही भी है। सांगला की ओर किन्नर कैलास के पृष्ठभाग में पर्वत के ऊपर ऐसे कई शिवलिंग दिखाते हैं। सम्भवतः उस महिला ने जो बताया, वही असली शिवलिंग होगा।

महिला हमारे साथ जीप में सवार हो गई। वह मेले पे चिलगोजे बेचने जा रही थी। हमने उससे चिलगोजे सस्ते में लेने चाहे। किन्नरी लोगों को ठगना अब आसान नहीं है। हर क्षेत्र में बादाम, चिलगोजे अब एक ही भाव बिकते हैं। उसने भी मेले में भाव पता करने के बाद चिलगोजे देने की बात कहीं। नीचे पहुँचे, उसने दुकान में जाकर भाव पता किया और हमें एक सौ तीस रुपए प्रति किलो देने को मानी। एक दूकान में

नई किस्म के तराजू से तोलने से इन्कार करने पर दूसरी दुकान में तकड़ी से तोलने पर ही उसने चिलगोजे दिए। बाजार में भाव एक सौ साठ था। बाजार की दुकानों में बादाम, राजमाह उपलब्ध थे।

कानम

अगले दिन ताबो न जा पाने पर हम कानम आ गए।

स्पिलो में एक सौ अस्सी रुपए किलो कागजी बादाम लेने पर जब कानम जाने की बात हुई तो वहीं कानम मठ के एक लामा मिल गए। यह लामा आम लोगों की वेशभूषा में थे और स्पिलो चिलगोजे की बोरी बेचने आए थे। उन्होंने बताया, असली लामा मठ में हैं, मुझे चिलगोजे बेचने भेजा है। दुकानदार यहाँ सौ रुपए किलो ले रहे हैं जब कि कल भाव एक सौ तीस रुपए था। इसलिए वापस ले जा रहा हूँ। लामाजी को जीप में बिठा लिया बोरी समेत।

स्पिलो से कानम बिल्कुल सामने दिखता है। इस बड़े गाँव के लिए पैदल चढ़ाई का रास्ता भी नजर आता है। सड़क पिछली ओर है, स्पिलो से कुछ आगे जाकर। पाँच-सात किलोमीटर का यह रास्ता बहुत लम्बा लगा। बीच-बीच में सड़क बहुत खराब थी। लबरंग के नीचे हमीरपुर का एक ट्रक मालिक सेब लदवा रहा था। उसने बताया, आगे मोड़ पर बहुत बड़ा गढ़ा है, इसलिए जीप न ले जाएँ। ट्रक के पास गाड़ी खड़ी कर हम आगे नाला पार कर पैदल गाँव तक गए। लामाजी बोरी उठा हमारा इंतजार किए बिना आगे निकल गए।

नाले से एक कुहल के साथ-साथ चलते हुए हम एक दुकान में जा पहुँचे। दूकान के बाहर के वृद्ध लामा अधलेटे धूप में सेंक रहे थे। यहाँ एक बड़े खेत के बाद वह गोल छत वाला बौद्ध मंदिर था जहाँ दुर्लभ कंग्युर तथा तंग्युर ग्रन्थ रखे हैं। दूसरे खेत के बाद गाँव शुरू होने से पहले मंदिर था जो डाबला देवता का बताया गया।

वृद्ध लामा जिसका नाम पदमजीत था, अपने को गाँव के सभी मठों का लामा बता रहे थे। जब उनसे पूछा कि अलेक्जेंदर चोमा कहाँ रहते थे तो उन्होंने बताया कि ऊपर के मठ में जिसका नाम खाचे-ले-खङ है। वहाँ एक लामा भी है जो अंग्रेजी बोलता है। आपसे अंग्रेजी में बात करेगा। उससे बात करो। सब पता चलेगा। वृद्ध लामा ने अपने को कंग्युर-तंग्युर वाले मठ का मुख्य लामा बताया।

खाच़े-ले-खङ

खाच़े-ले-खङ गाँव में सबसे ऊपर है। डाबला देवता के ऊपर दुकान में चिलगोजे वाले लामाजी बैठे मिले। उनके साथ गाँव के बीच से चढ़ते हुए मुख्य मठ तक पहुँचे।

एक छोटे दरवाजे के भीतर घुसने पर आसपास छोटी कोठरियाँ नजर आईं, जिनमें से कुछ में ताले लगे हुए थे। ये कोठरियाँ लामाओं के लिए थीं। नीचे की ओर की

कोठरियों की पंक्ति टेढ़ी हो गई थी और बाहरी दीवार का पेट फूल गया था।

मुख्य मंदिर के दरवाजे पर एक प्लेट लगी थी, जिसमें अंग्रेजी में लिखा था। 'डेडीकेटेड टु द मेमोरी ऑफ अलेक्जेंदर चोमा दे कोरोश : 1827-1830'।

अलेक्जेंदर चोमा दे कोरोश (1784-1842) पहला यूरोपियन था जो सन् 1823 में लेह लद्दाख होता हुआ यहाँ पहुँचा। चौदह भाषाओं के ज्ञाता कोरोश को यहाँ मूरक्राफ्ट ने तिब्बती सीखने के लिए भेजा। अलेक्जेंदर चोमा हंगेरियन था। 26 जून, 1823 को लद्दाख के जांग्ला में एक वर्ष रहने के बाद वह जून, 1827 में कानम आया और नवम्बर, 1830 तक यहाँ रहा। यहाँ रहकर उसने तिब्बती-अंग्रेजी कोश पूरा किया। यह कोश 1834 में कलकत्ता से छपा।

हंगरी के कोरोश गाँव में जन्मे कोरोश ने नवम्बर 1819 में यात्राओं के लिए स्वदेश छोड़ दिया। बगदाद, तेहरान, काबुल, लद्दाख आदि स्थानों की यात्रा के बाद चोमा की भेंट 1922 में मूरक्राफ्ट से हुई। हंगेरियनों के प्राचीन देश की खोज में निकले चोमा की भेंट जांग्ला (लद्दाख) में लामा सङ-ग्यस-फुंछोग के साथ हुई। जहाँ तिब्बती भाषा सीखी। 1827 में कानम आकर लामा सङ-ग्यस-फुंछोग के साथ रहकर शब्दकोश, व्याकरण तथा बौद्ध वाङ्मय के ग्रंथ पूरे किए। लामा सङ-ग्यस-फुंछोग जून, 1830 में जांग्ला लौट गए। अप्रैल 1842 में दार्जिलिंग में मलेरिया होने से चोमा की मृत्यु हो गई।

चोमा की जीवनी कृष्णनाथ द्वारा लिखी गई है जो हिमाचल अकादमी द्वारा प्रकाशित सोमसी के जून-सितम्बर, 1995 अंक में छपी है।

चोमा किस कोठरी में रहते थे, यह जानते की इच्छा थी। चिलगोजे वाले लामाजी इस स्थान को सही-सही नहीं जानते थे।

मठ के बाहर तथा भीतर आकर्षित भित्तिचित्र बने हुए थे। बीच में बुद्ध की आकर्षक प्रतिमा। मठ में गे-लुग-पा सम्प्रदाय के लामा रहते हैं।

मठ के ऊपर और सीढ़ियाँ चढ़ने पर लामाजी का स्थान है। यहाँ वृद्ध लामा गुरु हीराचन्द और युवा मुख्य लामा लोपर्जेग गेडुन में से भेंट हुई। युवा मुख्य लामा इसी गाँव का रहने वाला है। दो वर्ष पहले वह मैसूर से पढ़कर आया है। उसने बताया, लामा और जोमो (भिक्षुणी) के लिए यहाँ अलग-अलग भवन हैं, जिसमें पन्द्रह-सोलह जोमो और नौ-दस लामा लोग रहते हैं।

गुरु लामा ने हमें नमकीन चाय पिलाई और बताया कि चोमा इसी कोठरी में रहते थे जहाँ वह अब खुद रहते हैं। यह कोठरी बहुत छोटी है और दरवाजा बहुत ही छोटा। कृष्णनाथ ने चोमा की जीवनी की भूमिका में लिखा है कि चोमा मुख्य गोम्पा के थोड़ा ऊपर एक पत्थर, मिट्टी, लकड़ी का एक छोटा-सा घर, छोटा-सा बरामदा बनाकर उस कोठरी में रहते थे। उसमें सिर झुकाकर प्रवेश किया जा सकता है। सम्भवतः यही वह कोठरी थी। इस समय यह कोठरी और गोम्पा एक ही भवन, एक ही परिसर लगते हैं।

खाचे-ले-खङ का दूसरा नाम लुंडुप गंफेल गोम्पा है। खाचे का स्थानीय भाषा में अर्थ मुस्लिम लिया जाता है। राहुलजी के अनुसार 'खाचे' का अर्थ मुस्लिम ही नहीं कश्मीरी भी है। उन्होंने 'खाचे रोक्खङ' को मुसलमानों की कब्र नहीं माना। जो कब्रें लिप्पा में मुसलमानों की मानी जाती थीं, उनका राहुलजी ने अलग तरह से विश्लेषण किया है। राहुलजी के अनुसार इस मठ का निर्माण रिन-चेन-जंग-पो (रत्नभद्र) ने कश्मीर आते-जाते समय कश्मीर शैली में किया।

मठ से चलने से पूर्व हमने चिलगोजे वाले लामा से सौ रुपए किलो देने की बात कही किंतु मुख्य लामा ने यह सौदा स्वीकार नहीं किया।

कंग्युर-तंग्युर

कंग्युर-तंग्युर बौद्ध परम्परा के एनसाइक्लोपीडिया हैं। कंग्युर में बुद्ध के वचन और तंग्युर में शास्त्रों के तत्त्व संगृहीत हैं। इस दुर्लभ परम्परा का संग्रह नीचे के बौद्ध मंदिर में विद्यमान है। कहते हैं कि इन ग्रन्थों में लगा कागज दुर्लभ किस्म का कागज है। गोल छत वाले बौद्ध मंदिर में ये ग्रन्थ सुरक्षित हैं। इस मंदिर में भी बुद्ध की बड़ी प्रतिमा है। यहाँ लगभग 198 कंग्युर और 200 तंग्युर पोथियाँ हैं।

तीसरा मठ लबरंग कहलाता है जिसे लोचा-द-पोछे भी कहते हैं। इसमें मैत्रेय तथा तारा की मूर्तियाँ हैं।

सम्भवतः यह इस ओर का अंतिम गाँव है। जहाँ इन बौद्ध विहारों के साथ डावला देवता का मंदिर भी है। पूह में ऐसा कोई हिन्दू मंदिर नहीं है। पूह से आगे तो पूरी तरह बौद्ध संस्कृति हावी है। कानम से पहले हर गाँव में जहाँ किसी देवी या देवता का मंदिर है, वहीं बौद्ध मंदिर भी है। यह परम्परा रामपुर से आरम्भ होती है।

क्या कहते हैं यात्री !

कानम के मठ रिन-चेन-जंग-पो (रत्नभद्र) (958-1055) के समय के माने जाते हैं तथापि इनका जीर्णोद्धार तथा पुनर्निर्माण होता रहा है। अपनी पुस्तक 'पीक्स एण्ड लामाज' में मार्को पालिस ने लिखा है कि जब वे 1933 में कानम में थे, उस समय बौद्ध मंदिरों की मुरम्मत हो रही थी। अलबत्ता उन्हें गिराकर दुबारा ही बनवाया जा रहा था। यह काम लद्दाख के एक चित्रकार की देख-रेख में हो रहा था। उसके अधीन वरिष्ठ लामा, मिस्त्री और कनिष्ठ लामा व ग्रामीण मजदूर के तौर पर कार्य कर रहे थे। अतः निर्देशक (लद्दाख के चित्रकार) के अतिरिक्त सभी कामगार कुशल नहीं थे। तथापि चिनाई और लकड़ी का काम उत्तम था। दीवारों को चित्रों से ढंकना संभवतः कलाकार का मंतव्य था। राहुल सांकृत्यायन 1949 में यहाँ आए जिन्होंने खाचे-ले-खङ को कश्मीरी शैली का कहा।

कानम के ठीक पार लबरंग है जहाँ दो गोम्पाओं के अतिरिक्त दूर से दिखाई देने

वाला लवरंग किला है। किले में पुराने हथियार रखे हुए हैं और किन्नौर के किलों की शैली में निर्मित है।

अंतिम गाँव छितकुल

किन्नौर की सांगला घाटी का अंतिम गाँव छितकुल एक विलक्षण गाँव है। किन्नौर का एक गाँव होते हुए भी वह कई संस्कृतियों का संगम प्रतीत होता है। वैसे भी यहाँ तिब्बत, बद्रीनाथ, रोहडू के लिए 'जोत' खुलते हैं। यहाँ देवी के नवरात्रे मनाए जाते हैं, शिव तप के लिए जाते हैं, महासू देवता के लिए बकरा काटा जाता है, लामा लोग टाणा-माणा करते हैं।

1990 के बाद सांगला में बदलाव के प्रतीक नजर आए। सांगला में बस्पा और हाईवे के नाम से दो होटल खुल गए। लोक-निर्माण विभाग का पुराना आवास-गृह उखाड़ नया बनाया जा रहा है। बिजली बोर्ड का एक भव्य और सुंदर आवास-गृह बन गया था। छितकुल गाँव के देवी के पुजारी की आँखों में ऐनक लग गई। रामपुर में पथरी के आपरेशन के बाद वह कमजोर नजर आया।

नौ नवम्बर की रात सांगला पहुँचे तो लोक-निर्माण विभाग का रेस्ट हाउस उखड़ा हुआ पाया। हालाँकि करछम में जगह न मिलने पर चौकीदार ने सांगला में पता करने को कहा था। दुकान में पूछा तो बस्पा गेस्ट हाउस का नाम बताया। हमने सोचा बस्पा प्रोजेक्ट का रेस्ट हाउस होगा। यह प्राइवेट गेस्ट हाउस था। उन्होंने यह भी बता दिया कि बिजली बोर्ड के रेस्ट हाउस में आपको जगह नहीं मिल पाएगी। वन विभाग रेस्ट हाउस में बिजली नहीं है। जब उन्होंने ऐसे बहाने लगाए तो निश्चित हो गया, वे प्राइवेट गैस्ट हाउस की वकालत कर रहे थे। आखिर रात ठहरने का प्रबन्ध हुआ। कुछ को बस्पा गेस्ट हाउस में रुकना पड़ा, कुछ यूको बैंक में ठहरे।

सांगला में पूह से ज्यादा ठण्ड महसूस हुई। हालाँकि सांगला 2,680 मीटर की ऊँचाई पर है और पूह 2,837 मीटर पर। पूह एक ऊँचे पहाड़ पर है जहाँ धूप पड़ती है। सांगला खुली घाटी है कैलास के पृष्ठ भाग में।

सुबह ही हम छितकुल के लिए चल दिए। सांगला घाटी खुलती हुई छितकुल में सँकरी बनती है। यहाँ बस्पा नदी का पानी बहुत कम रह जाता है। सांगला के थोड़ी आगे जाकर बस्पा के पार एक बड़ा गाँव नजर आता है जिसमें काष्ठ मंदिर अपनी अलग पहचान बनाते हैं। आगे रॉकछम 649 की जनसंख्या का गाँव। शिव मन्दिर के साथ अद्‌भुत काष्ठ मंदिर। 2,500 मीटर से ऊपर की ऊँचाई को घाटी कहना अजीब लगता है। किन्तु किन्नौर और स्पिति के पहाड़ों में भी अद्‌भुत घाटियाँ और मैदान हैं। पहाड़ों में मैदान और मैदानों में पहाड़। अद्‌भुत भौगोलिक संरचना है।

सांगला से बस्पा नदी के दाएँ किनारे चलते हुए सांगला तक पहुँचते-पहुँचते देवदार के जंगल बौने भोजवृक्षों में बदल जाते हैं। भोजवृक्ष के बाद कोई पेड़ नहीं

होता। इसे सबसे ऊँचे स्थानों पर उगने का गौरव प्राप्त है, शायद इसीलिए वंदनीय है।

पर्वतों के बीच जितनी बार जाओ, नित नए-नए दिखते हैं। अलग मौसम में अलग तेवर। अलग समय में अलग मुद्रा। जो मुद्रा सूर्य की पहली किरण के साथ होगी, वह धूप निकलने पर नहीं रहेगी। जो दोपहर को होगी, वह शाम को नया रंग लाएगी।

छितकुल में इस बार कुछ नई बातें जानने को मिलीं। गाँव में उस दिन सब्सिडी का राशन आया हुआ था। अधिकतर लोग अपने-अपने कोठारों में घुसे हुए थे। किन्नौर में अनाज रखने के लिए छोटे-छोटे लकड़ी के भण्डार होते हैं। एक छोटा-सा कमरा लकड़ी की दीवारों से घिरा, जमीन से कुछ ऊपर उठा हुआ। एक सुंदर घर-सा दिखता है। लोग कोठारों में अनाज भर रहे थे।

रेस्ट हाउस में चाय के लिए बोलकर मंदिर देखने गए तब तक स्कूल खुल चुका था। छितकुल के मिडिल स्कूल में एक सौ चालीस के लगभग बच्चे थे। जिनमें लड़कियों की संख्या अधिक थी। प्रार्थना के समय सबसे आगे लड़कियाँ ही लड़कियाँ खड़ी थीं। अध्यापक, जो ऊना से था, ने बताया कि अब लोग बच्चों को पढ़ाने लगे हैं। लड़कियाँ स्कूल ज्यादा आती हैं। गाँव से दो लड़के डॉक्टरी कर रहे हैं, दो एम. एस-सी. में पढ़ रहे हैं।

बस्पा के दाईं ओर पहाड़ी के छोटे से एरिया में बसा छितकुल फिल्म नगरी के कल्पना गाँव-सा लगता है। सड़क के ऊपर एक ओर रेस्ट हाउस, दूसरी ओर एक ओर सरकारी बिल्डिंग। आगे स्कूल। ऊपर आसपास घर, बीच में देवी का मंदिर, गोल छत वाला वास्तुकला का एक नमूना। उससे ऊपर किलानुमा मंदिर जो शिव को समर्पित है। सबसे ऊपर बौद्ध मंदिर। गाँव के नाम में लगी पट्टिका में जनसंख्या 434 लिखी है जो अब लगभग 500 है।

देवी का ग्रौच या माली गंगालाल ही रेस्ट हाउस का चौकीदार है। एक पुजारी का नाम श्रीनंद और दूसरा तोताराम है। देवी की एक पालकी है, जिसे अब बंद कर किले में रख दिया है। देवी की पालकी अब चैत्र के नवरात्रों में सजेगी। माली ने बताया, देवी मंदिर के आगे विभिन्न मेले लगते हैं। बीस असौज को फुलाइच होता है जो सारे किन्नौर में फूलों का त्यौहार है। आषाढ़ संक्रान्ति को मरजा, सावन संक्रान्ति को दखारवी, बीस सावन को शुनेटन, बीस भादों को जागरा मनाया जाता है।

देवी का मंदिर चार-पाँच पीढ़ी पहले बना है, गंगालाल ने बताया। पहले यह मंदिर ऊपर था। अब भी वर्ष में एक बार उस स्थान की पूजा की जाती है। "देवता शिव आजकल ढाँक में गया है तप करने," गंगालाल ने बताया, "शिव का निशान त्रिशूल वहाँ ले जाया जाता है जो माघ में वापस आएगा, जब खेत में बीज छोड़ेंगे। शिव का त्रिशूलनुमा यह निशाना एक पुहाल को मिला था। उसकी गोद में आ गिरा जब वह सोया था। इसे त्रिशूल की शक्ल देकर स्थापना की गई।"

बौद्ध मंदिर के लामा का नाम सनम गेछो है। लामा धर्म के साथ फुलाइच और जागरा जैसे उत्सवों के साथ महासू देवता के लिए बकरा काटा जाता है।

3,450 मीटर की ऊँचाई पर बसे इस गाँव में केवल दो ही जातियाँ हैं—खौशा और चमङ। दस घर चमङ के हैं, जिन्हें अछूत माना जाता है। वे मंदिर के भीतर नहीं आ सकते। पुजारी ने बताया ये लोग पहले गाय खाते थे, इसलिए अछूत हुए।

रेस्ट हाउस में वापस आने पर चौकीदार के लड़के ने चाय बनाई। पराँठे स्टोव पर बन नहीं पाए इसलिए अण्डे उबाले गए। गंगालाल ने बताया वह सीमा तक गया है जो यहाँ से 52 कि.मी. है। सन 1962 में सेना के मेजर के साथ सीमा मापते हुए गया था। 1966 में यहाँ पहली बार जीप आई। सामने धौला पीक है जिसके पीछे बारह किलोमीटर लम्बा मैदान है। बस्पा नदी गुंडार ग्लेशियर से निकलती है।

गाँव में आलू-मटर की खेती होती है। चौकीदार ने इस साल पहली बार मुर्गियाँ पाली हैं, "देखता है टिकता है या नहीं।"

गाँव की बोली किन्नौरी से थोड़ी भिन्न है। बोलने का लहजा रोहडू से मिलता है। राकछम और छितकुल की बोली लगभग एक-सी है। दोनों गाँव में आपस में रिश्ता होता है। गंगालाल का एक लड़का फौज में है जो अब घर नहीं आता। बहुपति प्रथा के बारे में गंगालाल ने कहा, "अलग-अलग घर बर्बादी है, एक घर आबादी है। ऐसा हमारा बुजुर्ग कहते थे। एक रहने के लिए, इकट्ठा होने के लिए यह जरूरी है।"

छितकुल में संस्कृति को रास्ता देते पर्वत हैं जो संस्कृति के द्वार हैं।

सर्दियों में सन्नाटा

कर्मचारियों के लिए इन क्षेत्रों की सर्दियाँ जोखिम-भरी होती हैं। सर्दियों का सन्नाटा उनका मनोबल तोड़ता है। सांगला वापस आने पर यूको बैंक के एक कर्मचारी ने वहाँ पहली बार तैनात एक आदमी का किस्सा सुनाया, "पिछले साल वह यहाँ बदलकर आया। जिस रात वहाँ पहुँचा, बत्ती चली गई, बर्फ गिरने लगा। वह रोने लग पड़ा... मैं यहाँ कहाँ फँस गया... अब मरकर ही निकलूँगा। मैंने कहा—घबराता क्यूँ है। चलो खाना-वाना खाते हैं, दारू-शारू पीते हैं।"

सांगला के सामने कामरू गाँव में बौद्ध मन्दिर है और बद्रीनारायण मंदिर होते हुए हम कामरू किले में पहुँचे। दोपहर को किले का भीतरी द्वार बंद था। कोई कर्मचारी भी नजर नहीं आया जो द्वार खोलता। पिछली बार मैं भीतर जा चुका था, इसलिए कुछ सुस्ताने के बाद वापस लौट आए।

पुरातन राजधानी कामरू

कामरू या मोने बुशहर राज्य की पुरातन राजधानी है। देवता बद्रीनारायण भीमाकाली के बाद बड़ा देवता है। बद्रीनारायण को कृष्ण रूप में ही माना जाता है।

बुशहर राजवंश भी कृष्ण से माना जाता है। वंशावली में कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न और प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का बाणासुर की पुत्री उषा से विवाह हुआ। अनिरुद्ध-उषा से आगे का वंश चला। यद्यपि बाणासुर और उषा-अनिरुद्ध उपाख्यान नेपाल, गढ़वाल में भी प्रचलित है। कामरू के राजा छतरसिंह (1525) ने बुशहर राज्य स्थापित किया। राजा कल्याणसिंह, जिसे जहर देकर मारा गया था, कामरू में देवता के रूप में पूजित है। यहाँ राजा का देवता की भाँति रथ बना हुआ है कल्याणसिंह के बाद केहरीसिंह गद्दी पर बैठा जो दिल्ली दरबार में भी गया।

कामरू किले के गोल पत्थरों से हुई क्षति की बात बुजुर्ग करते हैं। ऐसे एक हथियार, जिसे धिग कहते थे, का वर्णन मिलता है। लकड़ी के एक बड़े लट्ठ को कई आदमी खींचकर मारते थे जिससे पत्थर के गोले दूर तक मार करते थे। फ्रेजर ने 1815 में बुशहर रियासत की सेना में तीन हजार सैनिक बताए हैं। इन सैनिकों में हजार के पास पलीते वाली बंदूकें थीं। शेष के पास बाँस के धनुष और हड्डी के फल वाले तीर थे।

भीमाकाली सराहन

दस नवम्बर की रात्रि सराहन सर्किट हाउस में बिताई। भीमाकाली मंदिर के ऊपर की ओर बना यह सर्किट हाउस ऊँची जगह है जहाँ से किन्नौर व स्पिति के बर्फ से ढके पहाड़ झाँकते हैं। इस सर्किट हाउस का उद्घाटन 22 अगस्त, 1988 को मुख्यमन्त्री श्री वीरभद्र सिंह द्वारा हुआ था।

शिमला से 184 किलोमीटर पर भीमाकाली सराहन वास्तुकला की दृष्टि से अद्भुत शिल्प का उदाहरण है। वास्तुशिल्प, काष्ठकला, धातुकला सभी के उत्कृष्ट नमूने यहाँ मिलते हैं। ए. एच. फ्रैंक ने इस स्मारक को पहाड़ी वास्तुकला का सर्वोत्तम नमूना माना है।

सराहन को शोणितपुर माने जाने की किंवदन्ति के अनुसार इसे बाणासुर से जोड़ा जाता है। बाणासुर की राजधानी कामरू भी मानी जाती है। बाणासुर के विषय में कई कथाएँ प्रचलित हैं किन्तु उन लोककथाओं पर न जाकर यहाँ भीमाकाली के प्रत्यक्ष रूप का वर्णन महत्त्वपूर्ण है।

बाजार के बाईं ओर सीढ़ियाँ चढ़ने पर भीमाकाली का पहला द्वार है। द्वार के भीतर खुली जगह है जिसके साथ गोल चबूतरा है। बाईं ओर अब मंदिर की ओर से रेस्ट हाउस बना है। जिसके अंतिम छोर पर शिखर शैली का विष्णु मंदिर है। नृसिंह अवतार को समर्पित इस मंदिर के पास पुराने मंदिर के अवशेष भी पड़े हैं।

सामने दूसरा द्वार है जिस पर चाँदी मढ़ी है। चाँदी में कलात्मक नक्काशी हुई है। पिछली बार जब आया था तो दौलतराम नाम का एक कलाकार चाँदी में नक्काशी कर रहा था। सराहन के आसपास चाँदी तथा लकड़ी में सुंदर नक्काशी करने वाले कलाकार आज भी मौजूद हैं। दौलतराम को इस शिल्प के संरक्षण के लिए गुरु-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत इसी वर्ष (1995) से हिमाचल अकादमी द्वारा पेंशन लगी है।

दरवाजे के दोनों ओर शेर बने हुए हैं। चाँदी में समाधिस्थ शिव, गणेश, दुर्गा, राम, हनुमान, राधा-कृष्ण की प्रतिमाएँ अंकित हैं। दोनों दरवाजों पर सिंहमुख में गोल हैण्डल लटक रहे हैं। यह द्वार महाराजा पद्मसिंह (1914-1927) के समय बनवाया गया था। दरवाजे पर तीनों द्वार महाराज पद्मसिंह द्वारा 1927 में बनवाए जाने का उल्लेख है।

दरवाजे के भीतर एक गलियारा है। ऊपर तीन छतें हैं। ऊपर रघुनाथजी का मंदिर है, यहाँ राधा-कृष्ण के साथ अन्य छोटी-छोटी किन्तु बहुमूल्य मूर्तियाँ हैं। सोने, चाँदी, अष्टधातु से निर्मित ये छोटी मूर्तियाँ पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। छोटे-से चाँदी के मंदिर में रखी मूर्तियाँ, अलमारी में रखे राधा-कृष्ण, शिव, बालगोपाल ध्यान आकर्षित करते हैं।

इस द्वार के आगे एक और परिसर है जहाँ से सीढ़ियों के ऊपर दो मुख्य भवन दिखाई देते हैं। एक नया, एक पुराना। यहाँ भीतर जाने के लिए टोपी पहननी होती है। नीचे से देखने पर ही इन भवनों की वास्तुकला, छोटे बरामदों के बाहर सुंदर काष्ठकला सामने आ जाती है।

पुराना भवन अब बंद है। यह टेढ़ा हो गया है। सम्भवतः 1905 के भूकम्प में। अब देवी की मूर्ति नए भवन में है।

नए भवन में छोटे दरवाजे से प्रवेश होता है। ऊपर की मंजिलें चढ़ने के लिए दिशा निर्देश बने हुए हैं। छोटे दरवाजे में भी चाँदी लगी है जिसमें छोटे आकार में नक्काशी हुई है। इसमें भी हैण्डल तथा देवी-देवताओं के चित्र बने हुए हैं।

दोनों भवनों में की गई काष्ठकला हिडिम्बा देवी मंदिर, मनाली, महादेव तथा परशुराम मंदिर निरमण्ड, पराशर मंदिर कुल्लू व मण्डी की याद दिलाती है। देवी-देवता, फूल-पत्ते, आकर्षक डिजाइन इस काष्ठकला के नमूने हैं।

तीसरी मंजिल में भीमाकाली का मंदिर है जिसका छोटा दरवाजा नक्काशी से परिपूर्ण है। यहाँ देवी की साढ़े तीन फुट के लगभग चाँदी की सुन्दर प्रतिमा है। देवी को आकर्षक आभूषणों से अलंकृत किया गया है। देवी की प्रतिमा चाँदी के प्लेटफॉर्म पर है जिसमें चार स्तम्भ लगे हैं।

मुख्य प्रतिमा के साथ अन्य कई छोटी प्रतिमाएँ हैं। इनमें एक मोहरा (मास्क) और बुद्ध की प्रतिमा अलग नजर आती है।

चौथी मंजिल में चाँदी के एक और द्वार के भीतर दुर्गा रूप में भीमा काली की लगभग चार फुट ऊँची मूर्ति है। इस प्रतिमा को भी आभूषणों से सजाया गया है। यहाँ भी मोहरा सहित कुछ अन्य मूर्तियाँ रखी हैं। इनमें शिव-पार्वती और बुद्ध प्रतिमाएँ हैं।

मंदिर परिसर में ही अब एक संग्रहालय बना दिया गया है, जिसमें मूर्तियाँ, पुराने आयुध तथा अन्य सामग्री रखी गई है। मंदिर हिमाचल सरकार द्वारा मंदिर अधिनियम के अन्तर्गत ले लिया गया है और इसकी व्यवस्था अनुरक्षण की दृष्टि से सर्वोत्तम है।

तन्त्रवाद

भीमाकाली में लाँकड़ा वीर प्रतिमा के साथ एक गहरा रास्ता जो पता नहीं कहाँ निकलता है। यह रास्ता कहाँ जाता है, किसी को नहीं मालूम। शायद यह स्थान नरबलि के लिए प्रयुक्त होता हो। ऐसी शंका रोनाल्ड एम. बर्नियर ने 'हिमालयन टावर्ज़' में व्यक्त की है। ए. एच. फ्रैंक, जिसे इस परिसर में दाखिल नहीं होने दिया था, ने लिखा है—"पुरातन काली मंदिर में एक गहरा गड्ढा बताया जाता है। यह अफवाह है कि प्रत्येक दसवें वर्ष यहाँ नरबलि दी जाती थी, और यह अब भी गुप्त रूप से जारी है।" 1921 में लायड गेरार्ड ने नरबलि का उल्लेख किया है जो ब्रिटिश राज में बंद कराई गई।

नरबलि की पुष्टि नहीं होती यद्यपि बलि प्रथा पहाड़ के सभी देवी मंदिरों में थी। वैसे भी रामपुर-रोहडू के कई क्षेत्रों में 'भुण्डा उत्सव' मनाया जाता है जिसमें बेडा जाति का मनुष्य लकड़ी की घोड़ी पर सवार लम्बे रस्से पर झूलता है। यह नरबलि का ही रूप है जिसमें कभी-कभार घोड़ी से गिरकर बेडा की मृत्यु हो जाया करती थी। रामपुर के पार निरमण्ड में यह उत्सव प्रत्येक बारह वर्ष के बाद होता था। इस भुण्डा में एक तान्त्रिक पोथी 'प्रौढ़' को पढ़ा जाता था। ऐसी ही एक तान्त्रिक पोथी सराहन के पास रावीं गाँव में है। निरमण्ड में रावीं के ब्राह्मणों को आमन्त्रित किया जाता है।

रामपुर लवी

ग्यारह नवम्बर को रामपुर में कुछ देर रुकना हुआ। आज रामपुर में लवी का उद्घाटन था। रामपुर बाजार से ऊपर मेला ग्राउंड में प्रदर्शनियाँ अभी लग रही थीं किन्तु किन्नौर के व्यापारी अपना सामान लिए अपनी-अपनी जगह डट गए थे। यहाँ भी परम्परागत वस्तुओं का लगभग वही भाव था जो किन्नौर में था।

लाहुल

हर ऊँचे पहाड़ को देखकर लगता है, मानव इसे प्रणाम कर लौट गया है। दूसरी ओर जीवन शेष नहीं है। पृथ्वी बस यहीं समाप्त हो गई है। कुछ ऐसा ही अनुभव होता है रोहतांग शिखर को देखकर। जैसे यहाँ आकर सागर से शुरू हुई पृथ्वी समाप्त हो गई है। सम्भवतः इसीलिए लेडी चेटवुड ने अपनी पुस्तक में कुल्लू को नाम दिया है : 'द एण्ड ऑफ हैविटेबल वर्ल्ड' यानी जनबस्ती का अन्त।

वास्तव में ऐसा नहीं है। पृथ्वी का अंत कोई नहीं खोज पाया आज तक ! रोहतांग के उस ओर एक अलग और अद्‌भुत संसार है—चन्द्रा और भागा का संसार। इसी अनोखे संसार में बसा हिमाचल प्रदेश का जनजातीय जिला लाहुल-स्पिति जो क्षेत्रफल (13,835 स्क्वेयर किलोमीटर) में तो सबसे बड़ा है, आबादी (32,100) में सबसे कम।

यह बर्फ का रेगिस्तान है जिसका अपना सौंदर्य है, अपनी विभीषिका है। अपनी विशेषताएँ हैं, अपनी कठिनाइयाँ हैं। रोहतांग के पार बर्फ-भरी चोटियाँ दिखती हैं, दूर-दूर तक फैली। नीचे बहती है चन्द्रा और भागा। चन्द्रा नदी बारालाचा से निकलती है, भागा सूरजताल से। दोनों का संगम तांदी में होता है। चन्द्रा घाटी 2,600 स्क्वेयर किलोमीटर में फैली है जबकि भागा घाटी लगभग 1,550 स्क्वेयर किलोमीटर में। ऊपर की चोटियों, ढलानों के बीच बर्फ के दरिया जमे रहते हैं बारह महीने।

जो प्राकृतिक सौंदर्य प्रदेश के इस भूभाग में है, वह अन्यत्र कहीं नहीं। कुल्लू प्रदेश का स्विट्‌जरलैण्ड है। व्यास घाटी का आकर्षण अद्‌भुत है। सतलुज घाटी कहीं खुश्क है, कहीं नीची है, कहीं ऊँची। सतलुज का पानी गँदला रहता है। रावी नदी बहुत गहराई में बहती है। व्यास इतनी सतह पर बहती है कि कोई भी राहगीर उसे छू सकता है। पानी है कि बारह महीने नीला और स्वच्छ। मण्डी से ऊँचाई धीरे-धीरे बढ़ती है। व्यास के किनारे-किनारे कुल्लू से मनाली पहुँचते-पहुँचते यह पता नहीं चलता कि हम 1,920 मीटर की ऊँचाई पर पहुँच गए हैं।

पहाड़ की ऊँचाई की यह विशेषता है कि एक ऊँचाई पर जहाँ भी चले जाओ, किसी भी स्थान पर चले जाओ, एक-सा माहौल मिलेगा। वही वनस्पति, वही पेड़, वही हवा, वैसी ही मिट्टी, वैसी ही चट्टानें। ऊँचे शिखरों पर जितना ऊँचा जाओ, वातावरण

उतना ही शान्त और एकान्त। बर्फ-भरी चोटियाँ जैसे मौन महानाद करती हुई। जितनी अधिक चुप्पी, उतना ही गम्भीर स्वर निकालते प्रतीत होते शिखर।

मनाली के ऊपर ताज-सा खड़ा है रोहतांग। ऊँचाई 3,955 मीटर। तिब्बती भाषा में रोहतांग का अर्थ है 'शवों का ढेर'। यह दर्रा जून या जुलाई में खुलता है और अक्तूबर-नवम्बर में बंद हो जाता है। मनाली में व्यास के पार से सड़क दीपक प्रोजेक्ट के पास है। रास्ते खुलने या बंद होने की घोषणा बाकायदा सरकारी तौर पर की जाती है। लोग फिर भी अप्रैल से नवम्बर के अंत तक आते-जाते रहते हैं, जब तक कि बहुत बर्फ न गिर जाए। ऐसे में इस दर्रे से निकल पाना जोखिम-भरा काम है। निश्चित समय से पहले इसे पार करना होता है अन्यथा तेज हवाएँ और तूफान जानलेवा हो जाता है। हर साल तूफान में लोग फँस जाते हैं जिनके शव मौसम खुलने पर ही निकल पाते हैं। पुराने समय में पैदल ही आना-जाना होता था। यह रास्ता बहुत खतरनाक था और बर्फ पिघलने पर शवों के ढेर निकलते थे।

रोहतांग शिखर पर ही है व्यास कुंड जहाँ व्यास बूँद होकर निकली है, जो मैदानों में जाकर दरिया बनी। रोहतांग के दूसरी ओर उतराई है खोकसर तक। घुमावदार सड़क के नीचे उतरते हैं तो इस ओर नंगे पहाड़ नजर आते हैं जबकि दूसरी ओर ऊँचे देवदार, रंग-बिरंगे फूल, झाड़ियाँ हैं। इस ओर मानसून नहीं पहुँचता इसलिए बारिश नहीं होती। रोहतांग का शिखर मानसून को दीवार बन रोकता है। रोहतांग की दूसरी ओर बारिश नहीं, सिर्फ बर्फ गिरती है।

उतराई में आधार पर सबसे पहले आता है खोकसर। यहाँ से कुंजम-पास होकर काजा जाने के लिए सड़क जाती है। काजा से यह सड़क समदो तथा पूह होती हुई किन्नौर निकलती है।

खोकसर में चन्द्रा नदी के बाईं ओर एक गोम्पा है। लाहुल में मिट्टी तथा लकड़ी से बने गोम्पा अद्भुत काष्ठ कला लिए हुए हैं। लाहुल में कुल अट्ठारह मंदिर तथा गोम्पा हैं। तिब्बती में गोम्पा का अर्थ है 'भगवान् का घर'।

चीनी यात्री ह्यूनसाँग ने लाहुल को लो-यू-लो नाम से पुकारा है और इसे कुल्लू से 1800 या 1900 ली उत्तर में बताया है। लाहुल तथा तिब्बत के लोग लाहुल को गार्जा पुकारते हैं। तिब्बती में लाहुल का अर्थ 'दक्षिण देश' तथा 'देवताओं का देश' भी है।

जिले के मुख्यालय केलांग की ओर जाते हुए खोकसर तथा तांदी के बीच महत्त्वपूर्ण मंदिर हैं घेपन देवता का। चन्द्रा नदी के दाएँ किनारे 3,130 मीटर की ऊँचाई पर बसा है शाशन गाँव, जिसे अब शीशु कहा जाता है। घेपन लाहुल का प्रमुख और धनवान देवता है। यह देवता लाहुल की समस्त प्रजा का रक्षक माना जाता है। घेपन देवता का प्रतीक एक लम्बा लक्कड़ है जिसे रंग-बिरंगे कपड़ों से सुसज्जित रखा जाता है। देवता घेपन कुल्लू में मलाणा के देवता जमलू का छोटा भाई माना जाता है। देवता

अपने भाई जमलू से मिलने जाता है। इसी सांस्कृतिक यात्रा ने मलाणा की कणाशी बोली में तिब्बती तथा भोटी के शब्दों का समावेश किया है।

शीशु से गोन्धला तक भूमि बड़ी उपजाऊ है। गोन्धला 3,160 मीटर पर बसा गाँव है जिसमें गोन्धला किला है। किले के स्वामी ठाकुर फतेहसिंह बताते हैं, "ये किला बीस पुश्तों पहले बना था।" वास्तव में यह किला लगभग 1,700 में कुल्लू के राजा मानसिंह द्वारा बनवाया गया। सात मंजिला ये किला पहाड़ी वास्तुकला का अनूठा नमूना है। पाँचवीं मंजिल में ठाकुर रहा करते थे जहाँ से वे प्रजा की पुकार सुनकर न्याय करते थे। किले में कुछ हथियार, मूर्तियाँ, पुराना फर्नीचर आदि हैं। ठाकुर के पास एक तलवार है जिसे बुद्धिमत्ता की तलवार कहा जाता है। यह तलवार ठाकुर फतेहसिंह के पूर्वजों को दलाईलामा ने दी है। ठाकुर फतेहसिंह इस किले को प्रदेश के भाषा-संस्कृति विभाग को देना चाहते थे जिसकी बात अंतिम नहीं हो पाई। अब केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग से सम्पर्क किया जा रहा है।

केलांग से सात किलोमीटर पीछे चन्द्रभागा के संगम की पहाड़ी पर लाहुल का सबसे बड़ा गोम्पा गुरूघण्टाल गोम्पा है। यह बौद्ध मठ पद्मसम्भव द्वारा आठवीं शताब्दी में बनवाया गया बताया जाता है। मठ में महात्मा बुद्ध, पद्मसम्भव की मूर्तियाँ हैं। एक मूर्ति वज्रेश्वरी की भी है। गोम्पा की काष्ठकला आकर्षित करती है। जून के मध्य में घण्टाल नाम से उत्सव मनाया जाता था।

लाहुल का मुख्यालय है केलांग। ऊँचाई 3,165 मीटर। केलांग पहुँचकर एक अजीब-सा अहसास होता है। मिट्टी के घर बाहर से देखने पर जितने छोटे, भीतर उतने ही खुले और बर्फ की मार से सुरक्षित। वातावरण में घास की अजीब-सी गन्ध फैली रहती है। छोटा-सा बाजार। कुछ कार्यालय। छोटा-सा गाँव।

केलांग के ठीक ऊपर बर्फ-भरे शिखर पर एक नारी-आकृति बनी हुई है। इसे 'लेडी ऑफ केलांग' कहा जाता है। बर्फ के ऊपर यह नारी-आकृति सदा बनी रहती है चाहे जितनी भी बर्फ क्यों न गिर जाए। इसे देवी माना जाता है।

ठहरने के लिए एक सर्किट हाउस, रेस्ट हाउस है। सीजन में पर्यटन विकास निगम द्वारा टेंट भी लगाए जाते हैं। यह क्षेत्र विदेशी पर्यटकों के लिए भी खुला है इसीलिए सीजन में काफी विदेशी पर्यटक आते हैं। केलांग से लेह के लिए भी अब सड़क मार्ग है। कुछ उत्साही ट्रेकिंग पर जाते हैं।

जिला मुख्यालय होने के कारण यहाँ जिलाधीश बैठते हैं। एक जिले में जितने कार्यालय होते हैं, उतने यहाँ हैं। अधिकांश कर्मचारी बाहर के हैं जो इस जनजातीय क्षेत्र में नियुक्ति को सजा के तौर पर लेते हैं। सर्दियों में बर्फ के कारण कोई काम नहीं होता। जून से अक्तूबर तक यहाँ जलावतन होता है। रास्ता खुलते ही कर्मचारी छुट्टियाँ लेकर घर की ओर भागते हैं। सर्दियाँ उतरने पर घर जाने वाले लोग बैठे इंतजार करते हैं कि बर्फ गिर जाए और रोहतांग बंद हो जाए। वे मजबूरी के कारण वापस न जाएँ।

गाँव, कार्यालय और पुरानी बिल्डिंगों के बीच रासबिहारी बोस की प्रतिमा चौंकाती है।

कर्मचारी अक्तूबर में ही छः-सात महीने की खाद्य सामग्री, मिट्टी का तेल आदि इकट्ठा कर रख लेते हैं। कई घरों से सब्जियाँ सुखाकर लाते हैं जिनका उपयोग दालों से ऊब जाने पर होता है। स्थानीय वासियों के घरों में जलता तन्दूर रोटी पकाने और सेंकने, दोनों ही काम आता है। मेहमानों का स्वागत छंग (स्थानीय सुरा) और नमकीन चाय से किया जाता है। पहले यहाँ से लोग तिब्बत आते-जाते थे और व्यापार किया करते थे। अब कई भोट लोग अपने घोड़ों के साथ निचले क्षेत्रों में आ जाते हैं। आलू, जीरा, फर्न, कुठ तथा जड़ी बूटियाँ यहाँ की मुख्य फसलें हैं।

सितम्बर तक पूरी घाटी में हरियाली रहती है। गर्मियों में गोभी-आलू की सब्जी भी उगाई जाती है। पहाड़ियों में काला जीरा बहुतायत में पाया जाता है। सूखे पहाड़ों को ढाँपने के लिए व्यूँस जाति के पेड़ उगाए गए हैं जो लकड़ी तथा चारे के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

बर्फ के घिरे होने के बावजूद यहाँ त्यौहार और उत्सव अपने ढंग से मनाए जाते हैं जिनमें बर्फ के खेल खेले जाते हैं। जनवरी में हालडा, फरवरी में फागलीगोची जैसे उत्सव में लोग अपने पारम्परिक वस्त्राभूषणों में निकलते हैं, चाहे फुटों के हिसाब से बर्फ गिरी हो। बौद्ध मठों में छेशु उत्सवों में मुखौटा धारण कर लामा लोग नृत्य करते हैं।

केलांग के एस. डी. एम. मेरे मित्र थे। उनसे मिलने गया तो वहाँ एक दिलचस्प मुकद्दमे की सुनवाई हो रही थी। एक व्यक्ति दूसरे पर आरोप लगा रहा था कि उसने उसकी गुफा पर कब्जा कर लिया है। पहले गुफा का नाम स्थानीय भाषा में लिया गया, जो समझ नहीं आया। तब उसने बताया कि वह एक गुफा में रहता था, उसे अब उस गुफा से बाहर निकाल दिया गया है। वह अपनी गुफा से नाजायज कब्जा हटाना चाहता है।

सभी लोग वहाँ गुफाओं में वास करते हों, ऐसी बात नहीं है। लाहुल के एक गाँव से कई आई. ए. एस. और प्रथम श्रेणी अधिकारी हैं। जो पहले व्यापारी रहे उनके घरों के कालीन और साज-सज्जा भी देखते ही बनती है।

केलांग के ऊपर तथा सामने दो गोम्पे हैं। कारदंग गोम्पा केलांग के सामने भागा नदी के पार है। कहा जाता है, इसका निर्माण उत्तर मध्यकाल में हुआ। इसके बाद सदियों तक यह मठ उपेक्षित रहा। सन् 1912 में कारदंग-वासी नोरबू के मन में विरक्ति पैदा हुई और उसने संसार त्याग दिया तथा इस गोम्पा का पुनर्निर्माण किया। मठ में इस समय चार पूजाघर हैं, दाईं ओर के मठ में तारा तथा पद्मसम्भव की मूर्तियाँ हैं। दूसरे में कुछ गुरु लामाओं की मूर्तियाँ हैं। एक नोरबू (जो रिमपोछे बन चुका था) की समाधि है।

मठ में अवलोकीतेश्वर की मूर्ति है जिसके ग्यारह सिर हैं तथा हजार हाथ हैं। सिर एक के ऊपर एक रखा गया है। दीवारों में बुद्धचरित्र के विभिन्न दृश्यों को अंकित

किया गया है। कुछ चित्र तान्त्रिक पद्धति के हैं। वास्तव में यह एक बौद्ध विहार है जिसमें बाईस लामा तथा आठ जोमो (भिक्षुणी) के रहने की व्यवस्था है। मठ बौद्ध ग्रन्थों तथा पाण्डुलिपियों का अथाह भण्डार है।

केलांग के ऊपर शाशुर गोम्पा है। इसे सत्रहवीं शताब्दी में लद्दाख के लामा देव गायत्शो द्वारा स्थापित किया गया। गोम्पा में इसके संस्थापक की मूर्ति स्थापित है। लामा लोग मठ के साथ बने घरों में रहते हैं। मठ के भीतर बुद्ध-प्रतिमा के साथ-साथ डरावनी आकृतियाँ बनाई गई हैं। बुद्ध की मूर्ति भी बहुत बड़े आकार की है।

केलांग से उदयपुर का सफर एक दूसरी दुनिया का सफर है। इस ओर की घाटी का नाम पट्टन घाटी है जो चम्बा से जा मिलती है। इसीलिए इस क्षेत्र का चम्बा लाहुल कहा जाता है। कुछ वर्ष पूर्व केलांग से थरोट तक ही बस जाती थी। थरोट के साथ ही है उदयपुर, केलांग से 54 किलोमीटर।

मियाड़ नाला तथा चन्द्रभागा के संगम पर स्थित है उदयपुर जिसे सन् 1695 के लगभग राना उदयसिंह के समय उदयपुर नाम दिया गया। इसी गाँव में काली मंदिर है जिसे मृकुला देवी मंदिर भी कहा जाता है। बाहर से देखने में साधारण, भीतर पुरातत्त्व तथा कला का खजाना सँजोए हुए। मंदिर 1028 और 1063 के बीच निर्मित हुआ माना जाता है हालाँकि इसमें अलग-अलग समयों में अलग-अलग काष्ठ कलाकृतियाँ जुड़ती रहीं।

मंदिर में महिषासुरमर्दिनी की चाँदी या फिर अष्टधातु की लगभग साठ सेंटीमीटर की प्रतिमा है। मूर्ति पर खुदे शारदा लिपि के लेख के अनुसार इसे भद्रवाह के एक कलाकार द्वारा 1569-70 में बनवाया गया। मूर्ति ठाकुर हिमपाल को समर्पित है।

मंदिर तथा इसके भीतर हुई उत्कृष्ट काष्ठकला का काल-निर्धारण पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा अलग-अलग किया गया है। मंदिर का मण्डप तथा स्तम्भ प्रारम्भिक समय का माना जाता है जबकि द्वारपाल तथा अन्य काष्ठकला बाद की। लोकास्था है कि मनाली का हिडिम्बा देवी मंदिर तथा मृकुला देवी मंदिर एक ही कलाकार द्वारा बनाए गए। ऐतिहासिक तथ्य इसे सिद्ध नहीं करते। क्योंकि हिडिम्बा देवी मंदिर राजा बहादुरसिंह के समय 1533 में बनाया गया।

मंदिर के भीतर अद्भुत काष्ठकला हुई है। यूँ तो प्रदेश के अन्य काष्ठ मंदिरों में कला-दर्शन होते हैं। हिडिम्बा देवी मनाली, पराशर मंदिर कमांद, कुल्लू, पराशर मंदिर मण्डी, त्रिजुगी नारायण दयार, दक्षिणेश्वर महादेव, निरमण्ड में भी उत्कृष्ट काष्ठकला है किन्तु मृकुला देवी की काष्ठकला जितनी अधिक मात्रा में है, उतनी अद्वितीय है।

भीतर जाते ही आकर्षक मण्डप चौंका देता है। इसके साथ रामायण तथा महाभारत के दृश्य जो उकेरे गए हैं, वे दर्शक को किसी दूसरे ही लोक में ले लाते हैं। कौरव-पाण्डव, कर्ण, दुर्योधन, द्रौपदी; स्वयंवर के समय राम-लक्ष्मण, संजीवनी लाते हनुमान, राक्षसों से घिरी सीता, कुम्भकरण को जगाने आदि के दृश्यों को कलात्मकता से

उकेरा गया है। अमृत-मंथन, वामन, बाली, शिव-पार्वती, कार्तिकेय, नारद तथा गन्धर्वों के चित्रों के साथ बैल, घोड़े तथा ऊँट तक चित्रित किए गए हैं।

चम्बा लाहुल का प्रमुख मंदिर है त्रिलोकीनाथ मंदिर, जिसे त्रिलोकीनाथ धाम भी माना जाता है। उदयपुर के पार लगभग पाँच किलोमीटर की दूरी पर स्थित है यह मंदिर। चन्द्रभागा घाटी का यह एकमात्र शिखर शैली का मंदिर है। पत्थरों से बने इस मंदिर की ड्योढ़ी में काष्ठकला हुई है। मंदिर के बाहर अब एक दीवार बना दी गई है।

मंदिर में सफेद संगमरमर की लगभग नब्बे सेंटीमीटर की शिवमूर्ति है जिसे बोधिसत्व अवलोकीतेश्वर भी माना जाता है। आसन मुद्रा में बैठे बोधिसत्व का एक वरद हस्त है तो दूसरे में कमल है। मूर्ति के सिर पर 'अमिताभ' की छोटी मूर्ति है। छः भुजाओं वाली यह आकर्षक मूर्ति बोधिसत्व त्रिलोकीनाथ के नाम से भी जानी जाती है।

बौद्ध और हिन्दू, दोनों द्वारा पूजित यह मंदिर एक धाम के रूप में प्रतिष्ठित है। मंदिर का पुजारी बौद्ध है जो त्रिलोकीनाथ के राणा द्वारा नियुक्त किया गया है। यहाँ पौरी उत्सव मनाया जाता है।

ऐसा भी विश्वास है कि यह मूल रूप में एक हिन्दू मंदिर था जिसे आठवीं शताब्दी में पद्मसम्भव द्वारा बौद्ध मठ में बदल दिया गया।

इस ओर चम्बा का जनजातीय क्षेत्र आरम्भ हो जाता है। यहाँ की बोली भोटी से भिन्न है और संस्कृत मूल की है। यहीं एक गाँव है जहाँ चनाली बोली जाती है जो संस्कृत के एकदम करीब है।

संस्कृतियों का संगम कैसे होता है, यहाँ आकर पता चलता है। एक ओर तिब्बती भाषा की अपभ्रंश और दूसरे ओर संस्कृत मूल की बोली। संस्कृति अपना सफर कैसे तय करती है, यह यहाँ आकर पता चलता है।

चम्बा के जनजातीय क्षेत्र

चम्बा से भरमौर तक के क्षेत्र को शिवपुरी कहा गया है। चम्बा से तीस किलोमीटर आगे रावी के दाएँ किनारे गूँ कोठी के शिव मन्दिर के शिलालेख (मेरुवर्मन 680 ई.) में इस मंदिर को शिवपुरी के मध्य स्थित माना है। चम्बा से चालीस किलोमीटर लूणा पुल से एक सड़क छतराड़ी को जाती है जहाँ ऐतिहासिक शक्तिदेवी का मंदिर है। लूणा पुल के पार भरमौर का जनजातीय क्षेत्र आरम्भ होता है। दुर्गठी में भरमौर का पहला रेस्ट हाउस है। इससे आगे ऊँचे पहाड़ों का क्षेत्र गधेरन कहलाता है जहाँ गद्दी लोग वास करते हैं।

गद्दी हिमाचल प्रदेश का एकमात्र आदि कबीला है जो छः ऋतुएँ बारह महीने अपनी भेड़ों के साथ चला रहता है। गर्मियों में गधेरन में पुहाल (भेड़-बकरियों के साथ जाने वाला गद्दी) घर लौटते हैं कुछ समय के लिए। उसी समय इन्हें भेड़ व बकरियों सहित लाहुल की ओर जाना होता है जहाँ नई घास उगती है। सर्दियों में प्रदेश के निचले क्षेत्र बिलासपुर की ओर प्रस्थान होता है।

साहिलवर्मन (920 ई.) द्वारा स्थापित चम्पा या चम्बा से पहले रावी के पार सड़क जाती है जो चम्बा के चुराह क्षेत्र में प्रवेश करती है। सुरगाणी बाँध से आगे चुराह का मुख्यालय तीसा है। तीसा से आगे बैरागढ़ जहाँ से 'साच' दर्रे से होकर पांगी (पैदल) जाया जा सकता है। चम्बा से जनजातीय क्षेत्र पांगी के लिए यही एकमात्र रास्ता है। चुराह के लोगों का पहरावा गद्दियों से भिन्न है यद्यपि ये भी भेड़-बकरी पालन पर निर्भर हैं। जहाँ गद्दी महिलाएँ लुआंचुड़ी पहनती हैं वहाँ चुराही कुल्लू की भाँति पट्टू।

बैरागढ़ से बीस किलोमीटर साच दर्रे का आधार सतरूंडी है। सतरूंडी से पाँच किलोमीटर सीधी चढ़ाई पर साच दर्रे की चोटी, दूसरी ओर लगभग छः किलोमीटर उतराई पर पहला पड़ाव बगोटू। बगोटू से बिन्द्रावणी और चन्द्रभागा के पार चढ़ाई के बाद पांगी का मुख्यालय किलाड़। दूसरी ओर रोहतांग के पार उदयपुर तक बस-मार्ग से तथा आगे जीप द्वारा किलाड़ पहुँच सकते हैं।

पांगी में सात हजार से लेकर इक्कीस हजार फुट तक आबादी है। नीचे पंगवाल रहते हैं तो ऊँचाइयों में भोट या बौद्ध। पांगी का जनजातीय क्षेत्र एक ओर जम्मू से मिलता है तो दूसरी ओर चम्बा लाहुल (लाहुल-स्पिति) से।

चम्बा की पुरातन राजधानी भरमौर का नाम ब्रह्मपुर था। भरमौर को चौरासी भी कहा जाता है। क्योंकि यहाँ चौरासी मंदिर सिद्धों के मंदिर हैं (यद्यपि अब चौरासी की गिनती पूरी नहीं की जा सकती)। ऊँची पहाड़ी पर स्थित भरमौर में ऐतिहासिक लखणा या लक्षणा देवी मंदिर, मणिमहेश मंदिर हैं।

लखणा देवी के साधारण-से दिखने वाले मंदिर में असाधारण मूर्ति और काष्ठ-कला है। शिखर शैली के मणिमहेश मंदिर के बाहर नंदी में महत्त्वपूर्ण लेख है। नंदी, लखणा देवी के अतिरिक्त एक शिलालेख गणेश-मूर्ति में है। चौथा महत्त्वपूर्ण लेख शक्ति देवी छतराड़ी में है।

पांगी की ढलवाँ छत के साधारण मंदिरों में भी अच्छी काष्ठकला है। नाग मंदिर, देवी मंदिरों के अतिरिक्त मिंधल माता लेख इतिहास की कड़ियाँ जोड़ता है।

लोककथा की यात्रा

लोककथा का जन्म मानव सभ्यता के साथ हुआ। लोककथा का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानव जाति का आदि। हमारे वेद-उपनिषदों में जो उपदेशात्मक कथाएँ मिलती हैं, वे लोककथाओं का ही प्रतिरूप हैं। पंचतंत्र की कथाएँ संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध हैं। जंगली जानवरों के माध्यम से ये कथाएँ जिस जिज्ञासा व बालसुलभ उत्सुकता को जन्म देती हैं, उनके पीछे रचनाकार के नीति-वाक्य के उपदेश-सार भी छिपे हैं। इन्हीं कथाओं ने आगे चलकर लोककथाओं का रूप धारण किया।

लोककथा एक श्रुत-साहित्य है, जो वैदिक मंत्रों की तरह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक यात्रा करती रही। न जाने कितने वर्ष पहले इन कथाओं का जन्म हुआ होगा। कौन होंगे इनके रचयिता! किन्तु यह सरिता अविरल बहती रही।

माँ के दूध के साथ जो बालक को मिला है वह लोककथा है। जो जन्मघुट्टी के साथ पिलाया जाता है वह लोककथा है। बालक के जन्म के साथ ही लोककथाओं का जन्म होता है। लोरी के साथ सुलाने के बाद एक स्थिति ऐसी आती है कि मीठी लोरी अपना काम नहीं करती। उस समय लोक व परी-कथाएँ अपनी भूमिका निभाती हैं। नानी, दादी, बड़ी-बूढ़ियाँ अपनी कथाओं के खजाने लुटाती जाती हैं क्योंकि रोज एक न एक कथा अवश्य चाहिए।

कथाएँ केवल बालकों के लिए हों, ऐसी बात नहीं है। लोककथा बालक की है, युवक की है, वृद्ध की है। लोककथा वह जो बूढ़े ने बालक को सुनाई। बूढ़े ने युवक को सुनाई। यह आयु सीमा का विषय नहीं है। कथा एक वृद्ध भी उतनी तन्यमता से सुनता है जितना कि एक बालक।

सृष्टि का पहला साहित्यकार लोककथाकार ही रहा होगा। नानी, दादी की थाती और सर्दियों की लम्बी रात में जलते अलाव ने इसे बहुत समय तक जिंदा रखा।

हमारी अधिकांश लोककथाएँ 'और अंत में सब सुखपूर्वक रहने लगे' के आदर्श पर आधारित हैं। कथानायक द्वारा संघर्ष और अंत में विजय—यही मूल मन्त्र रहा है हमारी लोककथाओं का। हमारी ही नहीं, विश्व की समस्त लोककथाओं में यही तत्त्व मिलते हैं। असत्य की सत्य पर विजय, सरलता, सहृदयता की छल-प्रपंच पर विजय सहज दिखने को मिलती है। सभी कथाएँ अंत में एक सत्य को उद्घाटित

करती हैं। यह सत्य चाहे नीति वाक्य के रूप में हो, चाहे सूक्ति रूप में हो, एक आदर्श या नीति सूक्ति या निचोड़ रूप में सामने आता है। अल्योनुश्का और इवानुश्का की रूसी कथा, चुड़ैल के अंत की रूसी कथा, कामधेनु चक्की की जापानी कथा आदि इसके उदाहरण हैं। स्नोव्हाइट भी एक ऐसी ही कथा है जिसमें अपने को सबसे सुन्दर समझने वाली दम्भी महिला का अंत होता है। विदेशों में ऐसी लोककथाओं व परीकथाओं पर फिल्में बनी हुई हैं जो आज के युग में इन्हें जीवित रखने का सशक्त व उपयुक्त माध्यम हैं।

हिमाचल प्रदेश में ऐसी लोककथाओं की गिनती करना सम्भव नहीं है। प्रदेश के प्रत्येक अंचल में अपनी-अपनी तरह की, अपने-अपने परिवेश की कथाएँ प्रचलित हैं। अलग-अलग भौगोलिक परिस्थितियों तथा विभिन्न सभ्यताओं के विभिन्न रंगों ने अलग परिवेश की कथाओं को जन्म दिया। किन्नौर की ओर से जनजातीय क्षेत्र में लाटी शंरजंग और हिनाडंडुब कथा, चम्बा के जनजातीय क्षेत्र में सुन्नी-भुंकू कथा अपनी-अपनी विशिष्टता के कारण प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार नन्हा राजकुमार और राक्षस, होशियार बालक, चोर का सच तथा राजा विक्रमादित्य से सम्बन्धित अनेकानेक कथाएँ प्रदेश के निचले क्षेत्रों में प्रचलित हैं। किस्सा तोता-मैना, राजा रसालू, राजा भरथरी की कथाएँ भी लगातार तथा अंश रूप में सुनाई जाती हैं।

इन कथाओं के अलग-अलग रूप हैं। संक्षिप्त रूप में ये नानी, दादी द्वारा घर के भीतर सोने के समय बच्चों को सुनाई जाती हैं। विस्तृत रूप में सर्दियों में अलाव के पास बैठकर 'काथू' इन कथाओं का सुनाते हैं। एक-एक कथा कई महीने तक चलती है। यदि 'काथू' गाकर सुनाने लग जाए तो और भी ज्यादा समय लगता है।

इन कथाओं का लिखित साहित्य बहुत कम है। यदि कुछ आया भी है तो कुछ ही समय पूर्व। ये कथाएँ ऐसे ही एक से दूसरे को स्थानांतरित होती रहीं और आगे से चलती रहीं।

अधिकांश कथाएँ ऐसी भी हैं जो एक पूरे भू-भाग में प्रचलित हैं, थोड़े-थोड़े रूपान्तर के बाद। उदाहरणतः 'लाटरी शंरजंग और हिनाडंडुब' की कथा किन्नौर तथा लाहौल-स्पिति में एक-सी हो प्रचलित हैं। कुल्लू में आकर इसका रूपान्तर हुआ। कथा लगभग वही है, कुल्लू की भौगोलिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का इस पर असर हुआ और उसी प्रकार का परिवर्तन हुआ। इसी तरह 'स्याह परी' की कथा प्रदेश के निचले क्षेत्र में प्रचलित है जिसमें रात के समय इन्द्र लोक से परियाँ एक तालाब में नहाने आती हैं। एक बार एक राजकुमार द्वारा स्याह परी के वस्त्र तथा पंख छिखाए जाने के कारण वह धरती पर रहने को विवश हो जाती है। इस कथा के रूपांतर पूरे निचले क्षेत्र में प्रचलित हैं। राजा विक्रमादित्य की कई कथाएँ प्रचलित हैं। इन सभी कथाओं में अपने-अपने भाव और अपनी-अपनी इच्छा व परिवेशजन्य परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन पाए जाते हैं।

वास्तव में कथा की यात्रा संस्कृति की यात्रा है। कथा, भाषा, बोली , रहन-सहन, रीति-रिवाज के अनुसार बदलती है। कथा नायक वही बोली बोलता है जो उस क्षेत्र की है। उसका पहरावा भी वही है। उसी रीति-रिवाज तथा परम्परा के अनुसार चलता है। कथा की कथावस्तु एक होते हुए भाषा शैली, देशकाल का परिवर्तन एक कथा को अपने परिवेश से जोड़ उसी अंचल की कथा बनाता है।

'नन्हा राजकुमार और राक्षस' कथा में नन्हे राजकुमार द्वारा अपनी रानी माँ के राजा द्वारा निष्कासन के कारण भाँति-भाँति के कष्ट उठाने की कथा है। राजा को एक राक्षसी वेश बदलकर मोह लेती है जिस कारण नन्हा राजकुमार उसके भाई-बांधव राक्षसों से टक्कर लेता है। किन्तु राजकुमार की सरलता, सहृदयता और अबोध भाव के आगे सभी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। अंत में वह राक्षसी को मारकर अपने पिता को सही राह पर लाने में कामयाब हो जाता है। राजकुमार के धैर्य और साहस के आगे सारी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं और वह अपनी माँ सहित सुखपूर्वक रहने लगता है। यह कथा अंत में राजकुमार की विजय का ध्वज फहराकर एक सुखांत के साथ आदर्श भी स्थापित करती है।

एक कथा है होशियार बालक की। यह होशियार बालक भी नन्हे राजकुमार की भाँति अपने भाई-बिरादरों की कूटनीतियों से बच निकलता है। इसका परिवेश गाँव का है और अपने गाँव में रहते हुए वह बार-बार चचेरे भाइयों तथा ताए-चाचों के चंगुल से बच निकलता है। अंत में उसके सभी विरोधी समाप्त हो जाते हैं। उक्त कथा की भाँति इसमें भी बालक सरल और भोला है। इसी कारण उसके लिए बिछाए गए जाल भी उसकी उन्नति के साधन बन जाते हैं।

बुरे व्यक्ति भी कभी-कभी एकाध अच्छाई का सहारा लेकर महान् बन जाते हैं, यही दीक्षा है 'चोर का सच' कहानी में। चोरी चोरी तो करता है किन्तु उसने कभी झूठ न बोलने का व्रत ले रखा है। इसी अच्छाई से वह राजा का वजीर बन जाता है और राजा के भ्रष्ट वजीर निकाल दिए जाते हैं। एक कथा 'किस्मत कहां है?' बहुत ही प्रेरणादायक है। एक आलसी व्यक्ति अपनी किस्मत ढूँढ़ने निकलता है तो उसे एक साधु उसकी किस्मत समुद्र पार होने के बारे में बताता है। समुद्र पार जाने की राह में उसे युवती, खजाना और घोड़ा मिलते हैं, जिन्हें वह वापसी में ले आता है। वास्तव में समुद्र पार कुछ नहीं होता। किस्मत ढूँढ़ने के श्रम में आलसी व्यक्ति और चुस्त बन जाता है और काम करता है जिसके कारण उसकी किस्मत स्वयं उसके पास आती है।

लोककथाएँ हमारी संस्कृति की निधि हैं। यह निधि हमारी विरासत में बसी है। इसका संरक्षण आवश्यक है। आज के प्रगतिशील यान्त्रिक युग में यदि किसी चीज का ह्रास हुआ है तो वह यह संस्कृति ही है। आज अलाव की जगह हीटर जगा। नानी-दादी की कथाओं की जगह ट्रांजिस्टर, टेलीवजन बोलने लगे। यह प्रसार पहाड़ी-दर-पहाड़ी फैल रहा है। पहाड़ी-दर-पहाड़ी फैल रही है ये सोनरंगी आग जो

हमें हमारी वर्षों से रक्षित संस्कृति को राख कर रही है। आज जो 'स्विच-संस्कृति' दैत्याकार होती जा रही है, इसे दबाया नहीं जा सकता। अतः वर्तमान परिस्थिति में इसका संग्रहण ही संरक्षण है।

विदेशों में लोककथाओं को टेलीविजन की लोकप्रियता के कारण फिल्मी सीरियलों में बदला गया है जो एक अच्छा प्रयास है। समय की दौड़ के साथ चलने के लिए ऐसा करना एक सराहनीय कदम है। जिस युग में जो सम्प्रेषण का माध्यम बने, उसे अपनाने से ही यह विशिष्ट थाती बच सकती है।

सांस्कृतिक धरोहर : विवाह गीत

वैदिक परम्परा द्वारा हमारे देश में मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक विभिन्न संस्कार नियत किए गए हैं। पौराणिक ऋषियों द्वारा निर्धारित जीवन के चार आश्रमों के प्रतिपादन के साथ गृहस्थों के लिए अनेकानेक परम्पराएँ कायम की हैं। महाभारत में भीष्मजी द्वारा पाँच प्रकार के विवाहों—ब्राह्म, क्षात्र, गान्धर्व, आसुर तथा राक्षस का वर्णन किया गया है। स्मृतियों में आठ प्रकार के विवाह बताए गए हैं।

इस वैदिक परम्परा के साथ-साथ समय-समय पर लोक परम्परा की धारा बहती रही है। लोक परम्परा या लोकाचार वैदिक कर्मकाण्ड के साथ-साथ समान रूप से प्रचिलत रहा। वैदिक ऋचाओं की तरह लोक परम्परा भी श्रुत और स्मृत रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रही। वैदिक साहित्य तो बाद में लिखित रूप में भी उपलब्ध हुआ किन्तु लोक परम्परा मन्त्र की तरह एक से दूसरे को स्वतः ही मिलती रही। एक ओर तो पुरोहित वर्ग कर्मकाण्ड के माध्यम से वैदिक परम्परा का निर्वाह करते रहे तो दूसरी ओर साधारण जन लोकाचार के माध्यम से आगे बढ़ते रहे। जिन मन्त्रों का उच्चारण आम बोलचाल की भाषा में सभी द्वारा किया जाता, समय के अनंतर वह कुल-पुरोहित के माध्यम से होने लगा। कर्मकाण्ड का अधिष्ठाता मात्र क्रिया करने वाला रह गया। सम्भवतः इसी कारण लोकधारा ने लौकिक परम्परा के माध्यम से अपनी और आज की बोली से उस परम्परा को गीतों की लड़ी में पिरोया।

इस लोकाचार में लोकगीतों की प्रमुख भूमिका है। लोकगीतों के माध्यम से संस्कृति की स्पष्ट झलक मिलती है। जहाँ लोककवि सरल और सहज काव्य की रचना करते हैं, वहाँ गीत बनकर यह और भी कालजयी हो जाता है। भावात्मकता, गेयता और सरलता की विशिष्टताओं के साथ लोकगीत निश्छल भाव से संस्कृति का उद्घाटन करते हैं।

बालक के जन्म, नामकरण, यज्ञोपवीत संस्कार आदि के विवाह के अवसर पर गाए जाने वाले गीतों का अलग महत्त्व है। ये गीत विवाह की एक-एक रस्म को प्रदर्शित करते हैं। हर रस्म का अलग एक गीत है जो इस पूरे संस्कार को क्रमबद्ध तरीके से अपने ढंग से आगे बढ़ाता है। विवाह का अवसर मनुष्य के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण और परिवर्तनकारी घटना है। इस संस्कार को किसी भी अन्य संस्कार से कहीं विस्तृत

ढंग से मनाया जाता है क्योंकि इसी के बाद मनुष्य सही सामाजिक जीवन में प्रवेश करता है। इसमें रवार, कुड़माई, टिक्का तमोल, बुटणा, साँद आदि से लेकर सेहराबंदी, मिलणी, तेल-तलाई, जयमाला, लग्न, वेदी, सिरगुंदी, विदाई आदि अनेक रस्में हैं जो निभाई जाती हैं। हर रस्म के साथ अलग लोकगीत जुड़े हैं।

विवाह गीत जिस सांस्कृतिक धरोहर को समोए हुए हैं, वह इन्हें किसी भौगोलिक सीमा में नहीं बाँधती। इनका क्षेत्र व्यापक है। किन्हीं अनजान कवियों ने पौराणिक, ऐतिहासिक, लौकिक और धार्मिक सन्दर्भ लेकर इन्हें अपने समाज के परिप्रेक्ष्य में ढाला है। सीता-राम, राधा-कृष्ण, रुक्मिणी-कृष्ण, लक्ष्मी-ब्रह्मा, शिव-पार्वती, पाण्डव-द्रौपदी, सावित्री, तुलसी, कामदेव आदि की गाथाओं का स्मरण कर अपने विवाह गीतों में नायक-नायिका को उनसे जोड़ा है। इसमें एक आदर्श की भावना भी है और धार्मिक वंदनी भी।

विवाह गीत लगभग पूरे प्रदेश में मात्र बोली की थोड़ी भिन्नता के साथ प्रचलित हैं। बल्कि ये साथ लगते प्रदेशों और उनसे आगे तक बहुत समानता लिये हुए फैले हैं। यहाँ तक कि इनकी लय और गीतों के साथ किए जाने वाले नृत्य या अंगसंचालन भी एक पूरे भू-भाग में समान हैं। बारात की तैयारी पर दूल्हे के सौन्दर्य तथा व्यक्तित्व की प्रशंसा में गाए जाने वाले गीत तथा लड़की की विदाई पर वियोग गीत प्रदेश तथा प्रदेश के साथ लगते प्रान्तों में दूर-दूर तक समान रूप से प्रचलित हैं।

विवाह उत्सव उल्लास और सौभाग्य का उत्सव है, 'सुहाग' सौभाग्य का अपभ्रंश रूप है। वर-वधू के लिए 'सुख-सुहाग' की कामना की जाती है। विवाह के अवसर पर तीन लोकगीत प्रमुख हैं जो ध्यान आकर्षित करते हैं : सुहाग, बधोआ तथा गालियाँ।

'सुहाग' मंगल का सूचक है। सुहाग गीतों में अटल सुहाग की कामना की जाती है। इन गीतों में मंथर गति से गम्भीर स्वरों का आरोह-अवरोह होता है। प्रायः इन्हें सयाणी स्त्रियों द्वारा गाया जाता है और गायन में गंभीर मन्त्रोच्चारण की तरह किसी पौराणिक प्रसंग का स्मरण किया जाता है। ये गीत हँसी-खुशी के वातावरण को एक गम्भीरता ही प्रदान करते हैं।

एक सुहाग गीत 'राम राम हृदय बसयो, जीवन जन्म सुधारेया' के साथ आरम्भ होकर राजा भीष्म की पुत्री रुक्मिणी के विवाह प्रसंग पर आ जाता है। इस प्रसंग से अधिक हृदयग्राही है इसे वर्तमान सन्दर्भ से जोड़ना। जब कृष्ण रुक्मिणी को रथ पर बिठाकर ले जाने लगे तो माँ ने बेटी से कहा तू निरन्तर यहाँ आते रहना। पिता ने कहा, कभी महीने में आया करना। भाई ने कहा कि छठी, पंजाप या अन्य संस्कार हो, तब आना। भावज ने कहा, तेरी अब आवश्यकता ही नहीं है यहाँ आने की। इस बात को सुनकर माँ रोने लगी, पिता का कण्ठ अवरुद्ध हो गया, भाई सिसकने लगा किन्तु भाभी प्रसन्न हुई।

इस प्रकार एक अन्य सुहाग गीत में लड़की के जन्म, बड़ा होने, वर की तलाश

और विवाह के प्रसंग का वर्णन आता है। सुंदर वर ढूँढने और पाने के प्रसंग में पुनः रुक्मिणी और कृष्ण विवाह का उल्लेख आता है।

एक बहुप्रचलित सुहाग में माँ अपनी बेटी को ससुराल जाने से रोकती है। वह अन्न, धन और जागीर भी को देने की बात करती है किन्तु बेटी कहती है कि 'ये सब तू अपने पुत्रों को देना; मैं चरखे में काती जा रही पूनियाँ और दही के मटके छोड़कर जा रही हूँ।'

'बधोआ' बधाई गीत है। मंगल संस्कार के समय बधाई इस गीत के माध्यम से दी जाती है। इस लोकगीत में 'बधोआ' या बधाई गीत को व्यक्तिपरक संज्ञा देकर सम्बोधित किया जाता है कि हे बधाई गीत! तू किस देश से आया है। बधाई गीत कहता है, मैंने देश-विदेश सब छोड़ा है, मैं नगरकोट से आया हूँ। बधाई गीत को सम्बोधित किया जाता है कि हमने घर का मार्ग साफ करा दिया है, आँगन को लीप दिया है, इसलिए तू हमारे घर आया है। यह हमारे लिए शुभ घड़ी है।

विवाह के इन्द्रधनुषी रंग में गालियों का अपना ही महत्त्व है। अवसर की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता को देख किस प्रकार गाली और बुरे बोल भी मन-भावन लगते हैं, इसका वर्णन बिहारी ने भी अपनी कविता में किया है। विवाह में गाली की एक पुरातन परम्परा है। विवाह में बारात के आगमन और उन्हें दिए जाने वाले भोज के समय गालियों का दौर चलता है। बारात के आगमन से पहले ही महिलाएँ और नारियाँ घर के भीतर या ऊपरी मंजिल की खिड़कियों, दरवाजों में बैठ जाती हैं। बारात के बैठने, हाथ-पैर धुलाने, खाने की पत्तलें बिछाने, दाल-भात परोसने, खाना खाने, खाकर उठने, सभी क्रियाकलापों के समय गालियों की बौछारें चलती रहती हैं। इनमें बारातियों के निकट सम्बन्धियों की अच्छी खबर ली जाती है। जो अधिक खा रहा हो वह भी और जो सलीके से थोड़ा-थोड़ा खा रहा हो, वह भी गालियों से बच नहीं सकता।

'झमाकड़ा' गाए जाने के समय भी गालियाँ गाई जाती हैं। ये गालियाँ बारातियों के प्रति ही हों, ऐसा नहीं है। दूल्हे के निकट सम्बन्धी भी आपस में गालियाँ गाते हैं। जब वधू वरगृह में आती है तो गृह-प्रवेश के साथ ही गालियाँ गाने का प्रसंग आरम्भ हो जाता है। लाड़ी यानी बहू के वर से भी लम्बे होने और नादान वर को चूड़ियाँ बजा-बजाकर डराने के साथ-साथ अपनी रिश्तेदार औरतों को साथ न लाने पर उलाहना दिया जाता है।

विवाह उत्सव के प्रारम्भ के साथ गीत-गायन भी आरम्भ हो जाता है। समूहत या शुभ मुहूर्त, सांद या शान्ति पाठ, बुटणा या उबटन लगाना, सिरगुंदी के साथ गीत गाए जाते हैं।

उबटन लगाने के लिए शुभ मुहूर्त निकाला जाता है। वर के घर से वधू के लिए उबटन भेजा जाता है। इस समय पर वर तथा वधू पक्ष दोनों में ही महिला वर्ग द्वारा आँगन में चरखा काता जाता है और वर-वधू के शरीर पर उबटन लगाया जाता है। कुल

पुरोहित के उबटन लेकर आने पर गालियाँ गाई जाती हैं। इसके पश्चात् उबटन लगाने की परम्परा में गीत गाया जाता है जिसमें कहा जाता है कि यह उबटन चावल के आटे का बना है। उबटन दो महिलाओं द्वारा मला जा रहा है। वर की सगी ताई और चाची उबटन लगा रही हैं, आदि-आदि।

वर या वधू के स्नान के बाद स्त्रियाँ गाती हैं कि ये आँगन में कीचड़ कैसे हुआ। किस ने पानी गिराया है। उत्तर मिलता है, बाप का पुत्र लाडला है, उसी ने यह पानी गिराया है। स्नान के बाद पूजन की प्रक्रिया भी लोकगीत से आरम्भ होती है : सूरजकुण्ड में वर या वधू ने स्नान किया है। नहा-धोकर गुड़-घी खाया है; अब लम्बी पूजा कर गणपति पूजना।

बहू के ससुराल-गृह में आगमन पर सभी परम्पराएँ गीतों के साथ निभाई जाती हैं। वधू का गृह-प्रवेश या अंदरेरा मुँह दिखाई या मुँह घड़ाई, गुणे खेलना या पैर बंदाई, पीपल पूजन, जल पूजन के साथ सभी सम्बन्धियों की विदाई तक ये गीत गाए जाते हैं।

वधू के गृह-प्रवेश के समय स्त्रियाँ उल्लास व हर्ष से नववधू का स्वागत करती हैं : आम की डाली पर कोयल बोल रही है। सास कहती है, प्यारी बहू ! यह घर तेरा है। यह घर ही नहीं, यह वर भी तेरा है। पतिगृह में आने पर घर के बड़े-बूढ़ों से एक प्रकार के परिचय के साथ बहू द्वारा पाँव छूने की रस्म की जाती है। इन गीतों में वधू को उपदेशात्मक शैली में समझाया जाता है कि हे बहू ! तुम बड़ों के पाँव छूती जाओ और आशीर्वाद लेती जाओ। दादा-दादी, सास-ससुर, जेठ-जेठानी, ननद-ननदोई तथा पति के पाँव छूकर इनकी आशीष ले सेवा भाव की सीख इस गीत में दी जाती है।

बहू घर में आ गई है। अब उसे ही गृहस्थी का भार सँभालना है। अतः नवेली दुल्हन से घर का प्रत्येक काम करवाने से पूर्व पूजन करवाया जाता है। बहू के आगमन के दूसरे दिन पीपल पूजन होता है जिसमें दूल्हे के सिर का सेहरा उतारकर दुल्हन या दूल्हे की बहन की झोली में डाल दिया जाता है। पीपल पूजन के साथ महिलाएँ गाती हैं। ये पीपल पूजने के लिए कौन आई है ? पीपल पूजने के लिए नई दुल्हन आई है। साथ में अपनी सास तथा ननद को लाई है।

विवाह कार्य सम्पन्न होने पर दुल्हन को पानी भरने के लिए गाँव के कुएँ या बावली पर ले जाया जाता है। किन्तु जब दुल्हन पानी भरने लगती है तो मेंढक उसे पानी भरने नहीं देता है। गीत में कहा जाता है : ये मेंढक पानी भरने नहीं दे रहा है। कहता है, पहले दुल्हन की माता को लाओ, तब पानी भरने दूँगा। दुल्हन की माता नहीं है तो उसकी भाभी को रख लो, उसकी ताई या चाची को ही रख लो; तब पानी भरने दूँगा।

विवाह के अवसर पर चाहे चुलबुल करती गालियाँ हों, या हृदयग्राही विदाई, चाहे चुहलबाजी का झमाकड़ा हो, या सुहाग जैसे धीर-गम्भीर गीत, ये उस सांस्कृतिक धरोहर के प्रतीक हैं जो लोक परम्परा के रूप में सदियों से समाज का प्रतिबिम्ब होकर जीवित चले आ रहे हैं। ये हमारे मानस की उन कोमल अनुभूतियों के प्रतीक हैं जो हमें सामाजिक बन्धनों में बाँधे हुए हैं और हमारे जीवन को संस्कारमय बनाते हैं।

लोक त्यौहार : संस्कृति और समाज के प्रतिबिंब

पर्व, उत्सव और त्यौहार जनमानस की सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना से जुड़े हैं। समाज के विकसित होने के साथ लोक परम्पराओं ने जन्म लिया। इन्हीं लोक परम्पराओं ने आगे चलकर त्यौहार और उत्सवों का रूप धारण किया है। समय के अनन्तर परम्पराओं का विकास हुआ। संस्कृति की विकास यात्रा पर्व-त्यौहारों के माध्यम से परिलक्षित होती है। किसी भी समाज की सांस्कृतिक यात्रा के पीछे पर्व-त्यौहारों का विशेष महत्त्व रहता है।

आधुनिक परिवेश में पर्व-त्यौहार संग्रहालय की वस्तु बन रहे हैं। गाँव में लोगों के जो मेल-मिलाप, मनोरंजन के साधन हैं उनका शहर में सर्वथा अभाव है। संस्कृति की यात्रा जो पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित रहती हुई आगे बढ़ती है, ग्राम्य परिवेश में, शहर में उसका स्थान एक महाशून्य ने ले लिया है जो हमारी संस्कृति के लिए एक खतरा बन चुका है। बहुत से व्रत-त्यौहार अब हम भूल चुके हैं जो ग्राम्य संस्कृति में रचे-बसे थे। एक सांस्कृतिक धरोहर, जो हममें छिपी थी अब लुप्त होती जा रही है।

व्रत-त्यौहार और मेले-उत्सवों में एक बुनियादी अंतर है। त्यौहार एक घर-परिवार या अधिक-से-अधिक परिजन समुदाय द्वारा मनाया जाने वाला उत्सव है जबकि मेला या उत्सव पूरे गाँव या पूरे क्षेत्र का सामूहिक आयोजन है। हालाँकि अब कई त्यौहारों ने कई जगह मेलों का रूप धारण कर लिया है। त्यौहार के दिन हर घर में एक-सा मांगलिक पर्व होगा, एक-सा पकवान पकेगा। मंगल कामनाओं या पकवानों का आदान-प्रदान भी होगा किन्तु एक सामूहिक क्रियाकलाप नहीं होगा। यद्यपि इस अंतर का भी एक स्पष्ट विभाजन रेखा के रूप में चित्र नहीं खींचा जा सकता।

हमारी संस्कृति के मूल में मंगल भावना छिपी है। वैदिक-पौराणिक काव्य साहित्य में यह मंगल भावना दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन नाटकों, काव्य तथा कथाओं का अंत मंगल में ही हुआ है। अतः यह मंगल भावना हमारे त्यौहारों में भी किसी-न-किसी रूप में सामने आई है। त्यौहार का मूल, उसे मनाया जाना तथा मनाए जाने का अभीष्ट मंगल रहा है। मंगल कामना ने ही अनेक त्यौहार-उत्सवों को जन्म दिया।

हमारे देश के अनेक त्यौहार और पर्व पुरातन संस्कृति की महत्त्वपूर्ण घटनाओं से

जुड़े हैं। एक ही सांस्कृतिक परिवेश और एक ही प्रमुख धारा के कारण ये त्यौहार देशव्यापी आधार लिये हुए हैं। ये सभी देश को एक सांस्कृतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि प्रदान करते हैं। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, दुर्गाष्टमी, रामनवमी, दीपावली, होली, शिवरात्रि, नवरात्रे, रक्षाबंधन, वैशाखी, नागपंचमी, वसंतपंचमी आदि ऐसे त्यौहार हैं जो पूरे देश में एक समान मनाए जाते हैं। वैष्णव, शैव, शाक्त मतों ने इन्हें जन्म दिया और आगे बढ़ाया। कहीं वैष्णव, कहीं शैव तो कहीं शाक्त, विशेष आयोजनों के साथ मनाए जाने लगे। ऐसी परम्परा में मण्डी शिवरात्रि, कुल्लू दशहरा, सुजानपुर होली, कुल्लू वसंतोत्सव आदि हैं जिन्होंने एक भव्य उत्सव और मेले का रूप धारण किया। नवरात्रे देवी के महत्त्वपूर्ण स्थानों—श्री नैना देवी, ज्वालामुखी, चिंतपूर्णी, हाटकोटी, चामुण्डा आदि में मनाए जाते हैं।

मंगल भावना से जुड़े त्यौहार मनोरंजन के साधन भी बने। हिमाचल प्रदेश जैसे प्रदेश में, जहाँ श्रम साधना के बिना कुछ भी कर पाना सम्भव नहीं है, इन त्यौहारों ने अथक परिश्रम के बाद कुछ मनोरंजन का साधन भी दिया। तभी कुछ त्यौहार फसल आने के बाद, बुआई के बाद या फसल के काम से फुरसत के क्षणों में मनाए जाने लगे। प्रकृति के अनुरूप भी इन त्यौहारों ने अपने रंग बदले। सर्दी, गर्मी, बरसात के अनुरूप अलग-अलग त्यौहार मनाए जाने लगे जो मौसम के आगमन तथा उसके अनुरूप फसल या वनस्पति पूजन के साथ जुड़े। छः ऋतुएँ और बारह महीने इन त्यौहारों का आधार बने।

आपसी सद्भाव, मेल-जोल तो इनका मूल मन्त्र रहा है। चाहे घर के भीतर मनाया जाने वाला छोटा-सा त्यौहार हो, चाहे गाँव के स्तर का उत्सव, चाहे बड़े स्तर का मेला, प्रत्येक उत्सव में आपसी मेल-मिलाप, भाईचारे की मूल भावना रही है। त्यौहार-उत्सव एक-दूसरे को करीब लाते हैं, दूरियाँ मिटाते हैं, मतभेद दूर करते हैं और जाति, धर्म, सम्प्रदाय से अलग हटकर सम्पूर्ण समाज को एक सूत्र में पिरोते हैं।

हिमाचल प्रदेश त्यौहारों का प्रदेश है। यहाँ हर मौसम में, हर मास में और यहाँ तक कि हर दिन कोई-न-कोई त्यौहार होता है। हर महीने की संक्रान्ति त्यौहार है। हर ऋतु के आने पर, उसके जाने पर त्यौहार है। फसल की बीजाई त्यौहार है तो कटाई भी त्यौहार है। अन्न का पहला दाना घर में लाना, उसे पहली बार खाना त्यौहार है। पशुधन खरीदना-बेचना त्यौहार है जो कहीं तो मेला बन गया है। बच्चे का जन्म लेना त्यौहार है ही, यहाँ तक कि किसी बड़े-बुजुर्ग का मरना भी त्यौहार है।

प्रदेश का जनजातीय क्षेत्र हिमाचल की ऊँचाई में बसा है। बर्फ से ढके इस क्षेत्र में पर्व-त्यौहारों ने भी प्रकृति की आज्ञा से अपना समय खोजा। लाहुल-स्पिति एकमात्र ऐसा जिला है जो अक्तूबर-नवम्बर से देश से कट जाता है और मई-जून तक खुलता है। चन्द्र और भागा नदियों के इस क्षेत्र में जनवरी में हालडा मनाया जाता है। इस त्यौहार में लोग मशालें लेकर चलते हैं जिन्हें एक स्थान पर जलाया जाता है। इस अवसर पर बर्फ

के साथ भी खेला जाता है। इस घाटी का दूसरा त्यौहार है फागली, जो फागुन (जनवरी का अंत या फरवरी) में मनाया जाता है। फागली का त्यौहार कुछ रूपान्तर के साथ कुल्लू में भी मनाया जाता है। गोची एक दूसरा रंगीन उत्सव है जिसमें महिलाएँ अपने वस्त्राभूषणों से सुसज्जित निकलती हैं और बर्फ का खेल होता है।

जिला लाहुल-स्पिति तथा जिला किन्नौर के पूह तक बौद्ध संस्कृति व्याप्त है। इस क्षेत्र में ताबो, पूह, शाशुर, गैमूर जैसे बौद्ध मंदिर या गोम्पा हैं। ग्रीष्म ऋतु का सबसे बड़ा उत्सव छेशु है जो इन गोम्पाओं में अलग-अलग तिथियों को मनाया जाता है। इस उत्सव में लामाओं द्वारा छम्म नृत्य किया जाता है। इस नृत्य में लामा लोग विशिष्ट वेशभूषा में मुखौटे पहन नृत्य करते हैं। इस परम्परा में धार्मिक कृत्य भी किए जाते हैं। लोसर एक अन्य पर्व है जो नववर्ष का पर्व माना जाता है। पोरी उत्सव त्रिलोकीनाथ मंदिर में मनाया जाता है। त्रिलोकीनाथ की मूर्ति को दूध-दही से नहलाया जाता है। त्रिलोकीनाथ को बौद्ध व हिन्दू समान रूप से मानते हैं। स्पिति घाटी के काजा में अगस्त में लादरचा उत्सव मनाया जाता है जो उत्सव के साथ-साथ एक व्यापारिक मेला भी है। पिन घाटी में बुछैन नृत्य प्रसिद्ध है। काजा से लगभग चालीस किलोमीटर पिन घाटी के लोग अपने में विशिष्ट हैं जिन्हें बुछैन कहा जाता है। ये लोग अद्‌भुत क्रियाएँ करते हैं। छाती पर लगभग एक क्विंटल भारी पत्थर रखकर चोट से तुड़वाना, लामा द्वारा तलवार की नोक पर पेट के ऊपर शरीर का बोझ डालना आदि आश्चर्यजनक कृत्य इसमें किए जाते हैं।

किन्नौर में फूलों का त्यौहार फुलाइच मनाया जाता है। सभी गाँवों में अलग-अलग तिथियों में यह त्यौहार मनाया जाता है। लगभग अगस्त से आरम्भ होकर यह त्यौहार अक्तूबर तक चलता है। फूलों के एकत्रित करने से लेकर देवता की पूजा-अर्चना और रात-रात-भर लोकनृत्य के साथ यह त्यौहार मनाया जाता है। इसी प्रकार जनजातीय क्षेत्र भरमौर में गद्दी लोग 'नुआला' मनाते हैं। यह शिवपूजा का अद्‌भुत उत्सव है।

देव संस्कृति के प्रतीक उत्सव कुल्लू, महासू के ऊपरी हिस्सों में बराबर मनाए जाते हैं। ये उत्सव उस सांस्कृतिक विरासत के प्रतीक हैं जो न जाने कितनी सदियों से मनाए जाते रहते हैं। ये उत्सव हैं—शांद, भदपूर, या पूर, भण्डोजी और भुण्डा। भुण्डा बारह वर्ष बाद होने वाला एक ऐसा उत्सव है जो एक पूरे क्षेत्र का साँझा प्रतिनिधित्व करता है। एक देवता के यहाँ भुण्डा उत्सव होने का अर्थ है पूरे क्षेत्र के देवताओं और मनुष्यों का समागम। इस उत्सव में बेडा जाति के एक मनुष्य को पहाड़ी के ऊपर से नीचे तक बाँधे रस्से पर बैठ उतरना होता था। अब यह प्रथा या तो बंद हो गई है या प्रतीक मात्र रह गई है। कुल्लू के निरमण्ड में भुण्डा उत्सव 1981 में हुआ। इससे पूर्व यह उत्सव 1962 में हुआ था। भुण्डा उत्सव रामपुर के बहुत से इलाकों मे अभी भी मनाया जाता है जिसमें विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराएँ निभाई जाती हैं।

भुण्डा से मिलता-जुलता दूसरा उत्सव है काहिका। यह कुल्लू में मनाया जाता

है—कभी साल बाद, कभी तीन, सात या बारह साल बाद। इसमें भी नौड़ जाति के मनुष्य भुण्डा जैसी परम्परा निभाते हैं।

ये उत्सव ऐसे हैं जो प्रदेश की देव संस्कृति के प्रतीक हैं। देव संस्कृति जो यहाँ के जनमानस से गहरे जुड़ी हुई है। हर ग्राम में देवता है और देवता भी ऐसा जिसे देवता के साथ शासक और पालक माना जाता है। वही प्रजा की रक्षा करता है, दण्ड भी वही देता है। फागली या ऐसे त्यौहारों पर देवताओं के गूर 'भारथा' सुनाते हैं। इसे वर्शौहा भी कहा जाता है। प्रायः यह वर्ष में एक बार होता है जब देवता अपने गूर के माध्यम से अपनी कथा सुनाता है। आत्मकथा के साथ वह सुनाता है आगामी वर्ष के लिए भविष्यवाणियाँ। आगामी वर्ष कैसा होगा? अकाल पड़ेगा या वर्षा होगी, सूखा पड़ेगा या हरा-भरा रहेगा। यह सारा वृत्तांत देवता सुनाता है।

वैशाखी या बिशु एक महत्त्वपूर्ण त्यौहार है जो प्रदेश के निचले तथा ऊपरी दोनों भागों में समान रूप से मनाया जाता है। कई जगह बिशु का मेला सबसे बड़े मेले के रूप में मनाया जाता है। वैशाखी के दिन कई स्थानों में स्नान का विशेष महत्त्व है। गुरु गोबिंद सिंह के आगमन के साथ जुड़ा है सिरमौर का पाँवटा साहिब और मण्डी का रिवालसर। रिवालसर, तत्तापाणी में इस दिन स्नान किया जाता है। चौपाल के कई स्थानों में शिरगुल देवता का बिशु अब मेले के रूप में आयोजित होता है। महासू में भी कई स्थानों में बिशु वैशाखी को भिन्न-भिन्न तिथियों को मनाया जाता है।

बीस भादों एक स्नान का पर्व है। इस दिन कई झीलों तथा पवित्र स्थानों में स्नान किया जाता है। स्नान से सम्बन्धित एक अन्य त्यौहार है मकर संक्रान्ति या लोहड़ी। प्रातःस्नान के साथ मकर संक्रान्ति की पिछली सायं हरण या हरणातर या स्वांग खेला जाता है। प्रातःस्नान के बाद खिचड़ी खाना भी एक परम्परा है।

आश्विन की संक्रान्ति को सायर या सैर एक अन्य त्यौहार है जो प्रदेश के निचले भागों में विशेष रूप से मनाया जाता है। त्यौहार से पूर्व बच्चे तथा बड़े अखरोट से खेलते हैं। संक्रान्ति के दिन विशेष आयोजन घर-घर में किया जाता है। अर्की तथा सोलन के क्षेत्र में इस त्यौहार ने मेले का रूप धारण कर लिया है। दिन को मेले जुड़ते हैं और रात करियाला होता है।

रली पूजन काँगड़ा क्षेत्र का पारम्परिक पर्व है जिसमें शिव-पार्वती विवाह का संस्कार कन्याओं द्वारा पर्व के रूप में मनाया जाता है। रली पूजन के बाद अंत में इन्हें जल में प्रवाहित कर दिया जाता है। इसी प्रकार गुग्गा जाहरपीर से सम्बद्ध गुग्गा जातर भी काँगड़ा, हमीरपुर तथा बिलासपुर में विशेष महत्त्वपूर्ण है।

अहोई अष्टमी, हरियाली, रक्षाबन्धन, पूड़छड आदि अन्य ऐसे व्रत-त्यौहार हैं जो घरों में महिलाओं द्वारा मनाए जाते हैं। नाग पूजा, गौ-बछड़ा पूजा, अन्न पूजा, पीपल पूजा आदि त्यौहार एक अमर परम्परा के प्रतीक हैं जो सदियों से जनमानस द्वारा निभाई जा रही है।

मंच की माँग और नृत्य परम्परा

नृत्य योग है, नर्तक योगी। योगी अपनी साधना में ध्यानस्थ हो जाता है। ठीक उसी प्रकार नृत्य में तल्लीन नर्तक समाधि की स्थिति में चला जाता है। आनन्द की प्राप्ति दोनों का अभीष्ट है। दोनों ही अपने में डूब जाते हैं। नृत्य और गायन मन की मुक्त अवस्थाएँ हैं जो तनावरहित मनुष्य के लिए ही सम्भव हैं। तनावग्रस्त व्यक्ति न नृत्य कर सकता है, न ही ध्यान लगा सकता है।

हिमाचली नृत्य की यह विशेषता है कि नर्तक अपने आनन्द के लिए नाचता है। अपनी कला या करतबों से दूसरों को रिझाना उसका अभीष्ट नहीं। वह नहीं देखता उसे अगले साथी के साथ कदम से कदम मिलाना है या उसकी भुजा परेड की भाँति सबके साथ सीध में उठती है। उसे तो नृत्य करना है अपने अन्तर के इंगित पर।

पहाड़ी और ठंडा क्षेत्र होने के कारण हिमाचल के नृत्य मंथर गति के हैं। नर्तक मन्द गति से मदमस्त रात-रात-भर नाचते रहते हैं। इस कारण वे कभी थकते नहीं। कुछ घंटों के नृत्य के बाद ही उनका लहू गरमा पाता है। मेले तथा देव उत्सवों के समय एक आदमी जब नाचना आरम्भ करता है तो पूरा-का-पूरा गाँव उसके साथ लड़ी या माला में गुँथ जाता है और सारा गाँव नाच उठता है। कुल्लू, महासू, सिरमौर में ऐसे नृत्य रात-रात-भर चलते रहते हैं। किन्नौर की नर्तकियाँ अपने आभूषणों के भार के कारण तेजी से नाच ही नहीं सकतीं। इसी प्रकार गद्दी नर्तक अपने ऊनी चोले टोपे और डोरे के कारण फुदक नहीं सकते। गद्दी नर्तक गोल घूमते हुए घण्टे-भर में एक चक्कर पूरा करते हैं। मेलों के अवसर पर उन्हें टमक के करीब बस शींशीं करते और एक जगह पर हिलते हुए घंटों देखा जा सकता है।

इन स्वाभाविक नृत्यों को मंच की माँग प्रदूषित करती है। मंच की माँग है कि छब्बीस जनवरी को बस दस-बारह मिनटों में ही अपनी सभी करतब दिखाने हैं। जितनी देर में नर्तक अभी खुलकर नाचने का मन भी नहीं बना पाएगा, उतना समय उसे पूरे प्रदर्शन के लिए दिया जाता है। फलतः नृत्य की मूल आत्मा दब जाती है। प्रदर्शन हड़बड़ाहट-भरा और भोंडा होता है। जिस लास्य भाव से कलाई मोड़नी है, स्वतः जिस अदा से झुकना है उससे कई गुना स्पीड से कार्टून की तरह घूम जाने से नृत्य का स्वरूप ही बदल जाता है। जो अंग-संचालन शालीनता से किया जाना है, वह भद्दा और

अश्लील भी हो जाता है कभी-कभी। नर्तक मंच से वापस आने पर हँसने की मुद्रा में चौड़ा किया मुँह बड़ी कठिनाई से यथास्थान लाते हैं।

दूसरा संकट पारम्परिक वेशभूषा का है। प्रायः यहाँ की वेशभूषा महँगी है। एक-एक कुल्लूई पट्टू या किन्नरी शाल हजारों में पड़ती है। उस पर आभूषण? एक किन्नौरी नर्तकी के आभूषणों का भार आठ किलो से दस किलो तक होता है। इस कारण वेशभूषा ने साधारण कुरते-पाजामे, पटके और टोपी का स्थान भी ले लिया है। यह प्रथा स्कूली बच्चों से आरम्भ हो गई है, या फिर स्कूल-कॉलेज में भड़कीले गोटे-किनारी वाली नकली वेशभूषा बनवा ली जाती है। कई बार चूड़ीदार पाजामा, कुरता और टोपी पहने नर्तकों को देखकर लगता है जैसे कि होटल के बेयरों ने एकाएक नाचना शुरू कर दिया हो।

कई बार ऐसी सांस्कृतिक झलकियों को देखते हुए लगता है कि हम सांस्कृतिक विरासत में कंगाल हैं। या सांस्कृतिक समृद्धता है तो हम उसे सही ढंग से पेश नहीं कर पा रहे हैं।

वास्तव में हिमाचली नृत्य अभी प्रयोग के दौर से गुजर रहा है। सांस्कृतिक विविधता होने के कारण नृत्यों के प्रकार अनेक हैं। अलग-अलग रूपों की भरमार है फिर भी एक पहचान अभी नहीं बन पाई है।

वास्तव में लोकनृत्य समाज के दिल की धड़कन है। यह मात्र मनोरंजन का साधन ही नहीं है अपितु संस्कृति के अनेक अज्ञात पहलुओं को उजागर करता है। आज संस्कृति का अर्थ संकुचित हो गया है और किसी भी देश की सांस्कृतिक पहचान उसके लोकनृत्यों से ही होने लगी है। सांस्कृतिक समझौतों में एक देश के लोकनृत्य ही दूसरे देश में जाते हैं। इसी तरह राष्ट्रीय स्तर पर अन्तर्राज्य सांस्कृतिक आदान-प्रदान योजना बनी है जिसके अन्तर्गत एक प्रदेश के सांस्कृतिक दल दूसरे प्रदेश में भ्रमण पर जाते हैं। देश में स्थापित सांस्कृतिक केन्द्रों ने उत्सवों की परम्परा आरम्भ की है। जिसका मुख्य आकर्षण भी सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं।

हिमाचल प्रदेश में अधिकांश नृत्य विभिन्न उत्सवों से जुड़े हुए हैं। ये उत्सव प्रायः धार्मिक प्रकृति के होते हैं जिनमें स्थानीय देवता की उपस्थिति अनिवार्य रहती है।

लोकनाट्य में भी नृत्य एक आवश्यक अंग है। मण्डी में बाँठड़ा, सिरमौर में ठोडा, काँगड़ा में भगत तथा रास, कुल्लू में हरण, महासू में करयाला लोकनाट्य खेले जाते हैं। जिनमें नृत्य का समावेश भी रहता है। भरमौर में 'नुआला' शिवपूजा का धार्मिक पर्व है जिसमें ऐंचली नृत्य में शिवगाथा गाई जाती है। इसी प्रकार कुल्लू में 'देउखेल' होती है जिसमें देवता के गूर संगल, कटार आदि के साथ नृत्य करते हैं।

लोकनृत्यों में अधिकांश का नामकरण स्थान के नाम से है, जैसे चम्बयाली, मण्डयाली, साहो, चुराही, पंगवाली, कुल्लूवी, किन्नौरी। नृत्य में कहीं अकेली महिलाएँ, कहीं अकेले पुरुष और कहीं महिला-पुरुष इकट्ठे नृत्य करते हैं। महिला-पुरुष के इकट्ठे

नृत्य का चलन इन दिनों अधिक हुआ। चम्बयाली तथा मण्डयाली केवल चम्बा व मण्डी शहर के ही नृत्य हैं, जिनमें महिलाएँ भाग लेती हैं। डंडारस भरमौर का गद्दी (पुरुष) नृत्य है। घुरेही गद्दी महिला नृत्य। झमाकड़ा (काँगड़ा) में भी महिलाएँ ही नाचती हैं जो एक विवाह नृत्य है। गिद्धा तथा पड़ुआ भी ऐसे ही नृत्य हैं।

नाटी एक समूह नृत्य है जो मण्डी, महासू, कुल्लू, किन्नौर, सिरमौर में समान रूप से प्रचलित है। नाटी में सबसे आगे नाचने वाला 'धुरी' कहलाता है जो प्रतिष्ठित, वरिष्ठ या आयु में अग्रज होता है। उसके पीछे वरिष्ठता के क्रम से लोग नाचते हैं। ढीली, फेटी, दोहरी, लाहुली, बुशहरी, घुघती, लालहड़ी, भागली आदि नाटी प्रकार हैं। ये नाम नृत्य में अंग-संचालन के अनुरूप हैं। स्थान के अनुसार कुल्लूई, किन्नौरी, सिराजी, चुहारी, महासूबी आदि नाटी नाम रखे गए हैं। तलवार नृत्य, मुंजरा नृत्य, बुढड़ा नृत्य, लुड्डी नृत्य अन्य प्रकार हैं। छम्म, बुछैन, क्यांग, लामा नृत्य किन्नौर के विशिष्ट नृत्य हैं। मुंजरा महासू का नृत्य है।

प्रदेश में नृत्य तो अनेक हैं पर उनमें विविधता है। विलक्षणता भी है। इस अनूठे खजाने को कैसे माला में जोड़ा जाए, यह चुनौती है।

नरबलि का उत्सव : भुण्डा

हिमाचल के ऊपरी हिस्सों में 'भुण्डा' नाम से एक उत्सव मनाया जाता है जिसमें नरबलि जैसा खतरनाक खेल खेला जाता है। यह उत्सव जिला कुल्लू, मण्डी तथा शिमला के भीतरी क्षेत्रों में मनाया जाता है। निरमण्ड के साथ परशुराम के अन्य स्थानों करसोग, बछूंद, समरकोट, स्पेल, नंडला, कलगाँव तथा रायका आदि गाँव भुण्डा उत्सव के लिए प्रसिद्ध हैं। वास्तव में भुण्डा बारह बरस बाद मनाया जाने वाला यज्ञ है। इसी बीच अन्य तीन उत्सव शांद, भदपूर या पूर तथा भण्डौजी भी होते हैं। कई कारणों से इन उत्सवों के आयोजन अब निश्चित अवधि में नहीं हो पाते। लम्बे समय के बाद एक उत्सव का आयोजन हो पाता है।

जिला कुल्लू के निरमण्ड में मनाए भुण्डा उत्सव के तुरन्त बाद हुआ शोली का भुण्डा। शोली रामपुर के ऊपर एक गाँव है। सांस्कृतिक तथा धार्मिक अनुष्ठानों के अतिरिक्त इस उत्सव में मंदिर परिसर के द्वार पर छत से मंदिर की ओर प्रांगण में एक रस्सा बाँधा गया था। इस रस्से पर 'बेडा' को बिठाकर इस खतरनाक खेल की मात्र परम्परा ही निभाई गई थी। चुपके से जंगल में बेडा को रस्से से गिराने की बात भी फैली थी जो जिला प्रशासन के हस्तक्षेप से सम्भव नहीं हो पाई।

रामपुर के ही एक गाँव खड़ाहन में 9 से 11 जून, 1987 को भुण्डा हुआ। इस भुण्डे में भी यह मात्र औपचारिकता ही थी, मौत से खेलने वाली बात नहीं। हाल ही में 30 जून से 2 जुलाई, 1990 को डणसा (रामपुर) में भुण्डा हुआ जिसमें मोटा रस्सा खम्बों से बाँधने से पहले ही टूट गया जिसे पुनः छोटा कर यह परम्परा निभाई गई।

जिला शिमला में ही नौणा नंडला नामक स्थान पर 24 से 27 दिसम्बर, 1991 को भुण्डा हुआ। इस भुण्डे में असंख्य लोगों तथा कई देवताओं की उपस्थिति में दैनिक परम्पराएँ निभाई गईं। एक नाले के आर-पार बाँधे रस्से से लकड़ी की घोड़ी पर एक आदमी को बिठाया गया।

पुराने समय में यह सही मायनों में मौत का खेल था। मोटा रस्सा, जो स्वयं बेडा द्वारा तैयार किया जाता था, एक पहाड़ी की ऊँचाई से दूसरी तक नीचे की ओर बाँधा जाता मजबूत खम्बों से। इसके ऊपर लगभग चौबीस इंच चौड़ी घोड़ी या काठी फिट की जाती जिसके ऊपर लुढ़कने वाले आदमी को बिठाया जाता। दोनों ओर रेत आदि की

बोरियाँ बाँधी जातीं ताकि संतुलन बना रहे। आदमी को घुड़सवारी की मुद्रा में ऊपर से छोड़ दिया जाता।

यह कार्य किया जाता था 'बेडा' जाति द्वारा। इसे कुल्लू की ओर 'नौड़' तथा रामपुर की ओर 'बेडा' कहा जाता है। वास्तव में यह एक जाति है जिनका आपस में बेटी का रिश्ता है। ये लोग देवता से सम्बद्ध हैं। ये देवता के लिए ही मरते हैं। उसी के लिए ही जीते हैं। देवता ही इन्हें जमीन देता है, जायदाद देता है। बदले में इन्हें ऐसे उत्सवों में रस्से के ऊपर बैठ नीचे लुढ़ककर मौत का खेल खेलना होता है।

निरमण्ड में इस समय एक बेडा परिवार है। इस परिवार का मुखिया जिउणू राम है जिसका पुत्र मस्तराम अब मेट है।

जब जिउणू राम से पूछा गया कि क्या वह भी कभी 'ज्याली' बना तो उसने दोनों हाथों से कान पकड़ते हुए कहा—"नहीं, मैं तो इससे बचा रहा। हाँ, मेरे पिताजी रामपुर बुशहर में पाँच-छः बार 'ज्याली' में पड़े और जिन्दा रहे।"

वास्तव में निरमण्ड में 1856 के भुण्डे में एक बेडा की मृत्यु हो गई थी। इस दुर्घटना के बाद यहाँ कोई बेडा नहीं रहा। बाद में दो भाइयों—भालू और गोरिया को, जो दलाश (कुल्लू) व बुशहर में रहते थे, मनाकर निरमण्ड लाया गया। वर्तमान परिवार इन्हीं की सन्तान है। सरबणू, जिसकी मृत्यु 1856 के भुण्डे में हुई बताई जाती है, इन दोनों भाइयों का मामा था। सरबणू की मृत्यु के बाद निरमण्ड में आदमी नहीं डाला गया क्योंकि तत्कालीन अंग्रेज सरकार ने इस खतरनाक खेल को बंद करवा दिया। इसके बाद पूजन आदि बेडा का ही होता रहा। ले जाया भी उसे जाता परन्तु वहाँ उसके स्थान पर बकरा डाल दिया जाता। रामपुर बुशहर रियासत थी। अतः वहाँ बाद तक भी ज्याली पड़ता रहा।

मस्तराम निरमण्ड में अपने-आपको एकाकी समझता है। इसकी पत्नी कुल्लू से ब्याही गई है। गाँव में तो क्या, दूर-दूर तक भी कोई इसकी बिरादरी का नहीं है। निरमण्ड के सन् बासठ के भुण्डे के समय वह सत्रह-अट्ठारह वर्ष का था।

वह बताता है, "रामपुर बुशहर में हमारी बिरादरी का बड़ा मान-सम्मान होता। गाँव में बेडा जिस घर में जाकर जिस चीज को हाथ लगा देगा, वह उसे सहर्ष मिल जाएगी। हमारे बुजुर्ग बस एक भुण्डा निभाकर सालों आराम से सोया करते थे। कमाने की क्या जरूरत है! पर हमारे प्राण गले में ही अटके रहते। पता नहीं कब क्या हो जाए। सरबणू की मौत के बाद निरमण्ड में बेडा परिवार नहीं रहा तो मेरे दो बुजुर्गों को फुसलाकर यहाँ लाया गया। उनमें एक गाना-बजाना जानता था। उस समय नायब साहब उन्हें अपने साथ ले आए। रास्ते-रास्ते महफिलें सजती रहीं और उन्हें यह कहते रहे कि इनाम आगे देंगे। निरमण्ड पहुँचने पर उन पर कड़ी नजर रखी गई। वहाँ ज्ञात हुआ कि यहाँ तो भुण्डा हो रहा है। उस समय नायब साहब ही राजा हुआ करते थे। आखिर उन्हें यहीं बस जाना पड़ा।"

निरमण्ड का भुण्डा 8 फरवरी, 1981 को हुआ। 8 फरवरी से हवनकुण्ड खुलने

और तान्त्रिक पोथियों के वाचन सहित हवन के प्रारम्भ होने से भुण्डा का श्रीगणेश हो गया। यह एक साहसिक कदम था 'भुण्डा कमेटी' का, क्योंकि उत्सव में समस्त ग्रामीणों के सारा समय व्यस्त रहने के अलावा व्यय भी एक लाख से कदापि कम नहीं होना था। देवता व देवी अम्बिका की मुआफिआँ चली जाने के बाद और कारदार वाली व्यवस्था समाप्त होने के बाद इस सम्पूर्ण क्रियाकलाप को चलाने के लिए 'भुण्डा कमेटी' का गठन किया गया जिसमें पिछले भुण्डे को निभाने वाले कारदार श्री ख्यालीराम ने भी प्रमुख भूमिका निभाई। निरमण्ड व आसपास के 195 घरों से अन्न-धन एकत्रित किया गया। प्रत्येक घर से आटा, चावल, घी, जौ, मांस व नकदी ली गई। पन्द्रह हजार की सहायता हिमाचल अकादमी से प्राप्त हुई। प्रत्येक घर से 32 किलो आटा, 32 किलो चावल, 500 ग्राम घी, 2 किलो जौ और 2 किलो मास लिया गया। नकदी में 30 रुपए प्रति परिवार लिया गया। जो सदस्य नौकरी में थे उनसे वेतन का 20 प्रतिशत अलग से लिया गया।

हवन के प्रारम्भ के समय भण्डार से निम्न मूर्तियाँ निकालकर यज्ञशाला में रखी गईं—बुद्ध, तारा, विष्णु, गणेश, महिषासुरमर्दिनी, शूलपाणी, दुर्गा की कलात्मक मूर्तियाँ तथा शेर के मुँह वाले दो स्टैण्ड, कलश, दो मोर तथा घण्टियाँ।

प्राचीन परम्परा के अनुसार निश्चित समय पर, 31 अगस्त की रात दो माह तो—श्री विधाराम तथा पेगाराम, एक ब्राह्मण श्री लोकनाथ मिश्र तथा दीपकधारी पलस्तराम ने मंदिर के भीतर जाकर परशुराम की मूर्ति व अन्य वस्तुएँ निकालीं। श्री लोकनाथ मिश्र ने परशुराम की मूर्ति निकाली तथा अन्य दो ने शेष सामग्री।

इस बार ये वस्तुएँ निकाली गईं—मोहरा या मास्क, जो बाहर से सफेद चाँदी का था। पुजारी इसे परशुराम की मूर्ति बता रहे थे। पहले के भुण्डों में लोगों की याददाश्त के अनुसार यही मूर्ति निकाली जाती रही। इस विषय में भी लोकास्था है कि एक बार जब मूर्ति को अखाड़े में ले जाया गया, उधर से हमला हो गया और हमलावर (या अखाड़े में ठहरे साधु) मूर्ति ले गए। अब जो यह मूर्ति है, वह बाद में बनाई गई है। यह मूर्ति पुरानी नहीं है, इस बात को लोकास्था पुष्ट करती है। मूर्ति के तीन मुख हैं—बीच वाला सौम्य, बाईं ओर भी सौम्य, दाईं ओर भयंकर। गले में साँप है जिसके तीन मुँह भयंकर मुख के नीचे हैं। भयंकर मुख के मुकुट में भी भयंकर मुख है। बीच के मुख में तीसरा नेत्र है। स्पष्टतः मोहरा शिव को समर्पित है। इसकी शैली वही है जिसमें वर्तमान देवताओं के मोहरे बने हुए हैं। गौर से देखने पर मोहरे में कलात्मक त्रुटियाँ नजर आती हैं। बीच की आँख ऐसे लगती है जैसे माथा फोड़कर लगाई गई हो। इस बीच के मुख की दोनों आँखों की पुतलियाँ भी ठीक से एक जगह फोकस नहीं होतीं। मुख का दायाँ भाग बाएँ की अपेक्षा मोटा है। श्री मिश्र के अनुसार मूर्ति उठाने में अधिक भारी नहीं है। स्पष्टतः अन्दर पूरी तरह भरी हुई नहीं है।

दो मूर्तियाँ जिन्हें पुजारी इन्द्र-इन्द्राणी की बता रहे थे, बुद्ध की प्रतीत हो रही थीं।

ये मूर्तियाँ अवश्य ही प्राचीन रही होंगी। इनके अतिरिक्त एक सोने का कण्ठा, कलश, कमण्डल, धनुष, दो हाथीदाँत के पंखे, एक अँगूठी (जो कलाई में आ सकती है) तथा चाँदी का एक थाल भी निकाला गया।

मन्दिर के इतिहास का एक प्रामाणिक सबूत ताम्रपत्र है जिसका उल्लेख हारकोट ने भी किया है। पिछली बार यहाँ आने पर ज्ञात हुआ था कि एक सज्जन इसे पढ़वाने के लिए बाहर ले गए हैं। इस बार भी ताम्रपत्र के दर्शन न हो सके।

मन्दिर के ऐतिहासिक तथ्यों की खोज में लगे युवा वकील श्री महेन्द्र प्रकाश से कुछ जानकारी हासिल हुई। उनके पास इस ताम्रपत्र की कागज पर उतारी प्रतिलिपि मौजूद थी। ताम्रपत्र 32×20 सें.मी. है जो संस्कृत भाषा किन्तु अन्य लिपि में खुदा हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि यह लिपि छठी-सातवीं ईसवी की उत्तरी भारत में प्रचलित लिपि से मिलती है।

कनिंघम ने इस तामपत्र को बारहवीं शताब्दी का माना जबकि डॉ. जे. एफ. फ्लीट ने इसे सातवीं शताब्दी का सिद्ध किया।

तामपत्र में उल्लेख है कि कपालेश्वर मंदिर महाराज सर्ववर्मन द्वारा बनवाया गया और इसमें समुद्रसेन की माता परमदेवी महाभट्टारिका मिहिरलक्ष्मी ने मिहिरेश्वर की मूर्ति की स्थापना की। मिहिरेश्वर की पूजा-अर्चना के लिए महाराजा समुद्रसेन ने शूलिश ग्राम और उससे संलग्न भूमि व जंगल निरमण्ड के अथर्ववेदी ब्राह्मणों को अग्रहार के रूप में दिया।

इस पत्र की तिथि शुदी दस, वैशाख मास, सम्वत् छः है।

लेख में चार महासामन्त, महाराजाओं की वंशावली दी है—वरुणसेन, संजयसेन, रविसेन और समुद्रसेन।

निरमण्ड के सेनवंश, राजा सर्ववर्मन के विषय में इतिहास खामोश है। वे स्वतंत्र शासक थे या किसी के अधीनस्थ सामन्त, यह स्पष्ट नहीं है। लोकास्था के अनुसार इनका सम्बन्ध शकों के विकट शत्रु विक्रमादित्य से था,जो सत्य के निकट है।

एच. सी. शैटलवर्थ ने 1919 के भुण्डे में रानी के एक हैड-मैटल के निकलने का उल्लेख किया है जिसमें एक संस्कृत लेख में सम्वत् सात लिखा है। इसी में एक लेख टॉकरी में है जो सम्भवतः बाद में लिखा गया। भुण्डा के पिछले रिकॉर्ड में एक जगह एक मोती-हार का जिक्र आता है, जिसमें सम्वत् 749 लिखा है।

इसी प्रकार हर स्थान में भुण्डा उत्सव के अवसर पर भण्डार से ऐसी दुर्लभ मूर्तियाँ तथा वस्तुएँ निकाली जाती हैं जो अन्य किसी भी अवसर पर निकाली नहीं जातीं। ऐसे भण्डारों में कोई व्यक्ति भीतर नहीं जाता। समारोह के अवसर पर भी आँखों में पट्टी बाँध चुनीदा व्यक्ति ही भीतर जाते हैं। प्रदेश के भीतरी भागों में ऐसे अनेक मंदिर हैं जिनमें पुरातात्त्विक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामग्री विद्यमान है जो लोक-परम्पराओं, आस्थाओं के कारण किसी ने नहीं देखी।

कई स्थानों में इस उत्सव के अवशेष बचे हुए हैं। जिला मण्डी के करसोग में ममलेश्वर महादेव का प्राचीन मंदिर है। इस मंदिर में अनेक परम्पराएँ निभाई जाती थीं जो अब छिन्न-भिन्न हो चुकी हैं। पुराने मंदिर में आज भी किसी भुण्डा उत्सव में प्रयुक्त रस्सा लगा है। यहाँ कब भुण्डा हुआ, यह कोई बुजुर्ग नहीं जानता। गाँव में एक व्यक्ति के पास एक प्राचीन पाण्डुलिपि है जिसमें भुण्डा उत्सव की विधि का विधान दिया गया है। तांत्रिक पद्धति की इस प्रक्रिया में बौद्ध धर्म के हीनयान महायान का भी उल्लेख है। ऐसी ही एक अन्य पोथी 'प्रौढ़' नाम से है जिसे इस उत्सव के अवसर पर बाँचा जाता है। कहा जाता है, यह पोथी दत्तनगर में एक ब्राह्मण परिवार के पास है। निरमण्ड के भुण्डा में इसे पढ़ने रावीं (रामपुर के पास) के पुरोहित भी आते थे।

ऐसे दुर्लभ उत्सवों के बारे में अभी बहुत खोज बाकी है। पूरे क्षेत्र के ऐसे उत्सवों की छानबीन से कई सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा पुरातात्त्विक तथ्य सामने आएँगे जो इस पर्वतीय संस्कृति को नए रूप में प्रस्तुत कर सकेंगे।

प्रायश्चित्त के लिए काहिका मेला

'काहिका' कुल्लू और मंडी में आषाढ़-श्रावण में देवता के विशेष मेलों का नाम है जिनमें 'नौड़' मरता है। नौड़ एक जाति विशेष है जिसे बाहरी सिराज व रामपुर की ओर बेड़ा कहा जाता है। कुल्लू व संलग्न मंडी के इलाकों में नौड़ परिवार बहुत कम हैं। काहिका का नामकरण क्यों हुआ, इस शब्द का अर्थ या व्युत्पत्ति क्या है, यह अभी अज्ञात है। यह धार्मिक उत्सव या तो मंदिर के नवनिर्माण, किसी मूर्ति-मोहरे के निर्माण के समय होता है या देवता की इच्छा से। कुछ परम्परागत काहिके भी हैं जो प्रत्येक वर्ष, तीसरे, पाँचवें, सातवें या बारहवें वर्ष होते हैं। विभिन्न क्षेत्रों के काहिके में नौड़ को मारने की प्रक्रिया भी थोड़ी बहुत भिन्न है। बिजली महादेव, नरोगी, नरां, दयार, शिरढ़, टिहरी, छमाहण आदि गाँवों में प्रायः ये उत्सव होते रहते हैं। शिरढ़ और दयार में तीसरे वर्ष काहिका होता है। ग्रामङ में एक बार चौंतीस वर्ष बाद काहिका हुआ।

काहिका प्रायश्चित्त का यज्ञ भी माना जाता है। इलाके-भर में किसी व्यक्ति द्वारा हुए किसी भी प्रकार के पाप का प्रायश्चित्त इस यज्ञ में किया जाता है। इसे छिद्रा कहा जाता है। शिरढ़ में मनाया जाने वाला काहिका प्रायश्चित्त के लिए ही आयोजित होता है। काहिके में आरम्भ में 'गूर खेल' एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है जिसमें देवता के सजे हुए रथ के सामने देवता गूर नृत्य करते हैं—कटार, संगल और देवता के साजोसामान सहित।

काहिका के आयोजन में एक वेदिका बनाई जाती है जिसके बीच नौड़ बैठता है। देवता के रथ चारों ओर रहते हैं। वेदिका में ही गूर नृत्य करते हैं, नौड़ के चारों ओर। बीच में एक ओखलीनुमा लकड़ी का पात्र रखा जाता है जिसमें जौ डालते हैं। इसे योनि का रूप भी माना जाता है। कुछ काहिकों में (जैसे शिरढ़) नौड़ लकड़ी के बने लिंग भी साथ लाते हैं और इनके साथ देवता के गूरों से मजाक किया गया। भेखली में भी नौड़ पुरुष व स्त्रियों द्वारा गूरों या उपस्थित जन-समुदाय के साथ अश्लील मजाक किए जाते हैं। ऐसा करने से उन्हें कोई रोक नहीं सकता। नौड़ नाराज न हो, इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है। दरपौइण के काहिके में नौड़ ने लकड़ी का लिंग एक विशिष्ट व्यक्ति के हाथ में थमा दिया जिसके बदले उसे कुछ रुपए देने पड़े। यह भी विश्वास है

कि जितना अधिक नौड़ मजाक करेंगे या अश्लील हरकतें करेंगे, उतना ही भूत-प्रेतादि से मुक्ति मिलेगी। इस हँसी-मजाक के कारण इसे 'कहकहा' से भी जोड़ा जाता है।

काहिके में नौड़ को 'मारने' की प्रक्रिया अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग है। जहाँ शिरढ़ और दरपौइण में तीर चलाकर नौड़ को मारा जाता है वहाँ दयार और बशौणा में चरणामृत पिलाकर। भेखली में नौड़ को मंत्र द्वारा मारा जाता है। एक काहिके में नौड़ के मरकर दोबारा जिंदा न होने की बात भी की जाती है।

नौड़ के मरने का एक दृश्य है : कपिल मुनि के स्थान बशौणा में काहिका तीन दिन पहले से शुरू था। परसों कपिल मुनि का रथ सजा था। कल आराम का दिन था, आज नौड़ मरने का। नौड़ जो दस-ग्यारह साल का लड़का था परसों से देवता के पास ही था। उसे केवल दूध दिया जा रहा था तीन दिन से।

अब उसे नहलाने मंदिर में ले जाया गया। व्याकुल माँ चारों ओर घिरे बच्चों, लोगों को पीछे कर रही थी। एक आदमी हाथ में बहुत पुराना-सा डंडा लिये उसे नहलाकर ले आया। पीली धोती पहनाई गई थी उसे। गले में, कमर में कपड़े की पट्टियाँ-सी बँधी थीं। देवता के सामने खड़ा कर पूजन आरम्भ हुआ। हर पूजन के बाद जोर से ढोल पीटा जाता। वर्षा के कारण भीगे ढोल की ढप्-ढप् ध्वनि गूँजती।

पूजा के बाद लड़के को ऊपर ले जाना था। कपिल मुनि का रथ वहीं रहा। नर्तक दल ढोल-ढमाके सहित पुजारी व लड़के के साथ चल दिया। कुछ ही ऊपर पहले ही एक आदमी थाली में रोटियाँ रखे बैठा था। धीरे-धीरे सभी लोग नाचते हुए वहाँ पहुँच गए। रोटियाँ उसके ऊपर घुमाकर फेंक दी गईं। उसे बीच में खड़ा कर तीन बार चरणामृत पिलाया गया। चारों ओर लोग खड़े थे। पुजारी जोर से चिल्ला रहा था, "बोल कपिल मुनि की—" "जय।" "सियावर रामचन्द्र की—" "जय।" "पवनसुत हनुमान की—" "जय।"

तीसरी बार चरणामृत पीते ही लड़का निश्चेष्ट हो पीछे लुढ़क गया। आँखें बंद हो गईं। पुजारी व अन्य आदमियों ने उसे कंधों पर उठा लिया और वापस चल दिए। अब 'नौड़' मर चुका था। आगे-आगे बाजे वाले व नर्तक थे, पीछे-पीछे उसे कंधा दिए पुजारी व अन्य नर्तक। नीचे पहुँच मंदिर की परिक्रमा की गई।

देवता के पास बैठी माँ की व्यथा आँखों से उमड़कर झरने लगी। लोग मदमस्त नाच रहे थे। बाजे बज रहे थे। वह अपने देवता पर चढ़े फूल से कुम्हलाए बच्चे को देख रही थी। ढोल का घुमड़ता स्वर उसके मन के अन्दर गहरे तक चोट कर रहा था। लोगों का नृत्य चुभ-चुभ जा रहा था उसे। फिर भी पास रखे 'देउ' के रथ की आस्था मन को ढाढ़स बँधा रही थी।

परिक्रमा पूरी हुई। उसे देवता के पास लाया गया। लोगों ने उसे हाथों से थामा। बूढ़ा पुजारी हाथ में दूब लिये पूजन करने लगा। ढोल ढमढमा उठा। कपिल मुनि का जयघोष होने लगा। कुछ समय बीता। एक ने बाजे वालों को बंद होने का

संकेत किया। एकाएक सभी वाद्य खामोश हो गए। एक आदमी में देवता आ गया था। वह जोर से जल्दी-जल्दी कुछ बोला। पुनः कपिल मुनि का जयघोष हुआ। पूजन फिर आरम्भ हुआ। एक-एक करके लगभग दस मिनट बीत गए। माँ की पनियारी आँखें बालक के चेहरे तक जा-जाकर खाली हुई जा रही थीं। तभी हलचल हुई। कपिल मुनि का जयघोष! हर्षध्वनि। बालक जी उठा था। ढोल, नगाड़े, शहनाई बज उठे। सभी ने अब देवता के चारों ओर गोलाकार नाचना शुरू कर दिया। लड़का अभी भी पूर्ण रूप से स्वस्थ नहीं लग रहा था। उसका चेहरा कटी डाल-सा लटका हुआ था। पुजारी उसे बगल में लिये नाच रहा था। नृत्य जारी था। अब देवता के गिर्द अढ़ाई फेरे लगने थे।

यह लड़का नौ बरस की आयु में दयार में 'मरा' था। दयार के काहिके में यह चौथी बार जब मरने की तैयारी कर रहा था तो उससे इन पंक्तियों के लेखक ने पूछा, "कितनी उम्र है तुम्हारी?"

"ग्यारह पूरे हुए हैं, बारहवाँ चल रहा है।"

"पढ़ता है।"

"नहीं।"

"तुम्हें कैसा लगता है चरनामृत पीने के बाद?" उसे छलते हुए पूछा।

"कुछ पता नहीं चलता।"

"कुछ चक्कर-वक्कर कोई दर्द-उर्द?"

"नहीं। कुछ नहीं।"

इतना छोटा-सा बच्चा क्या मरने या बेहोश होने का नाटक कर सकता है?

इस विषय में एक वृद्ध ने बताया—"हमें भी शंका रहती थी इसके मरने के बारे में। जब जवान थे, तो नौड़ को उठाकर लाते थे। कई बार हम अपने साथ सुइयाँ ले छोड़ते। जब मरने के बाद उसे उठाकर लाते तो कोई उसे सुई चुभो रहा है, कोई चुपके से चिकोटी काट रहा है। पर उसने कभी उफ् तक नहीं की। बस, वैसे ही पड़ा रहा, जैसे मर चुका हो। साँसें, धड़कन भी बहुत धीमे से चलती हैं उस समय।"

एक ग्रामीण ने बताया, एक बरस पहले जब यहाँ काहिका हो रहा था तो इस लड़के के दादा ने घर में निश्चय किया कि वह ही मरेगा। यहाँ आकर कुछ बदल गया। और यह लड़का पहली बार मरा। मर गया पर दोबारा जिंदा नहीं हो रहा था। कोई दो घंटे का समय बीत गया। सभी घबरा गए कि कहीं लड़का··· ! अचानक देवता ने लताड़ा, जब दादा ने एक बार घर में मरने का निश्चय कर लिया था तो यहाँ मरा क्यों नहीं। बूढ़े ने गलती स्वीकारी और दया की भीख माँगी। बस फिर पंद्रह मिनट भी नहीं लगे कि लड़का जी उठा।

दरपौइण काहिका में नौड़ डोलूराम भुठी से आया था। काफी हँसमुख, चुस्त और होशियार। पूछा कि मरने के बाद कैसा लगता है तो उसने मसखरी से कहा, "बस ऐसा

लगता है कि बहुत ही ज्यादा शराब पी ली हो और बहुत गहरे नशे में हों यानी कुछ पता नहीं चलता।"

"और दोबारा जीने के बाद ?"

"दोबारा जीने के बाद बहुत थकान महसूस होती है।"

"मरने से पहले किसी प्रकार का डर ?"

"डर तो रहता ही है।" उसने अपने सीने पर हाथ रखते हुए, "देखो, कैसे धड़क रहा है। जवान आदमी हूँ, मरने का डर तो रहता ही है। फिर भी संतुष्टि होती है कि यदि मरेंगे तो इतने लोगों के लिए मरेंगे।"

रंगों और उमंगों का त्यौहार : होली

रंगों और उमंगों का त्यौहार होली हिमाचल में सतरंगे वसंत का प्रतीक है। होली के दिनों से ही यहाँ वसंत अपने रंग बिखेरना आरम्भ कर देता है। यह त्यौहार मनुष्यों के लिए ही नहीं, पशु-पक्षी तथा वनस्पति के लिए नई उमंगें लाता है। रंगों की होली खेलने की परम्परा यद्यपि पूरे हिमाचल में विद्यमान है तथापि निचले इलाकों में, जो अपेक्षाकृत गर्म हैं, यह त्यौहार पनियाले रंगों में रचा-बसा होता है। इन क्षेत्रों में मनचलों की टोलियाँ ऊँचे-ऊँचे झंडे, बाजे सहित 'होली-हो-होली' के हो-हल्ले में रंगों से नहाती दिखाई देती हैं। कोई उनसे बचकर नहीं निकल सकता। बच्चे-बूढ़े, औरतें कोई भी पीछे नहीं रहता।

रंग, गुलाल और पानी से कीचड़ तक

होली के दिन रंगों का मेला होता है—गाँव-गाँव, गली-गली। शहर-बाजारों में गुलाल के बादल उड़ते दिखाई देते हैं। सब आपस में गले मिलते हुए गुलाल के रंगों में एक हो जाते हैं। गाँव में अपनी-अपनी टोलियाँ झंडे लिए निकलती हैं। जिस घर में जाती हैं, वहाँ हो-हल्ला कर पुरुषों को पानी में डुबोती हैं। घर के भीतर से पुरुषों को खींच निकालना ही पौरुष का प्रतीक माना जाता है। घरों में महिलाओं ने पहले से ही इंतजाम किया होता है। ऊपर की मंजिल से रंगों की बाल्टियाँ और ड्रम के ड्रम होली की टोली पर उँडेल दिए जाते हैं। फिर उस घर के पुरुष भी टोली के साथ हो लेते हैं। इस तरह घर-घर जाकर काफिला बढ़ता जाता है।

महिलाएँ छत्तों से पानी उँडेलने के अतिरिक्त आपस में भी होली खेलती हैं। बच्चे बाँस की पिचकारियाँ बनाते हैं। होली की चरम सीमा में रंगों की परवाह नहीं की जाती। बस, पानी की बाल्टियाँ की बाल्टियाँ उँडेल दी जाती हैं। कइयों को उठाकर बहती कुल्ह में पटक दिया जाता है। कई शरारती युवक कीचड़ और गोबर पानी में मिला नहला देते हैं।

शाम को किसी मंदिर के पास होली से एकत्रित पैसों का हलवा बनाया जाता है। देर रात तक गाना-बजाना भी चलता रहता है।

होलिका दहन

रात्रि में होली खेलने के लिए बनाई पिचकारियों को जला दिया जाता है। बाद में इनका प्रयोग अच्छा नहीं माना जाता। धौलाधार में रात को अनेक स्थानों पर आग जलती दिखाई देती है। लोग कहते हैं—होली जल रही है।

सुजानपुर व पालमपुर की झाँकियाँ

सुजानपुर तथा पालमपुर की होली प्रसिद्ध है। सुजानपुर टीहरा जिला काँगड़ा के राजवंश से सम्बद्ध रहा है। यहाँ की होली का विशिष्ट महत्त्व है। यहाँ होली का मेला व झाँकियाँ विशेष आकर्षण हैं। अब इसे एक राज्य स्तरीय उत्सव के रूप में मनाया जाता है। सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अतिरिक्त विभिन्न विभागों की प्रदर्शनियाँ भी लगाई जाती हैं।

पालमपुर के चार दिवसीय मेले में क्रमशः तीन, छः, नौ तथा एक झाँकी निकाली जाती हैं। चौथे दिन 'होला' होता है। पालमपुर बाजार से घुघ्घर तक एक विशाल मेला लगता है जिसमें रंग-बिरंगी पोशाकों में रंगीन हथेलियों वाले स्त्री-पुरुष उल्लास से विचरते हैं।

इन झाँकियों में पौराणिक घटनाओं पर आधारित प्रस्तुति तैयार की जाती है जो उत्कृष्टता तथा कलात्मकता का उदाहरण होती है। अब इस तरह की झाँकियाँ कई अन्य स्थानों पर भी निकाली जाने लगी हैं।

कुल्लू में अवधी होली

कुल्लू के गाँवों में 'फागली' मनाई जाती है जिसे होली का ही एक रूपांतर माना जाता है। इस उत्सव में पीले रंग की आटा फेंका जाता है। फागली वैसे एक धार्मिक कृत्य है। कुल्लू के हर देवता के यहाँ फाग के महीने में 'फागली' मनाई जाती है जिसमें देवता अपनी सुप्त अवस्था से जागते हैं।

वैसे तो हिमाचल प्रदेश में सभी जगह होली का त्यौहार धूमधाम से मनाया जाता है, परन्तु कुल्लू में होली का अपना ही सांस्कृतिक महत्त्व है। यहाँ की होली में अवध व कुल्लू, दोनों संस्कृतियों के रंग रचे-बसे हैं।

कुल्लू में वैष्णव मत

कुल्लू में होली का इतिहास यहाँ की धरती में वैष्णव मत के प्रादुर्भाव से जोड़ा जा सकता है। रघुनाथजी की मूर्ति के अवध से आगमन के साथ ही यहाँ वैष्णव प्रभावी हुए। अवध से वैरागी साधु समय-समय पर यहाँ आने लगे जिनको राजदरबार की ओर से उचित मान-सम्मान दिया जाता। वैष्णवी प्रभाव राजा जगतसिंह के समय सत्रहवीं शताब्दी में पड़ा।

लठैत वैरागी

किंवदन्ती है कि एक समय कुल्लू के राजा को यहाँ के खश व कनैतों ने लगान देना बंद कर दिया। तत्कालीन राजा टेढ़ीसिंह को ये लोग किन्हीं कारणों से नहीं चाहते थे। राजा ने अवध के वैरागियों से राज्य की रक्षा के लिए सहायता माँगी। रघुनाथजी की गद्दी बचाने के लिए वैरागी साधु आए, जो लठैत थे। इनकी संख्या दो सौ से बारह सौ तक बताई जाती है। यहाँ इन्हें चार चौकियों में ठहराया गया। एक चौकी ढालपुर में बनी, तीन अखाड़े में। इनके खान-पान की व्यवस्था राजा द्वारा की जाती। ये लोग लाठी लिए प्रजा को सीधे रास्ते पर लाने लगे।

यदि उक्त घटना को सही मान लिया जाए तो इस तरह वैरागियों का कुल्लू में आगमन अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ।

लठैती से फगुआ तक

धीरे-धीरे ये वैरागी जहाँ-तहाँ बस गए और कुल्लूई संस्कृति में घुलमिल गए। ये लोग अवधी अंदाज में होलियाँ गाते थे। डफली और झाँझ लिये ये घर-घर जाते और 'फगुआ' माँगते। इस प्रकार का कार्यक्रम होलाष्टकों से आरम्भ हो जाता। इस प्रकार होलियाँ गाने की परम्परा आज से कुछ वर्ष पूर्व तक बनी रही। इन लोगों ने अवध की संस्कृति के रंग यहाँ की संस्कृति में घोल दिए। इनकी अपनी एक बहुत बड़ी पंचायत भी हुआ करती थी।

गेय होली

इस समय भी कुल्लू में होलियाँ गाने की प्रथा है। घर-घर ये होलियाँ गाई जाती हैं। एक घर में आसपास के स्त्री-पुरुष इकट्ठे हो जाते हैं और महफिल जम जाती है। रात के समय इस महफिल में समाँ बँध जाता है। ये होली गीत अनेक हैं। गीत कुल्लूई में न होकर हिन्दी या अवधी में हैं। वैरागियों व स्थानीय लोगों के होली गीत बोल व तर्ज, दोनों में भिन्नता लिए हैं। इस प्रकार की होलियों का गायन वसंत से ही आरम्भ हो जाता है।

मतवालों की टोलियाँ

होली के त्यौहार में राजदरबार की ओर से विशेष रुचि होने के कारण इसका रूप विकसित होता गया। इस समय भी ढालपुर, सुलतानपुर, अखाड़ा से निकली टोलियाँ अपने-अपने झंडे लिए घर-घर जाती हैं। सब दल राजमहल में भी जाते हैं जहाँ हल्दी व मक्की के आटे से विभिन्न रंगों का गुलाल बनाया होता है। पीतल की पिचकारियाँ विशेष रूप से बाहर से मँगवाई जाती हैं। यहाँ से राजा को आगे कर यह समूह आगे

बढ़ता है। घरों में औरतें ऊपरी मंजिल से पानी डालती हैं। पुरुष नीचे से पिचकारियाँ छोड़ते हैं।

इन टोलियों में वैरागियों की डफ व झाँझों से झंकृत टोली, जुलाहों, झीरों व दमलुओं की दम-दम से उत्साहित टोली अपना अलग वैशिष्ट्य रखती थी।

होली खेलने का यह रिवाज केवल शहरी क्षेत्र में ही है। गाँव में होली नहीं खेली जाती।

अंतिम समारोह

सब ओर उछल-कूद मचाकर यह दल पुनः राजमहल में आ जाता है। शाम के समय राजमहल में झाड़ियों व काँटों के ढेर इकट्ठे किए होते हैं। रघुनाथजी की सवारी छोटी पालकी में मंदिर से लाई जाती है। झाड़ियों के पास पूजन के बाद आग फूँक दी जाती है। रघुनाथ जी, महल के ठाकुरजी, राजा तथा राजपरिवार के अन्य सदस्य इसकी परिक्रमा करते हैं।

अंत में होती है झंडे की लड़ाई। झंडा आग लगी झाड़ियों के बीच गाड़ा होता है। इसे एक ओर से वैरागी खींचते हैं तो दूसरी से छलालू (एक गाँव के वासी)। यदि वैरागी जीत जाएँ तो राजा की जीत समझी जाती है और छलालू जीत जाए तो रानी की। एक दल झंडे को महल की ओर खींचना चाहता है तो दूसरा बाहर की ओर। इन झाड़ियाँ की राख लोग अपने घरों को ले जाते हैं।

इस सारी प्रक्रिया के दौरान जहाँ-तहाँ डफ और झाँझ लिये लोग होलियाँ गाते रहते हैं।

अब इस होली की बहुत-सी परम्पराएँ समाप्त हो गई हैं या बदल गई हैं। हाँ, होली का गायन अभी भी रात्रि की नीरवता में सात सुर फैलाता है।

पशु उत्सव : नलवाड़

पहाड़ों में, श्रमसाध्य होते हुए भी, जीवन एक उत्सव है। हर दिन एक पर्व है। यदि जीवन को उत्सव मानकर जीया जाए तो इसका अर्थ ही बदल जाता है। जटिल, कठिन और दुरूह होते हुए भी जीवन आनन्द को प्राप्त होता है। उत्सवों के कारण समाज सुसंस्कृत और सदाचारी कहलाता है।

हिमाचल एक ऐसा प्रदेश है जहाँ पशु क्रय-विक्रय भी एक उत्सव के रूप में मनाया जाता है। वैसे तो मेला मनुष्यों के मिलने का पर्व है, यहाँ पशु मिलन का पर्व भी होता है और पशु भी सजते-सँवरते हैं उत्सव के लिए।

बिलासपुर नलवाड़

जिला बिलासपुर की प्रसिद्ध नलवाड़ 4 से 11 चैत्र (मार्च) तक मनाई जाती है। वर्तमान परम्परा के अनुसार अब यह मेला सामान्यतः 17 से 23 मार्च तक मनाया जाता है। यह पशु व्यापार का मेला है जो आसपास के इलाके में पशु व्यापार—विशेषकर बैलों के व्यापार के लिए प्रसिद्ध है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सन् 1907 में प्रकाशित श्री अमरसिंह की कहलूर राज्य की बंदोबस्त रिपोर्ट में इस मेले का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

"नलवाड़ी थानी मेला मवेशियाना; यह मेला बिलासपुर के मैदान में हर साल चार चैत को शुरू होकर चार-पाँच रोज चलता है। इस मेले को मिस्टर डब्ल्यू. गोल्डस्टीन साहिब सुपरिन्टेंडेंट रियासत हुए कोहस्तानी जिला शिमला ने व अहद कौंसल रीजेंसी सम्वत् 1946 विक्रम में कायम किया था। इस मेले पर रियासत नालागढ़ और पटियाला व तहसील ऊना, जिला होशियारपुर व तहसील रोपड़, जिला अम्बाला के बैल बराए फरोख्त लिये जाते हैं। और उनको जमींदारान रियासत हजा व मण्डी व सुकेत व नीज जमींदारान जिला काँगड़ा खरीद करते हैं। उम्दा किस्म के मवेशियान के मालिकान को रियासत की तरफ से इनाम दिया जाता है। कोई टैक्स वसूल नहीं किया जाता। मेले का हजूम पाँच से छः हजार तक होता है।"

उक्त टिप्पणी से मेले के प्रारम्भ के बारे में पता चलता है जबकि कुछ लोगों का मत है कि यह मेला राजा अमरचन्द के समय आरम्भ हुआ।

सन् 1993 की नलवाड़

'फेयर्ज एण्ड फैस्टिवल' में 1963 की नलवाड़ का वर्णन है। नलवाड़ का प्रारम्भ 17 मार्च को प्रातः 10.00 बजे हुआ। इसमें 700 पशु व्यापारी आए जिनके 4000 बैल बेचने के लिए मेले में आए। ये व्यापारी हिसार, होशियारपुर, नैनादेवी, नालागढ़, काँगड़ा, रोपड़, ऊना से आए थे। इसके अतिरिक्त आसपास के गाँवों से भी कृषकों ने बैलों की खरीदोफरोख्त में भाग लिया। इस मेले में 68,000 रुपए की कुल बिक्री हुई।

बैलों की बिक्री पर 3 प्रतिशत टैक्स लिया जाकर 17 से 30 मार्च तक कुल 2,045.44 रुपए टैक्स लिया गया। बैलों की एक जोड़ी 610 रुपए तक बिक्री।

मेले में बढ़िया जोड़ी को पुरस्कार देने की परम्परा में 19 मार्च को दोपहर बाद निम्न पुरस्कार दिए गए—

1. बछड़ों की जोड़ी :	प्रथम पुरस्कार	: 15/- रु.	अनंतराम, बिलासपुर
	द्वितीय पुरस्कार	: 10/-रु.	भूपचन्द, औहर बिलासपुर
	तृतीय पुरस्कार	: 5/- रु.	किरपाराम
2. बैलों की जोड़ी :	प्रथम पुरस्कार	: 30/ रु.	तुलसीराम
	द्वितीय पुरस्कार	: 20/- रु.	गंगाराम
	तृतीय पुरस्कार	: 10/- रु.	रामजीदास

इसी प्रकार गाय तथा भैंसों के लिए भी पुरस्कार दिए गए। बढ़िया पशु के लिए 33/- रुपए का पुरस्कार हमीरा सुपुत्र श्री श्याम, बिलासपुर को दिया गया।

मेले में विभागों की प्रदर्शनियों के अतिरिक्त 194 छोटी-बड़ी दुकानें लगी हुई थीं। मेले के अंतिम चार दिनों में लगभग 5,000 लोग मेले में आए।

1963 की नलवाड़ में उपलब्ध सूची के अनुसार सबसे महँगा बैल 260 रुपए में श्री गंगाराम द्वारा श्री गंगाराम को ही बेचा गया। सबसे कम कीमत 20 रुपए में बिकने वाला बैल श्री छितरू ने श्री तरसेन से खरीदा।

वर्तमान स्वरूप

इस समय यह मेला राज्य स्तरीय मेले के रूप में मनाया जाता है। मेले का शुभारम्भ परम्परागत ढंग से 'खुण्डी गाड़ने' के साथ होता है। 1962 तक यह मेला सांहडू मैदान में मनाया जाता रहा। इस मैदान तथा शहर के गोविंद सागर में डूबने के बाद मेला लूहणू मैदान में मनाया जाता है। खुण्डी गाड़ने के साथ ही बैल पूजा होती है और मेला प्रारम्भ हो जाता है। पशु मेले के साथ-साथ कुछ दुकानें भी लगाई जाती हैं। साथ-ही-साथ 'छिंज' का आयोजन भी होता है जिसमें पंजाब, हरियाणा तथा हिमाचल के पहलवान भाग लेते हैं।

रात्रि को सांस्कृतिक कार्यक्रमों को आयोजन स्कूल के मैदान में किया जाता है। प्रदेश के विभिन्न सांस्कृतिक दलों के अतिरिक्त देश के अन्य प्रदेशों के सांस्कृतिक दल भी भाग लेते हैं।

नलवाड़ की प्रबन्ध व्यवस्था जिलाधीश, बिलासपुर की अध्यक्षता में बनी कमेटी द्वारा की जाती है।

मेले के दौरान पशुओं का क्रय-विक्रय चलता रहता है जिससे नए-नए पशु आते हैं और पुराने बिकते जाते हैं। आसपास के इलाकों के लोग बैलों की खरीद के लिए इस मेले का इंतजार करते रहते हैं। आसपास के लोग बैलों के साथ पूरा परिवार लाकर मेले में रहते हैं और बिक्री के बाद या नई जोड़ी लेने के बाद वापस जाते हैं। बैलों तथा पशुओं को तरह-तरह से सजाकर मेले में लाया जाता है।

लूहणू मैदान के एक ओर पशु प्रदर्शन के लिए लगते हैं तो दूसरी ओर दूकानें तथा विभिन्न विभागों में प्रदर्शनियाँ।

सुंदरनगर नलवाड़

नलवाड़ का प्रारम्भ

सुंदरनगर की नलवाड़ 9 से 17 चैत्र (मार्च) तक मनाई जाती है। यह प्रदेश का सबसे बड़ा पशु मेला है और बिलासपुर नलवाड़ से कई गुना बड़ा है। इस पशु मेले में जिला मण्डी, काँगड़ा, बिलासपुर तथा हमीरपुर तक के कृषक बैल खरीदने आते हैं। यह समझा जाता है कि यह सबसे पुरातन पशु मेला है। बिलासपुर, भंगरोटू की नलवाड़ बाद में आरम्भ हुई। ऐसा भी विश्वास है कि राजा चेतसेन (?) के समय राजा नल सुंदरनगर (सुकेत) आए। राजा नल ने परामर्श दिया कि लोगों की आर्थिक स्थिति के सुधार के लिए पशु व्यापार मेला आरम्भ किया जाए। राजा चेतसेन ने यह मेला आरम्भ किया और इसका नाम नलवाड़ रखा।

आयोजन

मेला लिंडी खड्ड में एक किलोमीटर से ऊपर के क्षेत्र में मनाया जाता है। दूर-दूर तक खड्ड तथा आसपास के क्षेत्रों में पशु-ही-पशु दिखाई देते हैं। मेले के छः-सात दिनों तक खड्ड तथा खेतों में पशु-ही-पशु रहते हैं। वर्ष 1963 में 70,000 पशु इस मेले में आए।

पशु मेले के साथ-साथ अब सुंदरनगर बाजार तथा आगे तक दुकानें सजती हैं। कृषि भवन के साथ ग्राउंड में रात्रि को सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं। नीचे खड्ड के पास कुश्ती का आयोजन भी किया जाता है।

यह मेला अब स्थानीय कमेटी द्वारा आयोजित किया जाता है।

बैलों की उम्दा जोड़ी लेने के लिए आसपास के जिलों के लोग 'सुकेत' का इंतजार करते हैं। सुंदरनगर नलवाड़ को पहले 'सुकेत' के नाम से ही जाना जाता था। लोग कई दिनों का सफर कर सुकेत में पहुँचते थे। सुकेत से लाए बैल देखने के लिए पूरा-का-पूरा गाँव उमड़ आता। यह परम्परा अभी तक जीवित है। अब लोग सड़क सुविधा के कारण ट्रकों तथा छोटे वाहनों में भरकर बैल ले जाते हैं।

बल्ह क्षेत्र के लोग बैलों की उम्दा नस्ल पालने के लिए मशहूर हैं। वे सुकेत से बछड़े खरीदकर उन्हें पाल-पोसकर कुछ सालों बाद बेच देते हैं। बल्ह क्षेत्र के सुंदर सजीले बैल देखते ही बनते हैं।

अधिकांश व्यवसायी अब मैदानों से आते हैं जो सभी नलवाड़ मेले निभाते हैं। शेष व्यापारी और जमींदार आसपास के क्षेत्रों के होते हैं।

व्यापार मेला : लवी

हिमाचल प्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्रों में व्यापारिक सन्धि स्थलों पर कुछ व्यापारिक मेले आरम्भ हुए जिनमें समय के अनन्तर सांस्कृतिक पक्ष भी जुड़े। भौगोलिक कटाव के कारण भी ऐसे मेले जुटे जो लोगों की वर्ष-भर की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। लोग अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदने तथा उपज के बेचने लिए इन मेलों का इन्तजार करते थे और वर्ष-भर के लिए जरूरी सामान यहाँ से ले जाते। ऐसा ही एक मेला है रामपुर का लवी। यह मेला सांस्कृतिक कम, व्यापारिक ज्यादा है।

जिला शिमला का रामपुर सतलुज-किनारे बसा है और सतलुज के पार कुल्लू जिला है। समुद्रतल से 924 मीटर की ऊँचाई पर बसे रामपुर में राजा बुशहर के महल हैं। यहीं बस स्टैण्ड के पास मन्दिर के साथ बौद्ध मन्दिर है। मन्दिर के साथ बौद्ध मन्दिर की परम्परा रामपुर से ही आरम्भ होती है जो पूरे किन्नौर में होती हुई पूह में समाप्त होती है। जहाँ पूर्णतया बौद्ध धर्म प्रभावी हुआ है।

रामपुर उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बुशहर की राजधानी बना। कहा जाता है कि रामपुर में बुशहर के राजा केहरसिंह के शासनकाल (1639-1696) में लवी मेला आरम्भ हुआ। राजा केहरसिंह द्वारा तिब्बत के शासकों के साथ सीमावर्ती गाँव नमज्ञा में एक व्यापारिक समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार तिब्बत के व्यापारियों को ऊन तथा पश्म बुशहर में बेचने की अनुमति दी गई। इसी प्रकार बुशहर के व्यापारी तिब्बत जाकर ऊन, कपड़ा, अनाज तथा नमक बेच सकते थे।

लवी मेले का आरम्भ कभी भी हुआ हो, इस समझौते के बाद इसे और व्यापारिक रंग मिला। अभी भी मेले का यह व्यापारिक महत्त्व कायम है। मेले में पश्म, ऊन, ऊनी वस्त्र, पट्टू, दोहड़ू, शालें, दुपट्टे तथा शिलाजीत, बादाम, चिलगोजे, सूखे मेवे, पहाड़ी चाय, काला जीरा, सेब का क्रय-विक्रय होता है। भेड़-बकरियों तथा घोड़ों का व्यापार भी होता है। किन्नौर क्षेत्र में उगने वाले सभी उत्पादन यहाँ बिकने आते हैं।

पुराने समय में तिब्बत के व्यापारी लम्बी यात्रा तय करते हुए गूँठ नसल के घोड़े-खच्चर तथा भेड़-बकरियाँ पर्याप्त मात्रा में बिक्री के लिए लाते थे। क्या घोड़े क्या भेड़-बकरियाँ, सभी पशु भार ढोने के लिए प्रयोग में लाए जाते। इन पशुओं पर लोई, पट्टी, पट्टू, पश्म, ऊन, गुदमे, नमदे, लादकर लाए जाते और बादाम, चिलगोजा, खुर्मानी, जीरा, शिलाजीत आदि ले जाया जाता। नमक और चीनी का भी उस समय अधिक

महत्त्व था, अतः इनका लेन-देन भी महत्त्वपूर्ण व्यापार था। उस समय ये मेला सीमावर्ती क्षेत्रों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मण्डी था। लवी के विधिवत् 'खुलने' की घोषणा राजा बुशहर द्वारा की जाती थी। राजा तथा रियासत के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के परामर्श पर ही क्रय-विक्रय आरम्भ होता था।

लवी का अर्थ लिया जाता है 'लोई'। लोई ऊनी कम्बल को कहा जाता है। या यों कहा जाए कि लोई का अर्थ अब लवी के रूप में प्रयोग में आने लगा है तो उचित होगा। इसका दूसरा अर्थ ऊन कतरने से भी लिया जाता है। इस मौसम में लोग भेड़-बकरियों की ऊन काटकर मेले में लाते हैं। प्रदेश के ऊपरी इलाके में एक ऊनी ओवरकोटनुमा वस्त्र पहना जाता है जिसे 'लोइया' कहा जाता है।

कुछ वर्ष पहले तक यह मेला राम बाजार के साथ-साथ लगता था। सड़क के साथ ऊपर की ओर महल है तो नीचे बाजार। यह एक बड़ा बाजार है और आसपास के इलाकों तथा किन्नौर तक के लिए एक मण्डी है। ये बाजार तो अब भी सजता है किन्तु मेले के आयोजन के लिए बाजार से आगे मेला ग्राउण्ड बन गया है। इस ग्राउण्ड में विभिन्न विभागों की विकास प्रदर्शनियाँ लगाई जाती हैं तथा अलग-अलग बाजार बनाए जाते हैं। किन्नौर से आने वाले व्यापारियों के लिए मेला ग्राउण्ड में अब भी अलग स्थान सुरक्षित रखा गया है।

किन्नौर से आने वाले व्यापारियों के अब भी रंग निराले हैं। ये सपरिवार वहाँ ठहरते हैं। वहीं भोजन बनाते हैं, वहीं सोते हैं। अपनी मस्ती में मदमस्त ये हँसते-गाते तथा नाचते हुए पूरे मेले में वहीं जमे रहते हैं। पश्म, शाल, पट्टी, बादाम, चिलगोजा, काला जीरा आदि का विक्रय इन लोगों द्वारा किया जाता है।

जैसा कि अब हर मेले में होने लगा है, यहाँ भी रात को सांस्कृतिक कार्यक्रम करवाए जाते हैं। जिनमें देश तथा प्रदेश के विभिन्न भागों से आमंत्रित सांस्कृतिक दल अपना कार्यक्रम देते हैं। ये कार्यक्रम मुख्य बाजार में उपमण्डलाधिकारी (नागरिक) कार्यालय के समीप बने मंच पर होते हैं। मेला ग्राउण्ड में अलग से पारम्परिक नृत्य चला रहता है।

यह मेला 11 नवम्बर से 14 नवम्बर तक मनाया जाता है किन्तु इसके कुछ दिन बाद तक भी व्यापारी डटे रहते हैं। अब इस मेले में तिब्बत से व्यापारी तो नहीं आ पाते। जिला किन्नौर, जिला लाहुल-स्पिति, कुल्लू तथा शिमला के भीतरी भागों से ग्रामीण उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। चमुर्थी नस्ल के घोड़ों की प्रदर्शनी भी कुछ वर्षों से आरम्भ की गई है।

सीमान्त प्रदेशों की सीमाओं तथा प्रवेश द्वारों पर लगने वाले ये मेले व्यापारिक तथा राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहे हैं और आज भी सदियों पुरानी उन परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

ल्हासा (तिब्बत)-बुशहर सन्धि

ए. एच. फ्रैंक को नमग्या और चपरंग में ल्हासा तथा बुशहर के बीच हुई सन्धि की प्रतियाँ मिलीं। यह सन्धि बुशहर के राजा केहरीसिंह (1639-1696) तथा ल्हासा के सेनानायक ग्यालदन छङ के बीच हुई। ग्यालदन छङ तिब्बत तथा मंगोल सेना का सेनानायक था। राजा केहरीसिंह तथा ग्यालदन के बीच पुलिङ गेंग या नमग्या में यह समझौता हुआ। दोनों ने इस सन्धि को महामुनि बुद्ध को साक्षी मानकर स्वीकार किया। इस सन्धि की भाषा काव्यमय है :

> "जब तक त्रिकालज्ञ देवताओं का वास-स्थान और जम्बू द्वीप में स्थित हिम नहीं पिघलता, जब तक मानसरोवर झील पानी से रिक्त नहीं हो जाती, जब तक श्याम वर्ण कौवा सफेद नहीं हो जाता और जब तक कल्प का अन्त नहीं हो जाता, तब तक ऊपर और नीचे वाले दोनों राजा अपने मैत्री सम्बन्ध कायम रखेंगे और अपने राज्य की सीमाओं में सत्कार्य करके, सब प्राणियों का कल्याण करेंगे। ऊपर और नीचे के दोनों राजाओं के संदेशवाहक, कर्मचारी और राजदूत स्वच्छंद इलाके में आ-जा सकेंगे। यह आवश्यक होगा कि बुशहर राज्य के संदेशवाहक तीन वर्ष में आएँ और नारिस के तीनों खण्ड की राजधानियों, संपरग, रोथंग और जंगसर में वास करें। ऊपर और नीचे के राजाओं के संदेशवाहक को ऊपर और नीचे (अर्थात तिब्बत और बुशहर में) आते-जाते बाल-भर भी तंग न किया जाए और किसी प्रकार का कर न लिया जाए और न ही कोई कष्ट पहुँचाया जाए। ऊपर और नीचे के राजा अपने सत्कार्यों से ऐसी व्यवस्था बनाएँ जिससे आने वाले लोग निर्भय होकर विष और घातक हत्यारों के भय से सर्वथा मुक्त होकर विचरण करें।"

इस सन्धि से बुशहर के प्रतिनिधि या व्यापारी तिब्बत जा सकते थे। बुशहर के राजा ने तिब्बत का लद्दाख के विरुद्ध साथ दिया। युद्ध में तिब्बत की विजय हुई।

तिब्बत-बुशहर की इस सन्धि से दोनों राज्यों में व्यापारिक सम्बन्ध बने। तिब्बत से आने वाली ऊन, पशम, पशु आदि के लिए 'लवी' व्यापार मेला आरम्भ हुआ। 1681 ई. में हुई यह सन्धि सन 1947 तक कायम रही।

मिंजर महोत्सव

प्रदेश के अधिकांश भागों में फागुन के आगमन के साथ ही मेले-उत्सवों का आयोजन प्रारम्भ हो जाता है। वर्ष-भर में ये उत्सव तथा मेले अच्छी फसल आने की सम्भावना में, फसल की कटाई के बाद तथा फुरसत के क्षणों में मनाए जाते हैं। ऐसा ही एक मेला है मिंजर मेला।

चम्बा नगरी प्रदेश की पुरातन राजधानी नगरी है। काँगड़ा (सुजानपुर), कुल्लू, मण्डी, नाहन, रामपुर की भाँति यहाँ भी राजमहल हैं। नगर के बीच श्री लक्ष्मीनारायण मंदिर, चम्पावती मंदिर तथा हरिराय के पुरातन मंदिर हैं। बीच में सुंदर चौगान है। यहीं मिंजर का उत्सव मनाया जाता है।

राजा साहिल वर्मन (920) ने ब्रह्मपुर से बदलकर चम्बा में राजधानी बसाई और अपनी पुत्री के नाम पर 'चम्बा' नाम रखा। साहिल वर्मन के सिंहासनारूढ़ होने के बाद ब्रह्मपुर में 84 योगी आए जिन्होंने उसे दस पुत्र होने का आशीर्वाद दिया। इन जोगियों में एक चरपटनाथ था। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि मणिमहेश यात्रा तथा मिंजर आदि उत्सवों का श्रीगणेश उसी समय हुआ। साहिल वर्मन के समय ही नगर में पानी लाने के लिए रानी सूही की बलि दी गई।

सुनहरी धागों से बनी नवमंजरी या मिंजर उत्सव के प्रथम दिन मिठाई व फलों के साथ बाँटी जाती है। सर्वप्रथम यह नवमंजरी श्री लक्ष्मीनारायण तथा श्री रघुनाथजी को भेंट की जाती है। श्रावण मास के द्वितीय रविवार से तृतीय रविवार तक मिंजर बाँधी जाती है। इसके बाद इसे नदी में विसर्जित कर दिया जाता है।

मिंजर मेला मनाए जाने के विषय में विभिन्न धारणाएँ हैं। 'मंजरी महोत्सव' नामक एक पुस्तिका में इस उत्सव का आरम्भ दसवीं शताब्दी बताया गया है। राजा साहिल वर्मन के समय उनके गुरु चरपटनाथ ने इस उत्सव की योजना बनाई। एक अन्य धारणा है कि उत्सव वरुण देवता की पूजा के लिए मनाया जाता है।

किंवदंती यह भी है कि सदियों पहले इरावती नदी वर्तमान चम्बा के चौगान से बहती थी। नदी की दाईं ओर चम्पावती का मंदिर था तो बाईं ओर हरिराय मंदिर। एक साधु, जो चम्पावती नगरी में रहता था, प्रतिदिन नदी पार कर हरिराय के दर्शन करने जाया करता था। तत्कालीन राजा साहिल वर्मन तथा नागरिकों ने साधु से आग्रह किया

कि वे ऐसा उपाय करें जिससे सभी लोग सुगमता से हरिराय के दर्शन कर सकें। साधु ने सभी को चम्पावती मंदिर के पास एकत्रित होने को कहा। वहाँ उन्होंने कुछ ब्राह्मणों को साथ लेकर एक यज्ञ किया जो सात दिन तक चला। सात रंग के धागों को मिलाकर एक रस्सी बनाई गई। इस सप्तवर्णी धागे को मिंजर कहा गया।

एक अन्य मान्यता के अनुसार चम्बा का राजा प्रतापसिंह वर्मन (1559) काँगड़ा के राजा पर विजय प्राप्ति के बाद वापसी पर भटियात आया तो वहाँ के लोगों ने उसका स्वागत मक्की अथवा धान की मंजिरयाँ भेंट कर किया। राजा ने इस भेंट को सँभाल-कर रखा। इस विजय में राजा को अपार सम्पत्ति प्राप्त हुई। इस विजय की खुशी में उत्सव मनाने की प्रथा आरम्भ हुई। 'हिस्ट्री ऑफ पंजाब हिल्ज़ स्टेट्स' में उल्लेख है कि राजा प्रतापसिंह वर्मन ने कटोच सेना को हराया और चड़ी तथा घ्रो को अपने अधीन कर लिया।

रियासती समय में इस उत्सव का प्रारम्भ राजा द्वारा ही होता था। अब मिंजर स्थानीय प्रशासन द्वारा भेंट की जाती है। 1955 से स्थानीय प्रशासन द्वारा ध्वजारोहण के पास इस उत्सव का आरम्भ किया जाने लगा।

इस समय चम्बा के चौगान में विभिन्न विभागों द्वारा प्रदर्शनियाँ लगाई जाती हैं। दिन में खेलों व खेल प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाता है। मेले में बाहर से व्यापारी, छोटे दुकानदार तथा खेल-तमाशा दिखाने वाले भी आते हैं।

चौगान के एक किनारे भूमिगत कलाकेन्द्र का निर्माण हुआ है। जहाँ रात्रि के समय सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं। प्रदेश तथा देश के सांस्कृतिक दल यहाँ कार्यक्रम देते हैं।

अंतिम दिन लोग अखण्ड चण्डी महल में एकत्रित होते हैं जहाँ से एक शोभा यात्रा निकलती है। श्री रघुवीर की प्रतिमा को पालकी में रखा जाता है जिसके साथ परम्परागत वादक, आधुनिक बैंड, प्रशासनिक अधिकारी तथा गण्यमान्य नागरिक चलते हैं। शोभायात्रा पुलिस लाइन से होती हुई रावी नदी के किनारे पहुँचती है। यहाँ सभी लोगों को एक-एक पान तथा इत्र भेंट किया जाता है। एक लाल रंग के कपड़े में नारियल, एक रुपया, फल और मिंजर रखकर नदी में प्रवाहित किया जाता है। सभी लोग यहाँ अपनी-अपनी मिंजरों को जल में प्रवाहित कर देते हैं। मिंजर प्रवाहित करने के बाद शोभा यात्रा चौगान में वापस लौट आती है। रियासती समय में मिंजर विसर्जन के समय भैंसा भी प्रवाहित किया जाता था और चम्बा के फूलों का इत्र बाँटा जाता था। अब यह परम्परा समाप्त हो गई है।

मिंजर के दिनों पूरे सप्ताह घरों में 'कूँजड़ी' और 'मल्हार' के स्वर गूँजते हैं। सायं सांस्कृतिक कार्यक्रम से पूर्व भी ये गीत गाए जाते हैं। चम्बा के गीत कर्णप्रिय हैं। इन दिनों इनकी स्वर-लहरी पूरे नगर की हवा में समा जाती है।

राधा अष्टमी पर एक धर्मयात्रा

यात्रा का मौसम और मौसम की यात्रा

यात्रा नाम है अन्वेषण का। यात्रा जहाँ नए-नए दृश्य उपस्थित करती है, वहाँ नई खोज की एक दिशा भी निर्धारित करती है। भारतीय चिंतन में यात्रा का विशेष महत्त्व रहा है। पुरातन ऋषि-मुनि यात्राओं द्वारा अनेकानेक अनुभव-खंडों से गुजरते हुए नाना प्रकार के भूदृश्य और आश्चर्यों से भरी पृथ्वी के दर्शन किया करते थे। यात्रा अपने अनेकानेक उद्देश्यों के साथ नई दिशाओं की खोज करती है। संभवतः यही परंपरा आज भी विद्यमान है पर्वत कंदराओं में।

हिमालय अपनी अद्‌भुत और दैविक छवि के लिए प्रसिद्ध है। अलग-अलग स्थानों में यह अलग-अलग अलौकिक छवि लिये हुए है। कहीं गगन की ओर निहारते महाशून्य-सी शांति और खामोशी लिये पर्वत, कहीं गहन घाटियाँ तो कहीं अद्‌भुत सरोवर। पुराने समय से ऋषियों ने हिमालय की रोमांचक यात्राएँ की हैं।

ये यात्राएँ जारी हैं एक परंपरा और धर्मयात्रा के रूप में। हिमाचल प्रदेश में किन्नर कैलास परिक्रमा, मणिकर्ण और मणिमहेश की यात्राएँ प्रसिद्ध हैं। आश्चर्य यह भी है कि ये सभी यात्राएँ आदिदेव शिव के निवास की ओर अग्रसर होती हैं। किन्नर कैलास और मणिमहेश कैलास शिव का स्थान माना जाता है। मणिकर्ण वह स्थान है जहाँ शिवप्रिया पार्वती की मणि खोई थी। किन्नर कैलास परिक्रमा क्योंकि अत्यन्त दुर्गम, दूरस्थ और कष्टकर है, अतः सर्वगम्य नहीं बन पाई। हिमालय की ओर आने वाले साधु-संन्यासी मणिकर्ण और मणिमहेश यात्राओं का उल्लेख गर्व से करते हैं। पुराने समय में ये दो यात्राएँ पवित्र किंतु कठिन मानी जाती थीं। साधु-संन्यासियों के साथ-साथ गृहस्थ भी यहाँ जाने की साध सँजोए रहते थे। समय और सभ्यता की दौड़ के साथ मणिकर्ण सड़क मार्ग से जुड़ा। मणिकर्ण तक बस सुलभ होने लगी। मणिमहेश का मार्ग अब भी दुर्गम और कठिन है। बस और जीप द्वारा यात्रा के बाद अब भी लगभग तेरह किलोमीटर पैदल मार्ग है। वास्तव में यात्रा है ही पदयात्रा का नाम। पदयात्रा में ही वास्तविक यात्रा का आनंद है। साथ ही मणिमहेश की पवित्र झील में मौसम विशेष में ही जाना संभव होता है।

मणिमहेश यात्रा के लिए हर समय नहीं निकला जा सकता। झील में पवित्र

स्नान राधा अष्टमी को होता है। राधा अष्टमी श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के पंद्रह दिन बाद आती है। यात्रा लंबी और पड़ाव-पड़ाव में होने के कारण राधा अष्टमी से एक सप्ताह पूर्व आरंभ हो जाती है। इस यात्रा को 'छड़ी यात्रा' कहा जाता है। चंबा के प्रसिद्ध श्री लक्ष्मीनारायण मंदिर के नीचे चरपट मोहल्ले में चरपटनाथ मंदिर से छड़ी यात्रा आरंभ होती है। चरपट मंदिर का पुजारी छड़ी लेकर चलता है। साथ में दसनामी अखाड़ा के स्वामी हरिगिर और साधु-संन्यासी चलते हैं।

हिमाचल शिव का प्रतीक है—मौन-मनस्वी, योगी। समाधिस्थ शिव की भाँति स्थिर और उन्नत। इसी हिमालय में शिव का वास माना जाता है। हर अगम्य चोटी कैलास है। हिमालय की विभिन्न शृंखलाओं में कैलासपति विराजमान हैं। जनजातीय क्षेत्र के वासी गद्दी लोग शिव के उपासक हैं। यहाँ शिव की कल्पना हुक्का लिये गद्दी के रूप में की गई है, जिसके पीछे भेड़-बकरियों का रेवड़ चलता रहता है। शिव के गद्दी भेष में मिलने की अनेक कथाएँ इस क्षेत्र में प्रचलित हैं। शिव जनजातीय गद्दियों की संपत्ति भेड़-बकरियों का रक्षक है।

शिव स्तुति गाता हुआ यात्री समुदाय कैलास की ओर बढ़ता है। 'शिव कैलासों के वासी : धौलाधारों के वासी संकर-संकट हरणा' गाते यात्री भैरों घाटी और फूलों की घाटी से गुजरते हैं। यात्रा के समय सुरम्य किंतु दुर्गम मार्गों से निकलते विभिन्न आश्चर्य देखने की कामना करते हैं, जो बुजुर्गों ने सुनाए थे। आज से चार दशक पूर्व जहाँ दो-तीन हजार यात्री ही भाग लेते थे, आज यह संख्या बीस हजार तक पहुँच गई है।

चंबा से यात्रा प्रारंभ होकर राख और खड़ामुख होती हुई भरमौर पहुँचती है। भरमौर तक बस सुलभ है। भरमौर में ही प्राचीन शिव मंदिर है। शिखर शैली के इस मंदिर को मणिमहेश मंदिर कहा जाता है। वास्तव में भरमौर से ही वास्तविक यात्रा आरंभ होती है। बहुतेरे यात्री यहाँ से नंगे पाँव चलते हैं। भरमौर से हड़सर तक जीप चलती है। आगे पैदल मार्ग है। खच्चरें और घोड़े भी यहाँ से आगे जा सकते हैं।

हड़सर से लगभग सात किलोमीटर धाँछो को शिव की तपोस्थली माना जाता है। मणिमहेश में स्नान से पूर्व हड़सर और धाँछो में स्नान अनिवार्य माना जाता है। यहाँ स्नान के बाद मणिमहेश में स्नान करने से सभी सांसारिक पापों का नाश हुआ माना जाता है। मणिमहेश से पहले आता है गौरीकुंड। यहाँ के बारे में विश्वास है कि शिव-पार्वती यहाँ स्नान करते थे। इस कुंड में पहले महिलाएँ ही स्नान करती थीं। बाद में महिला-पुरुष दोनों ही इसमें स्नान कर पुण्य कमाने लगे। शिव कलोतरी को शिव के पाँव से निकला माना जाता है। पानी ठंडा होने पर भी यहाँ स्नान करना पवित्र और फलदायक माना जाता है।

मणिमहेश झील में मुहूर्त के अनुसार स्नान किया जाता है। ऐसा विश्वास है कि जब भी स्नान का मुहूर्त निकले, झील का पानी अपने आप ऊपर चढ़ना शुरू हो जाता

है। राधा अष्टमी की रात्रि या प्रातःस्नान का मुहूर्त निकलता है, जिससे पहले स्नान नहीं किया जाता।

झील में मणिमहेश के गूर या चेले अंगारे खाते हुए बर्फानी झील को तैरते हुए पार करते हैं। उस समय वे 'ट्रांस' में होते हैं। गूर के झील के पार पहुँचते ही उसे छूने के लिए लोग दौड़ते हैं। जो गूर को पहले छू ले, वह सबसे पहले 'पुच्छ लेने' या प्रश्न पूछने का अधिकारी होता है। प्रश्न पूछने में भविष्य जानने और दुख-तकलीफों के कारण जानने का मुख्य मुद्दा रहता है। हिमाचल प्रदेश में जनगणना रपट 1961 (मेले और त्यौहार) में उल्लेख है कि रियासती समय में गूर या चेले को सबसे पहले छूने का अधिकार राजकुमार को होता था और वही सबसे पहले प्रश्न पूछ सकता था। उस समय रियासती राज की ओर से छत्तीस बकरे काटे जाते थे। बाद में मंदिर कमेटी की ओर चार बकरे बलि किए जाने लगे।

मणिमहेश कैलास में दो मानव आकृतियाँ नजर आती हैं, जिन्हें साधु और गद्दी माना जाता है। जनास्था है कि साधु और गद्दी दोनों कैलास तक पहुँचना चाहते थे, किंतु बर्फ की शिलाएँ बन गए। किंवदंति है कि एक गद्दी कैलास में पहुँचने के संकल्प से सीढ़ियाँ चढ़ता गया। बर्फ की एक सीढ़ी चढ़ता और एक मेमने की बलि देता। अंत में मेमने खत्म हो गए और गद्दी वहीं बर्फ की शिला बन गया।

कैलास तक पहुँचने की असमर्थता ने ही संभवतया मणिमहेश झील को खोजा। मानव ने यहीं स्नान कर संतुष्टि कर ली।

काँगड़ा की ओर जो लोग मणिमहेश की लंबी यात्रा नहीं कर पाते, वे धर्मशाला के ऊपर डल झील में स्नान करते हैं। मकलोडगंज से लगभग डेढ़ किलोमीटर ऊपर ऊँचे देवदारों से घिरी है डल झील। झील के साथ दुर्वेश्वर महादेव का मंदिर है। कहा जाता है, यहाँ शिव ने केवल दूर्वा खाकर तपस्या की थी। मणिमहेश का पानी डल झील और भागसू नाग में निकला मानकर भी लोग यहाँ स्नान करते हैं। इस अवसर पर यहाँ मेला भी लगता है। यह पर्व राधा अष्टमी को मनाया जाता है।

मणिमहेश यात्रा और उत्सव की प्रबंध व्यवस्था के लिए प्रदेश के मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में एक समिति बनी हुई है। इस उत्सव को राज्य स्तरीय दर्जा प्राप्त है और सरकार द्वारा पच्चीस हजार रुपए अनुदान दिया जाता है। मेला समिति द्वारा विशेष बसें और जीपें चलाई जाती हैं। भरमौर, हड़सर, धाँछो आदि स्थानों में सूचना केंद्र खोले जाते हैं। सरकारी स्टोर खोलकर यात्रियों को सस्ता अनाज व अन्य आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध करवाई जाती हैं। यात्रियों के आवास के लिए टैंट, तिरपाल आदि का प्रबन्ध किया जाता है।

देव-मानस समागम पर्व : कुल्लू दशहरा

भारत में स्विट्जरलैंड के समान है कुल्लू वादी। रावी, व्यास और सतलुज की घाटियों में व्यास की घाटी अपने सौंदर्य में अद्वितीय है। जे. कैलवर्ट ने इसे 'नीली व्यास का देश' कहा है। व्यास का नीला और स्वच्छ पानी इतना नजदीक बहता है कि इसे सहज ही छू सकते हैं। यूँ तो हर मौसम में इस घाटी का सौंदर्य अद्‌भुत रहता है किन्तु अक्तूबर मास में घाटी गूँज उठती है शहनाई, ढोल, रणसिंगों की मधुर ध्वनि से। दूर-दूर पहाड़ियों में अपने गाजे-बाजे की हर्षध्वनि करते हुए देवता रंगीन पालकियों में सजे उतरते दिखाई देते हैं। अक्तूबर में होता है देव मिलन का पर्व दशहरा।

देव शिरोमणि श्री रघुनाथजी के पास हाजिरी देने जब देवताओं का समूह एकत्रित होता है तो समा बँध जाता है। बहुत अजीब हैं ये देवता और अजब हैं इनके तमाशे। ढालपुर मैदान में रथयात्रा के समय जब देवता एकत्रित होते हैं तो कोई भागता है, कोई खड़ा होता है। कोई चलता है, कोई बैठता है। कोई रथ के चारों ओर चक्कर लगाता है, कोई दूसरे को टक्कर मारता है। घाटी और शिखरों से उतरे देवी, देवता, ऋषि, नाग सिद्ध। कोई देवता किसी का भाई है, कोई देवी किसी की बहन, कोई बड़ा है, कोई छोटा। कोई गुरु है, कोई चेला।

रंग-बिरंगे रथ, चाँदी-पीतल के साज-बाज, ऊँचे-ऊँचे रंगीन झंडे, छत्र-चँवर, देवताओं के अपने-अपने निशान, वृद्ध पुजारी, कुशल कारदार और लम्बी जटाओं वाले धीर-गंभीर गूर। ऐसा कहा जाता है कि एक समय कुल्लू दशहरे में पूरे तीन सौ पैंसठ देवता श्री रघुनाथजी के पास आते थे। अब भी यह संख्या सत्तर-अस्सी से कम नहीं रहती। सभी आमंत्रित देवताओं को नजराने के रूप में राशि दी जाती है। 1990 में उपस्थित देवताओं को कुल्लू दशहरा समिति की ओर से 1.27 लाख रुपए नजराने के रूप में दिए गए। विभिन्न स्रोतों से समिति की आय 7.80 लाख थी और उत्सव पर व्यय 7.64 लाख।

कुल्लू दशहरा को स्थानीय लोग विजयादशमी कहते हैं। यह पर्व कुल्लू में आश्विन शुक्ल दशमी से आरम्भ होकर सप्ताह बाद पूर्णिमा को समाप्त होता है। यह पर्व तब आरम्भ होता है, जब देश में रावण का पुतला जल चुका होता है। आज इस उत्सव को अंतर्राष्ट्रीय लोकनृत्य का दर्जा प्राप्त है। उत्सव में देश के विभिन्न राज्यों के

सांस्कृतिक दल तो आते ही हैं, विदेशी दल भी भाग लेते हैं। 1973 में पहला विदेशी दल आया था और तब से प्रत्येक वर्ष एक या दो विदेशी सांस्कृतिक दल निरन्तर आते रहे हैं। इस पर्व का विशिष्ट महत्त्व है उस देव परम्परा के कारण जिसके अंतर्गत वर्ष में एक बार इस उत्सव में वादी के देवता उपस्थित होते हैं।

यह शहर व्यास के दाएँ किनारे पर बसा है, जिसमें सुलतानपुर, अखाड़ा बाजार तथा ढालपुर मैदान—तीन प्रमुख आकर्षण हैं। सुलतानपुर राजधानी रहा है, अतः यहाँ अब भी राजमहल है। रघुनाथजी का मंदिर भी यहीं है। अखाड़ा बाजार प्रमुख बाजार है। ऐसा कहा जाता है कि यहाँ अवध से लाकर साधु ठहराए जाते थे, इसलिए अखाड़ा कहलाया। ढालपुर मैदान कुल्लू की पहाड़ियों के बीच एक ऐसा स्थल है, जो दूर-दूर की चोटियों से दिखता है, यह मैदान सबकी संयुक्त स्थली है। ऐसा माना जाता है कि इस मैदान का नाम राजा बहादुरसिंह ने सोलहवीं शताब्दी के मध्य में अपने भाई मियाँ ढालसिंह के नाम पर रखा था।

दशहरा आरम्भ होने के बारे में यह भी मत है कि इसके पीछे आर्थिक कारण रहा है। व्यापारिक दृष्टि से यह आयोजन तब आरम्भ होता है, जब देश के निचले भागों में समाप्त हो जाता है ताकि वहाँ के व्यापारी आसानी से इस मेले में सम्मिलित हो सकें।

ऐसी भी मान्यता है कि राजा मानसिंह ने इस उत्सव को व्यापारिक रंग दिया। सत्रहवीं शताब्दी से ही यहाँ व्यापारियों का आवागमन शुरू हुआ। उस समय भी यह मेला अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व का रहा। उस समय व्यापारी पर्वतों को लाँघ रूस, चीन, तिब्बत, समरकंद, यारकंद, लाहुल-स्पिति से आते थे। वे घोड़े तथा पशम आदि का व्यापार करते थे। घुड़दौड़ में प्रथम आने वाले घोड़े ऊँचे दामों पर बिकते। यह घुड़दौड़ कुछ समय पहले तक इस उत्सव में होती रही।

राज्याश्रय पाने के कारण इन उत्सव में नए-नए आयाम जुड़ गए। राजाओं के समय में पूरा उत्सव राजा की ओर होता था। अंग्रेजों के शासन के दौरान भी यह उत्सव राज्याश्रय से चलता रहा। एक ओर सामने राजा रूपी का कैंप लगता था तो दूसरी ओर वर्तमान कला-केन्द्र के पास राजा शांगरी का। दोनों कैंपों में अपने-अपने ढंग से नाच-गाना, खान-पान चलता रहता था।

देवों में शिरोमणि रघुनाथजी के आगमन से पूर्व कुल्लू में शैव-संस्कृति का प्राधान्य था। शैव-संप्रदाय में भी नाथ ही राजाओं के गुरु थे। इन नाथों की मुद्राओं की पूजा होती थी। मुद्रा-दर्शन के बिना राजा भोजन नहीं कर सकते थे। सत्रहवीं शताब्दी में एकाएक परिवर्तन हुआ, उस समय की कथा वादी में अपने-अपने ढंग से बखानी जाती है।

पहले नवरात्रों में पालगी से दुर्वासा ऋषि, नीणु से नारद, खोखण से आदि ब्रह्मा तथा ढालपुर मैदान के देवता भी आया करते थे।

कैलवर्ट ने अपनी पुस्तक 'दि सिलवर कंट्री' के 27वें पृष्ठ पर ढालपुर मैदान में

होने वाले मेलों का उल्लेख किया है, जिनमें कुल्लू के विभिन्न हिस्सों से 'डेविल गाइज' आते थे। अपने गाजे-बाजों के साथ, जिनमें से कुछ शुद्ध चाँदी के बने होते हैं। ये मैदान में तीन दिन के मेले में आते हैं। इनकी संख्या सौ से ऊपर बताई गई है। एक-दूसरे से मिलने के बाद ये मैदान में विभिन्न स्थानों में बैठ जाते हैं। यह दूसरा मेला पीपल जातर था, यह निश्चित है।

हारकोट ने अपनी रिपोर्ट में 95वें पृष्ठ पर सुलतानपुर में अक्तूबर में दशहरा मेले का वर्णन किया है। इसे उन्होंने धार्मिक, अधिक और व्यापारिक कम बताया है। इस मेले में बूट, ताँबे-पीतल के बर्तन तथा ऐसी वस्तुएँ जो कुल्लू में नहीं बनतीं, बेचने के लिए रखी जाती हैं। पुराने समय में इस मेले में 360 देवता रघुनाथजी के पास आते थे, अब सत्तर-अस्सी ही आते हैं। हारकोट के समय भी यह एक सप्ताह तक चलता था। उन्होंने रथयात्रा के अंतिम दिन वापसी तथा दरिया के किनारे लंका-दहन व बकरे या भेड़ों की बलि का उल्लेख किया है।

धीरे-धीरे सब देवता रघुनाथजी के पास एकत्रित होते जाते हैं। राजमहल जाने वाले देवता सबसे पहले रघुनाथजी के मन्दिर में माथा नवाते हैं फिर राजमहल में ठारा करड़ू के धड़छ के पास। कुछ देवता सुलतानपुर न जाकर सीधे ढालपुर में ही रथयात्रा में शामिल होते हैं। सुलतानपुर में रघुनाथजी को एक छोटी पालकी में सुसज्जित किया जाता है और देव समुदाय से सुशोभित देव शिरोमणि रघुनाथजी को पालकी में ढालपुर मैदान में लाया जाता है। सुलतानपुर पहुँचे सभी देवता बाजे-गाजे सहित आ जाते हैं। ढालपुर मैदान में रथ पहले से ही सजा होता है। दशहरे से पहले इसके पहियों आदि की मुरम्मत कर दी जाती है। रथ में रघुनाथजी को बिठा दिया जाता है। पुजारी बैठकर पूजा-अर्चना करता है। चँवर ढुलाया जाता है। राजा छड़ी लेकर उपस्थित रहता है। राज परिवार के अन्य लोग भी अपनी पारम्परिक वेशभूषा में सुसज्जित उपस्थित रहते हैं, पूजा-आराधना की जाती है। परिक्रमा की जाती है। रथ के चारों ओर देवता एकत्रित हो जाते हैं।

रथयात्रा को देखना व रथ को खींचना श्रद्धालु पवित्र कार्य समझते हैं, लोगों का अपार जनसमूह रथ के चारों ओर उमड़ पड़ता है। चारों ओर से उमड़े आह्लादित देवता उछल-कूद मचाते हैं।

दशहरे में कुछ देवता नहीं आते परन्तु मलाणा का जमलू अपनी विचित्र प्रथा के कारण दशहरे में आकर भी नहीं आता। ऋषि जमदग्नि के दो निशान—धड़छ और घंटी—व्यास के उस पार डोभी में आते हैं। निशानों के साथ आए आदमी भी वहाँ रहते हैं। यहाँ देवता का अपना स्थान है। व्यास के पास ठहरते हुए भी देवता दशहरे में शामिल नहीं होते।

कमांद के पराशर ऋषि भी दशहरे में नहीं आते। देवी भेखली कटोरी में टीका भेजती है। दशहरे में आने के लिए कुछ देवता अपनी प्रजा को बाध्य करते हैं। बदलते

हुए सामाजिक मूल्यों के कारण, आर्थिक कठिनाइयों के कारण, ग्रामीण अपने देवताओं को दशहरे में नहीं लाना चाहते, परन्तु देवता उन्हें दशहरा में सम्मिलित होने पर मजबूर करता है। देवता का अर्थ होता है, देवता के पुजारी, पुरोहित, कारदार, गूर, बाजे वालों के साथ गाँव के लगभग सौ से अधिक आदमी। देवताओं के दशहरे में आने को 'चाकरी' कहा जाता है।

इस तरह शुरू होता है विजयादशमी का सात दिवसीय आयोजन। रघुनाथजी अपने कैंप में रहते हैं। राजा को अपने कैंप में रहना होता है। राजा के कैंप में राजा के सब निशान पंखे, छत्र आदि के रखे जाते हैं। प्रतिदिन नृसिंहजी को भोग लगता है, उधर रघुनाथजी के कैंप में नित्य पूजा-अर्चना चलती रहती है। भजन-कीर्तन होता है।

सब देवता अपने स्थान में बैठते हैं। नाचते हैं—दिन में, रात में। रात में ग्रामीण अपने देवता के चारों ओर नाचते हैं। रात भर नृत्य चलता रहता है। दिन में कभी भविष्यवाणी होती है, कभी श्रद्धालु मनौतियाँ मनाते हैं, भविष्य पूछते हैं। देवता अपनी इच्छा से मेले में घूमता है, दूसरे देवता से मिलने आता है। कई बार समीपस्थ ग्रामवासी देवता को अपने यहाँ आमंत्रित करते हैं। कुछ देवता, देवियाँ, नाग इकट्ठे होकर नाचते हुए चलते हैं। कई बार ऐसा भी देखने में आया कि एक देवता अपने टैंट में चुप बैठा है। अचानक उसे उठाने वाले तेजी से उठते हैं और देवता भागता हुआ दूर निकल जाता है। दूसरे देवता के आने पर भी देवता उठकर उसका स्वागत करता है।

अंतिम दिन होता है लंका दहन। दोपहर बाद राजा का शामियाना कलाकेन्द्र के सामने लगता है, जहाँ राजा कुछ समय तक बैठता है। यहाँ भी कुछ देवता साथ होते हैं और नृत्य होता है। फिर रघुनाथजी के बुलावे पर राजा कलाकेन्द्र के पहले गेट से होकर रघुनाथजी के कैंप में हाजिर होता है।

सायंकाल राजा के कैंप में बलियों का पूजन होता है और निश्चित समय पर रघुनाथजी का रथ पुनः चल देता है नीचे की ओर रावण को मिटाने। मैदान के निचले छोर पर व्यास के किनारे झाड़ियाँ एकत्रित की होती हैं, जिन पर रावण का मुखौटा रखा जाता है। इसे ही लंका समझा जाता है। वास्तव में पहले इस स्थान पर व्यास का पानी दो धाराओं में बँट जाता था और बीच का टापू लंका समझा जाता था। यहाँ राजा अपनी छड़ी हड़मानी बाग के महंत के पास देता है। फिर वह आदमी तीर रावण को लगाकर राजा को वापस कर देता है। राजा इन तीरों को रघुनाथजी को सौंपता है, जिसके बदले रघुनाथजी की ओर से बग्गा साफा दिया जाता है। जिस समय तीर मारकर रावण व लंका जलाई जाती है, उसी समय पाँच बलियाँ—भैंसा, भेड़, सूअर, मुर्गा तथा केंकड़ा की दी जाती है। इस कृत्य में देवी हिडिंबा भी उपस्थित रहती है। भैंसे का सिर देवी के आदमियों के सम्मुख पेश किया जाता है। जो आदमी जलती लंका से रावण का मुखौटा उठा लाता है, उसे भी ईनाम दिया जाता है।

राजा जगतसिंह और टिपरी के ब्राह्मण की कथा, एक ऐतिहासिक पाण्डुलिपि में जो राजा ज्ञानसिंह के समय तक की है, यूँ बताई गई है—

"फेरी टिपरी दा ब्राह्मण दुरगादत दे सरीके राजे पास तुह्मत करी जे दुरगादत के पास मोति पथा है फेर राजे ने आदमी भेजे जो मोति देयो से दुरगादत ने कहा ने हमारे पास मोति है नहीं फेर आदमी राजे के पास हट आया फेरे राजा मनीकरण की आया। ब्राह्मण को फेर आदमी भेजे, जे मोति को तुम देंगे आप टिपरी के साम्हणे सरसाड़ी नाए जगा हे उहा अटका रेहा तब दुरगादत ने आदमी भेजे जो आपने मनीकरण से हट आउगे तब मोती को हम दे देवेंगे। जब राजा मनीकरण से हट आया टिपरी के साम्हणे राजा पोहुँचेया तब उसने कुटंब के साथ आग लाई के मर गैया। जब राजा मकड़ा हर में पोहुँचेया तब भत खाणे में राजा बेठा जेसा सुके जे कीडु मलूम होए, होर जल में रकत मुझे मालुम होए तब राजा ने बड़ी तकलीफ पाई। तब सुणने में आई जे सुखेत में ब्राह्मण भुने एता बड़ा करामाती वाले हे। फेर उसको आदमी भेजे। बड़े मुसकल के साथ मँगाऐआ। तब राजे ने ब्राह्मण पुछेया जे हमारा तुम लाज करो। उस रात में ब्राह्मण दमोदर तामे सुपने बेठा उसके इष्ट ने बताया जे जब तुम जोध्या में जाऐंगे उहाँ से रघनाथजी तुम लाऐंगे तब इहा जग करेंगे होर राज रघनाथजी को देऐंगे होर छड़ी आप पकड़ेंगे, राजा पकड़ेगा तब राजे को पाप जाएगा। तब दमोदर जागेया, तब दुसरे दिन सुपने का ब्यान किया, तब दमोदर गुसाईं होके जोध्या में गेया तब दमोदर गुसाईं गुटका सिधि वाला था। उहा पाण्डे के साथ मुलाकात करी, कीतने एक दिन जोध्या में रहे मंदर में रहे मंदर में रेहा, जब उसके काबू में रघनाथजी आए तब गुटका मुँह में पाया हरीदुआर में आई के पोहुँचेया, उतने में पाण्डे को खबर हुई जे रघनाथजी यहाँ रहे नेही तब पाण्डा भी गुटका सिधि जाणता था तब वो भी हरीदुआर के कुसावर्त में पुजा करते उहा आईके पोहुँचेया गया। तब दमोदर को कहा जे तुम ठाकर को कींऊँ आयेया ता दमोदर ने कहा ने रघनाथजी ने सुपने में कहा जे राजे जगसींघ के पास कुलू में ले जायो तब हम लई आऐ। ता हमने झूठ बाताया होगा ता एह ठाकर तुम लई जायो एह तुम्हारे साथ आऐगा। जे ता हमने सच सुपने ती की बात कही होगी तब ठाकर तुमे उठाया न जाएगा। जब पाण्डा ठाकर को उठाणे लगा तब उससे चुकेया न जाए, तब गुसाईं दमोदर चुके तब उसके हाथ में आउये। तब पाण्डे ने कहा जे जहाँ रघनाथजी की मरजी होए उहाँ को लई जायो तब मकड़ाहर में लई आए राजे पास तब राजे ने रघनाथजी को सुओंप दिया होर छड़ीबरदार आप राजा बणेया। बड़ा जग कीता राजे का पाप दूर हो गेया। तब दामोदर गुसाईं को थति चर्रास खारीदा सासण बगसेया, भुइण ठाकर दुआरा बगसेया सरकार से राजे ठाकर वासते ध्यानगी लगी जगतसुख कोठी का जे अन था से रुपए धरमारथ सो चतरमासे में लगा। रोज रुपया (टका 2) भेंट लगाती थी सो बरष जोध्या में जाति थी।"

इस कथा में नग्गर के पास रहने वाले बाबा किशनदास पौहारी का नाम नहीं

आता। इस पाण्डुलिपि में राजा का झीड़ी के बाबा के साथ सम्पर्क बाद में हुआ बताया गया है। इस कथा के बाद पाण्डुलिपि में लग्ग, सुलतानपुर व अन्य गढ़ों के जीतने का उल्लेख है। उसके बाद उसमें लिखा है—

"इतना मुलख राजे जगतसींघ ने लीया। फेर राजा मकड़ाहर से उठेया होर रघनाथजी भी सरतानपुर में आईके रघनाथजी को मंदर पायेआ, होर मेहल पाए सेहर बसायेआ। उसके पीछे कबी राजा सुल्तानपुर में रहे। कबी नग्गर में रहे। ठाउऐ में रेहता था। उहा झीढि में महापुरस बण में रेहते थे। ब्राह्मण कोठी के ब्राह्मण ने बताया जे इस बण में कोई महापुरस साधु रेहते हैं उसके पास जा रोया। ये जे साधु ये सेर बण बेठा राजा उससे कदरेया नहीं उसके पाउं पकड़े तब साधु प्रसीन होएया तब राजे को पीठ में पंजा दिया तब मनुष्य रूप धारेया तब राजा चेला बणाया, कंठी दीती, पूजा वासते नरसींघ दीता। तुम छत्री लोक है दो पंछी दा मास रोज देया करो होर तुम बी बीती को पाएगा करो होर एक बीती में हमारा चेला बेठे करेगा। तब जगतसिंह को वचन दिया जे—

'आठ पीढ़ी मकड़सा नउ पीढ़ी पंडोरी

उसके पीछे जो राज खाए रघुनाथजी साथ रखे डोरी' "

दशहरा मेले में नृसिंहजी की घोड़ी राजा की पालकी के साथ चलती है। रघुनाथजी के मंदिर में नृसिंहजी का एक गोल-सा पत्थर है जिसकी रघुनाथजी के साथ पूजा-अर्चना व स्नान होता है। इस कथा के अनुसार एक कंठी तथा नरसींघ या नृसिंह बाबा ने राजा को पूजा के लिए दिया।

इस समय रघुनाथ मन्दिर, सुलतानपुर में श्री रघुनाथजी, सीताजी, हनुमानजी मूर्तियाँ हैं। रघुनाथजी की अंगुष्ठ मात्र मूर्ति सीताजी की मूर्ति से अधिक कलात्मक एवं वास्तुकला की दृष्टि से उत्कृष्ट है। एक नृसिंहजी का काला पत्थर है। सम्भवतः यह वही नृसिंहजी हैं जो राजा जगतसिंह को नग्गर के किशनदास पौहारी ने पूजा हेतु दिए। इसके अलावा एक बड़े आकार का सुन्दर जंतर है जो रघुनाथजी का बताया जाता है। एक अन्य जंतर नृसिंहजी के नीचे रखा जाता है जो उतना कलात्मक नहीं है। मंदिर में प्रातःकाल आठ बजे के लगभग स्नान व पूजा होती है। इसे प्रातःकालीन पूजा कहा जाता है। इसमें सीताजी सहित सबको स्नान करवाया जाता है। दूसरी पूजा लगभग दस बजे होती है। इसे मध्याह्न पूजा कहा जाता है। इस पूजा में केवल रघुनाथजी तथा नृसिंहजी को स्नान करवाया जाता है। स्नान करवाती बार नृसिंहजी का काला पत्थर रघुनाथजी की मूर्ति के सामने रखा जाता है। इस पूजा में सीताजी का स्नान नहीं होता।

उक्त मूर्तियों के अलावा पत्थर की शालिग्राम तथा गणपति की चाँदी की लगभग 4 इंच की एक मूर्ति है। इस मंदिर में पहले चालीस उत्सव मनाए जाते थे।

महाशिवरात्रि का अनोखा पर्व

हिमाचल प्रदेश के रियासती समय में कुछ सांस्कृतिक पर्वों ने राजनीति के अजब रंगों के बीच जन्म लिया। यूँ तो राजनीति और पर्व धार्मिक-सांस्कृतिक महत्ता के साथ भीतर ही भीतर राजनीतिक सूझबूझ भी लिए हुए थे। ऐसे ही दो पर्व हैं कुल्लू दशहरा और मंडी शिवरात्रि। दोनों पर्वों में अद्‌भुत साम्य है।

प्रदेश के ऊपरी भागों में एक सशक्त देव परंपरा है जो सारी प्रजा को आज भी बाँधे हुए है। हर ग्राम में देवता है जो राजा समान है। ग्रामीण उसकी प्रजा है। रियासत के सभी देवताओं के एकछत्र स्वामी के रूप में कुल्लू में देवशिरोमणि रघुनाथ तथा मंडी में माधोराय की स्थापना की गई और एक ऐसे उत्सव का समागम किया गया जिसमें समस्त देवता वर्ष में एक बार 'हाजरी' देने आते हैं। इन दोनों उत्सवों का प्रादुर्भाव एक ही समय में हुआ। दोनों ही राज्य पहले शैव मत से प्रभावित थे। बाद में वैष्णव बने। राजा सूरज सेन तथा कुल्लू के राजा जगतसिंह समकालीन थे जिनके समय में ये उत्सव आरंभ हुए। दोनों उत्सवों की परंपरा समान है और इनका समान रूप से ही विकास भी हुआ।

मंडी के राजा अजबर सेन ने 1527 में व्यास के बाएँ किनारे राजधानी बनाने का निश्चय किया था। पुरानी मंडी के बाद वर्तमान मंडी शहर को बसाने का श्रेय अजबर सेन को जाता है। राजा ने महल तथा चौकियाँ बनवाईं। नगर के बीचोबीच भूतनाथ का मंदिर बनवाया गया। त्रिलोकीनाथ का मंदिर रानी सुलताना देवी द्वारा बनवाया गया। आसपास के राजाओं को हराकर मंडी नरेश ने अपनी स्थिति सुदृढ़ की। शिव मंदिरों के निर्माण से राजा के शिवभक्त होने का विश्वास होता है। मंडी में शिवमंदिरों के निर्माण से यह भी सिद्ध होता है कि वहाँ पर शिवरात्रि पर्व का प्रारंभ राजा अजबर सेन से ही माना जाए। पुरानी मंडी में पंचवक्तर, त्रिलोकीनाथ के मंदिर भी इसी बात को सिद्ध करते हैं। भूतनाथ मंदिर के निर्माण के विषय में एक सामान्य प्रचलित लोककथा भी है कि एक गाय ने अमुक स्थान पर दूध की धाराएँ गिराईं। राजा को स्वप्न हुआ और उसने मंदिर निर्माण करवाया।

यह संभव है कि राजा अजबर सेन के समय यह उत्सव एक या दोनों के लिए ही मनाया जाता हो। किन्तु राजा सूरज सेन (1637) के समय इस उत्सव को नया आयाम

मिला। कहा जाता है कि राजा सूरज सेन के अठारह पुत्र हुए। ये सभी राजा के जीवन काल में ही मृत्यु को प्राप्त हो गए। उत्तराधिकारी के रूप में राजा ने एक चाँदी की प्रतिमा बनाई जिसे 'माधोराय' नाम दिया। इस प्रतिमा पर मार्च 16-18 का एक लेख उत्कीर्ण है। 'हिस्ट्री ऑफ पंजाब हिल्ज स्टेट्स' में उल्लेख है, राजा ने अपना राज्य माधोराय को दे दिया। चाँदी की प्रतिमा (माधोराय की) पर संस्कृत में लिखा है : 'सूर्यसेन, भूपति तथा शत्रुनाशक ने इस पवित्र प्रतिमा, देवों के गुरु माधोराय को, भीमा स्वर्णकार द्वारा विक्रमी 1765, वीरवार, 15 फागुन को बनवाया।' इसके बाद शिवरात्रि में माधोराय ही शोभायात्रा का नेतृत्व करने लगे। राज्य के समस्त देवता शिवरात्रि में आकर पहले माधोराय और फिर राजा को हाजिरी देने लगे।

शिवरात्रि का यह उत्सव कृष्ण चतुर्दशी के फाल्गुन (फरवरी-मार्च) में मनाया जाता है और महाशिवरात्रि से आरंभ होकर एक सप्ताह या कभी दस दिनों तक चलता है। उत्सव मनाने का ढंग कुल्लू के दशहरा पर्व से मिलता-जुलता है। मंडी तथा कुल्लू की सीमा में एक ओर देवता कुल्लू दशहरा में भाग लेते हैं तो दूसरी ओर के मंडी शिवरात्रि में। यहीं राज्यों की सीमा का विभाजन होता है। वास्तव में कुल्लू के रघुनाथजी तथा मंडी के माधोराय एक ही हैं किन्तु राज्य के प्रति आस्था इन देवताओं के प्रति आस्था दर्शाती है।

उत्सव से पहले ही उत्सव में भाग लेने की तैयारी आरंभ हो जाती है क्योंकि उत्सव की शाम को आस-पास के सभी देवताओं को मंडी नगर पहुँचना होता है। मंडी पहुँचने पर सभी देवता सबसे पहले माधोराय के पास जाकर श्रद्धासुमन चढ़ाते हैं। इसके बाद भूतनाथ मंदिर में जाते हैं। देवताओं को शिवरात्रि उत्सव में भाग लेने के लिए आमंत्रण माधोराय की ओर से दिया जाता है। इस तरह से यह शैव और वैष्णव संस्कृति का सामंजस्य भी है।

मेलों की प्रबंध व्यवस्था के लिए अब जिलाधीश की अध्यक्षता में एक कमेटी बनी हुई है जो आमंत्रित देवताओं की आवास व्यवस्था के साथ मेला तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों आदि गतिविधियों को भी चलाती है।

वास्तविक उत्सव का आरंभ शोभायात्रा से होता है। देवताओं सहित माधोराय की पालकी मंदिर से माधोराय की पूजा-अर्चना के बाद चलती है। पहले इसके साथ राजा मंडी अपने मंत्रीगणों के साथ चला करते थे। अब मंत्री, जिलाधीश मंडी के साथ विशिष्ट अतिथि चलते हैं। माधोराय मंदिर से यह शोभायात्रा भूतनाथ मंदिर की ओर चलती है और भूतनाथ मंदिर से पड्डल ग्राउंड तक में आधुनिक ढंग से परेड आदि का आयोजन किया जाता है। शोभायात्रा के साथ चले देवता ग्राउंड के दूसरी ओर अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते हैं।

मेले के दौरान ये देवता दिन में इसी ग्राउंड में अपने निश्चित स्थान पर बैठते हैं। दूर-दूर से आए श्रद्धालु इनके दर्शन कर भेंट चढ़ाते हैं। एक देवता के साथ देवता का

सजा हुआ रथ, पुजारी, गूर, कारदार तथा कुछ ग्रामीण होते हैं। आजकल जहाँ एक ओर मेले में देवताओं की उपस्थिति कम होती जा रही है, वहाँ कुछ नकली देवता भी सामने आने लगे हैं। उदाहरणतः मंडी में 'माहू नाग' एक सशक्त देवता है जिसकी बहुत मान्यता है। इसका लाभ उठाने के लिए जगह-जगह माहू नाग के मंदिर तथा रथ बन गए हैं जो शिवरात्रि में भी आते हैं। कुछ ऐसे देवता के रथ अर्थ-प्राप्ति के लिए भी शिवरात्रि में लाए जाते हैं।

1963 की शिवरात्रि में (फेयर्स एंड फेस्टिवल, 1961 के अनुसार) 70 देवताओं ने भाग लिया था। उत्सव में सबसे दूर 45 मील से दयोल की देवी का आगमन हुआ था, जिन्हें पंचवक्तर मंदिर के पास ठहराया गया था। सबसे कम (चार-चार आदमी) देवी शाकम्भरी तथा माहू नाग के साथ थे। कुल 65 से 70 देवताओं के साथ लगभग 1,500 आदमी आए थे।

अब न राजा रहे, न रियासतें । मंडी के पुराने महल की जगह सचिवालय की बहुमंजिली इमारत बन गई है। हाँ, माधोराय का मंदिर तथा पुराना महल अभी भी है। देवता अब भी आते हैं दूर-दूर से, कभी उनकी संख्या पचास तक पहुँच जाती है। कभी कम रहती है, उद्घाटन के दिन देवताओं की पालकियाँ ग्रामीण उठाकर लाते हैं। लौटते समय कभी-कभी ट्रकों में भी वे वापस जाते हैं। मनुष्य तथा देवताओं के मिलन के इस पर्व में अब कुछ नए आयाम जुड़े हैं। पड्डल ग्राउंड में देवताओं के अतिरिक्त दूकानें, प्रदर्शनियाँ आदि भी लगती हैं। दिन में विभिन्न खेलों का आयोजन होता है। पुराने समय के जरी के जूते, हुक्के, बरतन, चटाइयाँ, मिट्टी के बरतन अब कम ही दिखाई देते हैं। रात में सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं, जिनमें प्रदेश तथा देश के विभिन्न भागों के सांस्कृतिक दल भाग लेते हैं। सरकार द्वारा मंडी-शिवरात्रि को एक राज्यस्तरीय उत्सव का दर्जा दिया गया है।

गूर हैं तो गाथा भी है देवों की

फाग का महीना आते ही हिमाचल के ऊपरी क्षेत्रों—किन्नौर, लाहुल-स्पिति और विशेषकर कुल्लू और मंडी के ऊपरी क्षेत्रों में मेलों का आयोजन शुरू हो जाता है। ये सभी मेले देवताओं से संबंधित होते हैं जिसमें देवता व लोगों का अद्भुत समागम होता है। फागुन के अँगड़ाई लेते ही देवता जागते हैं और अपने-अपने स्थान पर वापस आकर अपनी प्रजा को सुनाते हैं आगामी वर्ष के बारे में भविष्यवाणियाँ और अपनी इस वर्ष की उपलब्धियाँ। इस अंतिम मास के बाद नया वर्ष आरंभ होगा। बर्फ पिघलेगी, अंकुर फूटेंगे, वसंत झूमेगा।

देवताओं को सुप्त अवस्था से जागृत करता है फागुन, जब मनुष्य-वनस्पति की सुप्त शक्तियाँ एकबारगी फूटकर बाहर निकलना चाहती हैं। इस फाग के मौसम में मनाई जाती हैं फागलियाँ, तकरीबन हर देवता के यहाँ। फागुन की संक्रांति से आरम्भ होकर फागली महीना-भर चलती रहती है, एक गाँव से दूसरे गाँव वासंती हवा की तरह। बर्फानी इलाकों में बसंत देरी से आता है, फागुन के अंत तक। पहली फागली को कई स्थान बर्फ से ढके होते हैं। फरवरी और फागुन में एक अजीब साम्य है।

प्रायः एक इलाके के देवता अपने मुख्य देवता के यहाँ फागली मनाते हैं। अपनी युद्ध गाथा में मुख्य देवता सेनापति होता है और अन्य देवता सहायक। अपनी सुप्त अवस्था से देवता जागते हैं और अपनी 'भारथा' में युद्ध में हारने-जीतने के किस्से सुनाते हैं। 'भारथा' में ये पुरातन किस्से भी दोहराते हैं, युद्ध में हारने या जीतने की बात नई होती है। कभी देवता हारते हैं, कभी जीतते हैं। फिर गाँव के लिए वर्षा, अकाल, बीमारी, खुशहाली आदि लाते हैं और उसी के अनुरूप आगामी वर्ष अच्छा या बुरा होने की भविष्यवाणियाँ करते हैं।

फागली का पर्व कहीं एक दिन, कहीं तीन दिन तो कहीं सात दिन तक चलता है। पर्व के दिनों ग्रामीण अपने चूल्हों में भी बैठल (धूप की जड़ी) डाल छोड़ते हैं ताकि देवता लौटने के बाद बिना आवभगत के वापस न चला जाए।

मलाणा के जमलू देवता की फागली प्रसिद्ध है। मलाणा में यही एकमात्र पर्व है जब देवता का सारा साज-सामान बाहर निकलता है। पर इन दिनों बर्फ के कारण यहाँ पहुँच पाना सुगम नहीं है। कुल्लू में भी जमलू या ऋषि जमदग्नि के सारे स्थानों में, जो

बारह बताए जाते हैं, फागली मनाई जाती है।

नगर के ऊपर लगभग दो किलोमीटर पर है चजोगी गाँव। यह इस पहाड़ पर अंतिम गाँव है, लगभग 1800 मीटर की ऊँचाई पर बसा देउ अंबल का गाँव। देउ अंबल, जिसे राजा बलि कहा जाता है, पाताल से निकल यहाँ प्रकट हुआ था। गाँव की सीमा से ही मोहरू के पेड़ों का जंगल शुरू हो जाता है। गाँव के चारों ओर हरे-हरे मोहरू के पेड़ छितराए थे। एक व्यक्ति से पूछने पर ज्ञात हुआ कि ये पेड़ देवता के समझे जाते हैं। देवता इन्हें काटने की आज्ञा नहीं देता। बस इसके पत्ते पशुओं को चारे के रूप में डाल सकते हैं। यदि कोई इन्हें काट दे तो उसका अनिष्ट होता है। यहाँ फागली फरवरी मास के मध्य में मनाई जाती है।

देवता वर्ष में तीन बार निकलता है : एक बार फागली को, दूसरी बार जेठ में साजा कजैहली को और तीसरी बार जन्माष्टमी को। देउ अंबल का गाँव में कोई रथ नहीं है। केवल तीन निशान —घंटी, धड़छ और खंडा हैं। यद्यपि इसी देवता का एक रथ या करडु (एक आदमी द्वारा सिर पर उठाया जाने वाला टोकरा) है, जो पास के नशाल गाँव में है। चजोगी से कुछ ऊपर जमलू का स्थान भी है।

देवता के सभी कर्मचारी पहले दिन मंदिर में आए गए थे। प्रातः पुजारी आदि देवता को मंदिर से संलग्न 'मढ़' (जिस सरायनुमा जगह में देवता की कार्रवाई होती है) में ले जाते हैं जहाँ देव-जागरण होता है। दूसरे दिन प्रातः नशाल से देवता का करडु आता है जो उसी शाम वापस हो जाता है। सभी कृत्य बाजे-गाजे के साथ किए जाते हैं।

पर्व के चौथे दिन जब वहाँ पहुँचे तो किसी आयोजन के कोई चिह्न नहीं थे। बर्फ की परतें तो नग्गर से ही आरम्भ हो गई थीं। यहाँ घरों की छतें बर्फ से ढकी थीं और धूप से पानी टप-टप नीचे गिर रहा था। मंदिर के पास ही एक घर में एक व्यक्ति ने आदर से बिठाया। उसने बताया कि आज वैसे भारथा होती है जिसे 'बर्शोहा' कहा जाता है। इसमें देवता अपना इतिहास सुनाता है कि वह अमुक स्थान से आया और अमुक स्थान पर ठहरा। उसने यह किया और वह किया। इसके बाद आने वाले आपदाओं की भविष्यवाणी होती है। आने वाला वर्ष गाँव के लिए कैसा रहेगा, यह बताया जाता है।

गूर के बिना आज यहाँ कार्यवाही नहीं हो पाई। वास्तव में गूर ही देवता का इहलौकिक प्रतीक है। उसी के माध्यम से देवता मनुष्यों से जुड़ा है। वही देवस्वरूप होकर मनुष्यों से वार्तालाप करता है, भविष्यवाणियाँ करता है, रोष-हर्ष प्रकट करता है। देव-मानव की वह बीच की कड़ी है।

इस देवता के गूर खीमदास की दो वर्ष पूर्व मृत्यु हो चुकी है। उसके बाद अभी तक कोई और गूर नहीं बना।

"क्या अब कोई गूर नहीं बनेगा?" शंका व्यक्त की, क्योंकि अब गूरों की संख्या कम होती जा रही है। कोई अब गूर बनना पसंद नहीं करता। गूर के जीवन में कई तरह की वर्जनाएँ हैं। उसे नियमित व प्रतिबंधित जीवन जीना होता है। अधिकतर

देवताओं के गूर सिगरेट-तंबाकू नहीं पीते। गूर को लंबे बाल रखने होते हैं। सूतक-पातक का परहेज करना होता है। यहाँ तक कि कइयों को हल पकड़ना वर्जित है। ऐसी स्थिति में और वर्तमान हालात में जब देवता को कोई विशेष आय नहीं होती, आस्था कम हो रही है, गूरों का जीवन दूभर हो गया है। देवताओं के क्रियाकलापों में उन्हें चोला कमर में लपेटे, बाल बिखराए नंगा होना पड़ता है। गूर बनने से पूर्व भी उन्हें अग्नि-परीक्षाओं से गुजरना होता है।

प्रायः गूर अब अपने पुत्रों को गूर न बनने की नेक सलाह देते हैं। पर ऐसा भी कहा जाता है कि जिसे देवता अपना गूर बनाना चाहे, वह लाख कोशिश करने पर भी गूर हुए बिना नहीं रह सकता। इस विषय में एक गूर के पुत्र की चर्चा की जाती है कि पिता ने पुत्र को गूर न बनने की सलाह दी। पुत्र भी गूर बनने में रुचि नहीं रखता था; अतः उसने देवताओं के लिए वर्जित वस्तुओं का प्रयोग आरंभ कर दिया। सिगरेट-तंबाकू के साथ और जूते पहने देवता नहीं आता था। एक बार वह नहाने के लिए नंगा हुआ तो देवता उसमें प्रवेश कर गया और अंततः उसे गूर बनना पड़ा।

"नहीं। गूर तो कोई न कोई बनेगा ही। गूर के बिना देवता गूँगा है। शायद कोई गूर निकल आए।" उस व्यक्ति ने मंदिर के दरवाजे की ओर देखते हुए कहा।

अक्सर जिस व्यक्ति के उभरने (देवता आने पर) पर सिर की टोपी गिर जाए, वह गूर माना जाता है। पर यह आवश्यक नहीं होता कि जिसकी टोपी गिर जाए, या जो अपनी टोपी उस समय गिर जाने दे (क्योंकि गूर के अलावा अन्य व्यक्ति के उभरने पर वह एक हाथ से अपनी टोपी थामे रखता है) तो अवश्य ही गूर बन जाएगा। अलबत्ता उससे गूर बनने की संभावनाएँ हो जाती हैं। कई बार वह गूर नहीं भी बनता। गूर घोषित करने के लिए पहाड़ की चोटी से एक जड़ी बैठल लानी होती है। इसी जड़ी से देवता को धूपित किया जाता है। इसे पवित्र माना जाता है और लोहे से काटा नहीं जाता। देवता को धूपित करने के लिए इसे लोग नवरात्रों में जाकर लाते हैं। जो गूर उभरकर यह जड़ी जोत से ले आता है, उसे असली गूर मान लिया जाता है। उन्मत्त गूर भागता हुआ पहाड़ की चोटियों पर चढ़ जाता है जहाँ बैठल होती है। बैठल लेकर उसी जोश वाली स्थिति में वह वापस आ जाता है।

एक देवता के एक से अधिक गूर भी होते हैं। आम तौर पर पहले बना गूर वरिष्ठ गूर माना जाता है और उसके बाद कनिष्ठ।

इस देवता के गूर खीमदास के विषय में बताया गया है कि वह अक्सर उन्मत्त स्थिति में चंद्रखणी पर्वत पर जाया करता था और वहाँ से बैठल लाता। प्रायः वह ऐसा करता और बर्फीले व दुर्गम पर्वत पर भागता हुआ चढ़ जाता। एक बार एक स्थान पर वह नाला पार कर रहा था कि देवता भीतर से निकल गया। वह एकदम ठंडा हो गया। पर उसी समय दैवयोग से देवता आ गया और वह पुनः उस अगम्य पथ को सुगमता से लाँघ गया। ऐसी एक घटना एक अन्य गूर के विषय में भी सुनाई जाती है कि वह एक

ऐसी चट्टान पर जा पहुँचा जहाँ से निकल सकना संभव न था परंतु देवता के प्रभाव से वह वहाँ से निकल आया। इस तरह की घटनाएँ देवताओं के गूरों के विषय में परी-कथाओं की तरह सुनाई जाती हैं।

देवता ने खीमदास को ऐसा करने से टोका भी था कि इससे उसके जीवन को खतरा है। जब देवता उससे उतर जाता तो वह बैठकर रोता था क्योंकि तब ठंड भी लगती थी और जोश भी उतर जाता था।

वहीं ऐसा भी ज्ञात हुआ कि गूर उसी वंश का आदमी बनता है। एक गूर अपने वंश के किसी व्यक्ति, पुत्रादि को ऐसी दीक्षा देता है। और यदि वह उसमें खरा उतरे और देवता की कृपा हो तो गूर भी बन जाता है।

"भारथा में देवता का इतिहास तो हर वर्ष एक-सा होता है?" पूछा तो जवाब मिला, "हाँ, इतिहास तो एक ही तरह का रहता है जो गूरों को कंठस्थ होता है। एक गूर अपने शिष्य गूर को यह रटवा देता है।" उसने स्वीकारा।

"दूसरे, अर्थ यह हुआ कि भारथा गूर स्वयं ही बोलता है, देवता नहीं। जैसे अब यहाँ गूर बनेगा तो उसे भारथा कैसे आएगी।"

"संभवतः गूर ने अपने किसी संबंध को सिखाई हो...या देवता की कृपा से आ जाए।" देवता की कृपा से आने की बात वह ज्यादा विश्वास से नहीं कह पाया।

वैसे गूर भारथा पूछने पर बताते नहीं और कहते हैं कि यह उसी समय उनके मुँह से प्रकट होती है, ऐसे अप्रासंगिक रूप से नहीं।

इसी रात 'सगरात' थी। इस रात्रि एक-डेढ़ बजे नृत्य होता है। इस नृत्य में परसों होने वाला नृत्य के लिए नर्तकों का चयन होता है। इस रात चयनित नर्तकों को परसों 'कोटलू' के लिए नृत्य करने के लिए वचनबद्ध होना होता है। इसी रात को सगरात कहा जाता है।

अंतिम दिन होता है कोटलू। इस शाम मुखौटे पहन नृत्य होता है। यह मुखौटा नृत्य अन्य स्थानों—सोएल, हलेउ, हलाण, शलीण, रूमसू आदि में भी होता है। इन गाँवों में कहीं एक, कहीं दो, कहीं तीन, मुखौटेधारी अपने-अपने ढंग से नाचते हैं। सोएल में मुखौटाधारी को नाचते-नाचते जोश आ जाता है, तब उसे दो आदमी पकड़े रखते हैं। लोगों का विश्वास है कि भाग जाने पर कहीं जाकर उसकी मृत्यु हो जाती है। मुखौटाधारी 'टुंडी राक्षस' का अभिनय करता है। एक अन्य राक्षसी का अभिनय करता है। वास्तव में ये मुखौटे पहनते नहीं बल्कि एक हाथ से माथे पर थामे रखते हैं।

शाम के लगभग तीन बजे देवता की कार्रवाई आरंभ हो गई। नर्तक भी अपने-अपने घरों में तैयार होने लगे। मुखौटे धारण करने वालों को तैयार होने की आवश्यकता नहीं थी। उनका शृंगार तो मढ़ में ही होना था। चार लकड़ी के मुखौटे मढ़ में दीवार से टिकाकर रखे थे। उनके ऊपर रंगों, चाक आदि से चित्रकारी कर दी गई थी। मुखौटों की काष्ठकला अच्छी थी। विशेषकर उनकी नुकीली नाक बहुत सुन्दर थी।

दाढ़ों में राक्षसी भयंकरता को प्रकट किया गया था। चारों मुखौटों की अपनी-अपनी अनुकृति थी। चार व्यक्तियों के मुँह पर मुखौटे चढ़ा दिए गए और उनके शरीर के ऊपरी भाग में कलात्मकता से रायल नाम की झाड़ी के पत्ते-टहनियाँ लगा दीं।

मुखौटों को 'खेपरे' कहा जाता है और पारंपरिक वेशभूषा वाले नर्तकों को 'गुड़ी'। मढ़ से सबसे पहले चार नर्तक पारंपरिक चोला-टोपा पहने नर्गिस फूलों से सुसज्जित हुए निकले। उनके आगे एक लीडर था जिसे 'धुरी' कहा जाता है। इसी प्रकार चार मुखौटेधारियों के आगे भी धुरी था जो चोला-टोपा पहने हुए था। धुरी के हाथ का डंडा पिछले मुखौटे वाले ने घुटनों के पास हाथ से पकड़ा रखा था। इसी तरह डंडे का दूसरा किनारा उससे पिछले मुखौटे वाले ने पकड़ा था। सभी इसी तरह एक-दूसरे से जुड़े थे। सारे नृत्य में ये डंडे नहीं छोड़े जाते। यदि डंडा किसी से छूट जाए तो उसके लिए अशुभ माना जाता है। न ही ये नर्तक मुँह से कुछ बोलते हैं।

चार नर्तक, चार मुखौटेधारी, दो धुरी देवता के बाजे, पुजारी सहित मंदिर के सामने छोटी-सी जगह में आ गए। यहाँ पहले चार नर्तक, एक धुरी का नृत्य हुआ। केवल बाजे पर। कोई गाना नहीं गाया गया। इसके बाद चार मुखौटेधारी और धुरी ने नृत्य किया। धुरी के हाथ में कुल्हाड़ीनुमा शस्त्र था जिसे वह बार-बार पहले मुखौटेधारी के सिर पर घुमा रहा था। एक ने बताया कि कई बार इस प्रक्रिया में गूर खेलता है और राक्षसी मुद्रा में मुँह फाड़ता है। तब उसे देवता के डंडे से डराकर शांत किया जाता है।

अब वे मंदिर से कुछ आगे खुली जगह में अखरोट के पेड़ के नीचे नृत्य करने लगे। देवता के पुजारी आदि एक ओर बैठ गए। नृत्य देखकर लग रहा था कि यह सुर-असुर, देव-दानव, मनुष्य राक्षस होड़ लगाए नृत्य नहीं कर रहे। यह नृत्य संग्राम का प्रतीक नहीं है अपितु संग्राम के उपरांत संधि का प्रतीक है। एक समन्वय का प्रतीक है। मनुष्य-राक्षस संस्कृति का समन्वय।

संवाद देवों से

स्वर्ग की कल्पना एक ऊँचे स्थान पर की गई है। पुराणों में वर्णित शिवपुरी, कुबेरपुरी, इंद्रलोक, विष्णुलोक आदि सभी लोक एक ऊँचे स्थान पर थे। यह ऊँचा स्थान और कोई नहीं हिमालय ही था। यहाँ ऋषि-मुनि भी तपस्या के लिए आए। पर्वत अनादि काल से देवताओं से जुड़े हैं। हिमाचल की ऊँचाइयों में देवताओं का वास माना जाता है। शिव तो पर्वतवासी हैं ही, ब्रह्मा, विष्णु, अनेकानेक ऋषि-मुनि, नाग-सिद्ध भी पर्वत-कंदराओं में बसे। आज भी हिमाचल के ऊपरी भागों—कुल्लू-किन्नौर, मण्डी-महासू, भरमौर-सिरमौर तथा उत्तर प्रदेश से लगते शिखरों तथा घाटियों में स्थान-स्थान पर देवताओं का वास है। हर वन-पर्वत, ग्राम में देवता विराजमान हैं।

अधिकांश मन्दिरों में कोई मूर्ति नहीं होती। न ही विधिवत् प्रतिदिन पूजा होती है। मन्दिर में या मन्दिर के साथ भण्डारे में देवता के मोहरे (मास्क) रखे जाते हैं। उत्सव के दिन इन मोहरों के साथ देवता का रथ या पालकी सजाई जाती है, जिसे दो या चार आदमी उठाते हैं। यही जीवंत देवता है। ग्राम देवता के प्रमुख कर्मचारियों में कारदार, भण्डारी और गूर—ये तीन प्रमुख हैं। कारदार देवता व उसके उत्सवों, धार्मिक कृत्यों की प्रबंध व्यवस्था करता है। भण्डारी एक प्रकार से कोषाध्यक्ष है। देवता की सामग्री जैसे मोहरे, सोना, चाँदी व अन्य वस्तुएँ रखता है। गूर ऐसा एक समर्थ कर्मचारी है जो देवता का प्रवक्ता है।

बहुत आश्चर्यजनक और रोमांचक हैं इन देवताओं की कहानियाँ। ये देवता पत्थर या धातु की मूर्तियाँ मात्र नहीं, अपितु ये मनुष्यों से बात करते हैं। रूठते हैं, मनते हैं। रुष्ट-प्रसन्न होते हैं। अपने जन्मदिवस मनाते हैं। उत्सव मनाते हैं। एक देवता दूसरे से मिलने आता है। एक के उत्सव में दूसरा आमंत्रण पाने पर भाग लेता है। सभी ग्रामीण देवता की प्रजा हैं। वह राजा है। स्वामी है। प्रजा के लिए देवता ही पालक है। संहारक भी वही है। वही न्याय करता है, दण्ड देता है। आशीर्वाद भी वही देता है। अपनी प्रजा को देवता ही भावी विपत्तियों के प्रति आगाह करता है। सुखमय भविष्य की ओर जाने की राह बताता है।

इस सारे संवाद के बीच की कड़ी है गूर। गूर के बिना देवता गूँगा है। वास्तव में गूर ही देवता का इहलौकिक प्रतीक है। उसी के माध्यम से देवता मनुष्यों से जुड़ा है।

वह देवता और मनुष्य के बीच की कड़ी है। वही देवस्वरूप होकर मनुष्यों से वार्तालाप करता है। भविष्यवाणियाँ करता है, रोष-हर्ष प्रकट करता है। गूर के बिना देवता की कोई कार्रवाई संभव नहीं।

कैसे बनते हैं गूर ?

गूर बनने के लिए कई परीक्षाओं से गुजरना होता है। प्रायः जिस व्यक्ति के 'उभरने' (देव प्रवेश) पर सिर की टोपी गिर जाए, वह गूर माना जाता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं होता कि जिसकी टोपी गिए जाए, या जो अपनी टोपी उस समय गिर जाने दे (क्योंकि गूर के अलावा अन्य व्यक्ति उभरने पर अपनी टोपी हाथ से थामे रखते हैं) तो वह अवश्य ही गूर बन जाएगा। अलबत्ता उसमें गूर बनने की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं। कई बार वह गूर नहीं भी बनता। गूर घोषित होने के लिए पहाड़ की चोटी से एक जड़ी बैठल लानी होती है। इसी जड़ी से देवता को धूपित किया जाता है। इसे पवित्र माना जाता है और लोहे से काटा नहीं जाता। घरों में भी इस जड़ी को रखना और धूपित करना अच्छा माना जाता है। देवता को धूपित करने के लिए उसे लोग नवरात्रों में लाते हैं।

जो व्यक्ति 'उभर' कर यह जड़ी जोत से ले आए, उसे असली गूर मान लिया जाता है। देवता के प्रवेश पर उन्मत्त गूर भागता हुआ पहाड़ की चोटियों पर चढ़ जाता है जहाँ बैठल होती है। बैठल लेकर वह उसी जोश की स्थिति में वापस आता है।

कुल्लू से ऊपर एक अन्य देवता जमलू के यहाँ गूर बनने की प्रथा कुछ भिन्न है। गूर बनने का आया पुरुष उभरने पर अपनी टोपी उतार फेंकता है। ऐसी स्थिति में उसे कुछ लोग पकड़ लेते हैं, क्योंकि वह आपे में नहीं रहता। उसे पकड़कर देवता के पास ले जाया जाता है। देवता के सभी कर्मचारी उपस्थित हो जाते हैं और अच्छा-खासा समारोह बँध जाता है। गूर कुछ बोलता नहीं। देवता के पास एक बकरा बलि किया जाता है और उसका खून गूर के मुँह में लगाया जाता है। तब गूर बोल उठता है।

कई बार गूर बनने को आया आदमी दूरस्थ स्थानों में उभर जाता है। मलाणावासी अपनी भेड़ें रामपुर की ओर लाते हैं। रामपुर में एक आदमी ऊभर पड़ा और उसका उभरना बंद न हुआ। अंततः उसे रामपुर से लगभग पचास किलोमीटर की दूरी तय कर मलाणा लाया गया। बिना कुछ खाए-पिए वह मलाणा पहुँचा और विधिवत् गूर बना। मूल माहूनाग बखारी (मण्डी) के गूर बनने को आए व्यक्ति को एक निश्चित जगह में सतलुज में छलाँग लगानी पड़ती है।

गूर का जीवन : एक पराया जीवन

गूर बनने पर उसका जीवन अपना जीवन नहीं रहता। वह देवता को समर्पित हो जाता है। गूर के जीवन में कई तरह की वर्जनाएँ हैं। उसे नियमित व प्रतिबंधित जीवन

जीना होता है। अधिकतर देवता के गूर सिगरेट, तंबाकू नहीं पीते। गूर को लम्बे बाल रखने होते हैं। पाँव में जूता नहीं डालना होता। यहाँ तक कि कइयों को हल पकड़ना भी वर्जित है। देवता के क्रियाकलापों में उसे चोला कमर में लपेटे, बाल बिखराए नंगा होना पड़ता है। गूर बनने से पूर्व उसे कई अग्नि-परीक्षाओं से गुजरना होता है। देवता के उत्सव के समय गूर को नंगे पाँव, नंगे बदन बर्फ में नाचना पड़ता है। उत्सव के समय पगड़ी पहने लम्बी जटाएँ धारण किए गूर को अलग पहचाना जा सकता है। एक देवता के एक से अधिक गूर भी होते हैं।

देवता के वार्षिक उत्सव में गूर देवता की कथा सुनाता है जिसे 'बशोंहा' या 'भारथा' कहा जाता है। इसमें देवता के घाटी में आगमन, अलौकिक तथा चमत्कारी कृत्यों का वर्णन रहता है। इसके साथ ही अगामी वर्ष के बारे में भविष्यवाणी की जाती है। वर्षा-अकाल, रोग-महामारी, सुख-समृद्धि के बारे में बताया जाता है। लोग अपनी व्यक्तिगत समस्याओं का हल भी पूछते हैं।

गूर-खेल या आवेश में आने के समय गूर अजीब-अजीब हरकतें करते हैं जो सामान्य व्यक्ति नहीं कर सकता। वे आवेश में आकर थर-थर काँपते हैं। गर्म खून पीते हैं। जो वस्तु खाई नहीं जा सकती, उसे खाते हैं। पांगणा (मंडी) में गूर आवेश में आने पर जौ खाते हैं। कुछ थुहर (एक प्रकार का कैक्टस) कच्चा चबा जाता है।

गूर का पद पैतृक

प्रायः गूर का पद पैतृक होता है। किन्तु यह आवश्यक भी नहीं है। गाँव में कोई व्यक्ति जिस पर देवता की कृपा हो, गूर बन जाता है।

प्रायः गूर अपने पुत्रों को गूर न बनने की नेक सलाह देते हैं। अब, जबकि देवता में लोगों की श्रद्धा कम होती जा रही है, गूर का जीवन सम्मानजनक नहीं रहा, साथ ही अनेक प्रतिबंध भी लग गए हैं। गूर दुर्लभ होते जा रहे हैं।

मलाणा गणतन्त्र

हिमाचल में गणतन्त्र का जीवंत उदाहरण है मलाणा। मलाणा गणतन्त्र के दो सदन हैं—ज्येष्ठांग (अपर हाउस) और कनिष्ठांग (लोअर हाउस)। ज्येष्ठांग के ग्यारह सदस्य हैं, जिनमें तीन पैतृक हैं—कारदार, पुजारी और गूर। इनमें देवता द्वारा मनोनीत किया जाने वाला सदस्य गूर है। एक व्यक्ति विशेष में देवता प्रवेश कर जाता है। वह गूर कहलाता है। देवता गूर के माध्यम से प्रजा से बात करता है। शेष आठ सदस्य चार चुघों अर्थात् घरानों से चुने जाते हैं। ये चुघ हैं खिमानिग, पंचाणिग, धर्माणिग और सरबलकुले (सरबलकुल)। इनमें से प्रत्येक से दो-दो सदस्य आते हैं। ज्येष्ठांग के सदस्य मन्दिर के आगे बने चौंतड़े अर्थात् चबूतरे पर बैठते हैं। इन्हें 'चौंतड़ा' या 'कोरम' भी कहा जाता है। गूर या अन्य सदस्य की मृत्यु पर ज्येष्ठांग भंग हो जाता और पुनः चुनाव होता है।

निचला सदन कोर या कनिष्ठांग है। इनमें से प्रत्येक घर के एक सदस्य आता है, जो प्रायः घर का मुखिया या वयस्क होता है। ये समस्त सदस्य चौंतड़े के नीचे बैठते हैं।

फरियाद करने वाला व्यक्ति 'चौंतड़े' के पास लकड़ी जलाकर धुआँ कर देता है। धुआँ करना दावे का द्योतक है। धुएँ को देखते ही ज्येष्ठांग के सदस्य आ जाते हैं। कनिष्ठांग के समस्त सदस्यों को बुलाने के लिए आवाज दी जाती है, "हो भुरुए हो !" इस आवाज पर कोई न आए, तो पुकारा जाता है : द्रोही घटके। "द्रोही घटके···द्रोही (कसम) देवता की, जो तुम न आओ।" तब एकदम सब इकट्ठे हो जाते हैं।

बस उसी समय बहस आरम्भ हो जाती है। मामला निचले सदन से पारित होकर ऊपरी सदन में आता है। ऊपरी सदन में अलग से बहस होती है। यह सदन किसी निर्णय या सम्मति या संशोधन स्वयं नहीं कर सकता। संशोधित प्रकरण फिर निचले सदन के पास सहमति के लिए लाया जाता है। ज्येष्ठांग, कनिष्ठांग पर कोई निर्णय थोप नहीं सकता जब तक कनिष्ठांग द्वारा संशोधन पारित न हो, ज्येष्ठांग निर्णय नहीं दे सकता। किसी भी अन्तिम निर्णय तक पहुँचने से पहले खुलकर बहस होती है। दोनों सदनों की सहमति होने पर फैसला कर दिया जाता है।

ऐसे मामले में, जिनमें दोनों सदन एकमत नहीं हो पाते। अन्तिम निर्णय देवता का माना जाता है। ज्येष्ठांग के निर्णय के विरुद्ध अपील भी की जा सकती है। अपील की

स्थिति में राजीनामा करवाने की कोशिश की जाती है। गूर के बैठने के लिए एक निश्चित स्थान है जिसे अन्य कोई छू भी नहीं सकता। देवता गूर में प्रवेश कर बोलता है। इस पर भी निर्णय निष्पक्ष न हो, तो कई बार गूर पर भी संदेह हो जाता है कि इसमें देवता ने पूरी तरह प्रवेश नहीं किया है, या गूर व्यक्ति के रूप में बोल रहा है, देवस्वरूप होकर नहीं। उस स्थिति में एक अन्य विधान है। दोनों पक्षों द्वारा दो बकरे लाए जाते हैं। बकरों की जाँघ चीरकर उसमें जहर की गोली रख दी जाती है। अब जिसका बकरा पहले मर जा जाता है, वह अपराधी घोषित किया जाता है, और उसे दण्डित किया जाता है।

दण्ड सबको मान्य होता है। सभी उसका पालन करते हैं।

प्रायः जुर्माना एक टका (आज के तीन पैसे) किया जाता है। अधिक-से-अधिक पच्चीस पैसे। चोरी के अपराध में घोषित अपराधी को चोरी के माल की दो गुनी कीमत अदा करने होती है। जुर्माना न देने पर अपराधी के भाँडे-बरतन के लिए जाते हैं। और तब तक जब्त रहते हैं, जब तक जुर्माना अदा न कर दिया जाए।

यदि कोई व्यक्ति सरकारी अदालत में जाना चाहे, तो उसे दण्डित किया जाता है और बिरादरी से भी निष्कासित किया जा सकता है।

जिला मण्डी के छोटा भंगाल तथा बड़ा भंगाल क्षेत्र में भी इसी प्रकार के देवन्याय की परम्परा है। किसी भी प्राकृतिक आपदा, बीमारी, आपसी झगड़ों के निपटान के लिए सब ग्रामीण देवता के पास बैठ जाते हैं और अपनी समस्याओं का हल ढूँढ़ते हैं। चम्बा के जनजातीय लोग भी इसी तरह देवता से जुड़े हैं।

निरमण्ड में परशुराम मन्दिर के बाहर एक चबूतरे पर भी ऐसा ही न्याय दरबार सजता था। चबूतरे में लगे कलात्मक पत्थर आज भी उसकी याद दिलाते हैं। चबूतरे पर लगने वाले इस न्याय दरबार को फाँसी तक देने का अधिकार प्राप्त था।

वास्तव में छोटे-छोटे ये गणतंत्र पौराणिक गणराज्यों के ही अवशेष हैं।

लगभग आठ सौ की जनसंख्या वाले अढ़ाई हजार मीटर की ऊँचाई पर बसे मलाणा पहुँचने के लिए तीन मार्ग हैं। पहला मार्ग कुल्लू से नगर होकर चन्द्रखणी पर्वत पार कर चौदह किलोमीटर पर मलाणा आता है। दूसरे दो मार्ग भुन्तर-मणिकर्ण होकर हैं। मणिकर्ण से कसौल-बसोल गाँव होकर तथा दूसरा मणिकर्ण से पीछे जरी होकर। सभी दिशाओं से चौदह-पन्द्रह किलोमीटर आबादी से दूर मलाणा अभी भी अपनी गणतन्त्रात्मक प्रणाली सँजोए हुए है।

शैव परम्परा

हिमाचल हिमालय का वह भूभाग है जहाँ आदि शक्ति और शिव का प्राधान्य है। पूरे प्रदेश में शिव व्याप्त हैं। यहाँ के पर्वत शिखर शिव का वास माने जाते हैं। शिव का ताण्डव, शक्ति का लास्य यहाँ की घाटियों-शिखरों में विद्यमान है। शिव-पार्वती यहाँ आम जीवधारी मनुष्यों की तरह विचरण करते माने जाते हैं। यहाँ के लोकगीतों में शिव एक ओर कैलासों के वासी और संकट हरने वाले हैं तो दूसरी ओर प्रसन्न मुद्रा में नृत्य करते हैं। प्रदेश के मन्दिरों का सर्वेक्षण किया जाए तो शिव और शक्ति के मन्दिर सर्वाधिक निकलेंगे, यह निश्चित है।

शुरुआत जिला चम्बा के भरमौर से की जा सकती है। भरमौर के मूलवासी गद्दी शिव-भक्त हैं। शिव का वास यहाँ उतना ही पुराना माना जाता है जितना कि मनुष्य जीवन। शिव गद्दी लोगों की भेड़ों के रक्षक हैं, उनके आश्रयदाता हैं, एकमात्र सहारा हैं।

भरमौर को शिवपुरी कहा गया है। चम्बा से तीस किलोमीटर दूर रावी के दाएँ किनारे पुराने भरमौर मार्ग पर देवी का मंदिर है। देवी मंदिर के चारों ओर अनेक शिवलिंग हैं जो एक शिव मन्दिर की पुष्टि करते हैं। यहाँ एक शिला में लेख है जो सम्भवतः शिवलिंग के साथ रहा होगा। इस लेख में 'शिवपुर' का उल्लेख है। लेख में कहा गया है कि आषाढ़ देव ने शिवपुर के मध्य में संकलीश का मंदिर बनवाया। वोगल ने इस लेखा को सातवीं शताब्दी का माना है।

भरमौर की छतराड़ी में आदि शक्ति का अद्वितीय मंदिर है जो आठवीं शताब्दी का माना जाता है। भरमौर की पुरातन राजधानी ब्रह्मपुर में प्राचीन मणिमहेश मंदिर है। मंदिर के बाहर नंदी में शिलालेख है जो मेरुवर्मन के समय आठवीं शताब्दी का है।

शिव का निवास मणिमहेश माना जाता है। मणिमहेश कैलास तेरह हज़ार फुट से ऊपर बुलंदी पर है। मणिमहेश यात्रा राधा अष्टमी को होती है। चम्बा से छड़ी यात्रा के साथ आरम्भ होकर राधा अष्टमी को स्नान होता है। जम्मू-भद्रवाह के लोग जन्माष्टमी के दिन स्नान करते हैं। जिसे छोटा न्हौण कहा जाता है। लक्ष्मीनारायण मंदिर के साधु छड़ी लेकर चलते हैं और मणिमहेश झील में पहुँचते हैं। झील में सर्वप्रथम चेला स्नान करता है जो गद्दी समुदाय का होता है। झील से पहले गौरी कुण्ड है, जिसमें महिलाएँ स्नान करती हैं। यह माना जाता है कि कैलास से गौरी पार्वती यहाँ प्रतिदिन स्नान करने आती थीं।

यूँ तो भरमौर में जगह-जगह शिव के स्थान हैं किन्तु दूसरे मंदिरों में भी त्रिशूल के चिह्न लगे नजर आते हैं। ये त्रिशूल भरमौर से पांगी होते हुए लाहुल तक आते हैं।

चम्बा या पांगी के अंतिम छोर और लाहुल के प्रारम्भ में, जिसे चम्बा लाहुल कहा जाता है, त्रिलोकीनाथ का प्रसिद्ध मंदिर है। त्रिलोकीनाथ एक धाम माना जाता है और शिव के इस स्थान को चारों धामों में से एक माना जाता है।

इस ओर शिव का यह मंदिर एकमात्र शिखर शैली का मंदिर है। मंदिर की अद्वितीय शिव प्रतिमा जिसे अवलोकीतेश्वर भी माना जाता है, हिन्दू और बौद्ध दोनों द्वारा समान रूप से पूजी जाती है।

मणिमहेश के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान जो हिमाचल में शैव परम्परा को पुष्ट करता है, मणिकर्ण है। मणिमहेश और मणिकर्ण, ये दो यात्राएँ थीं जो बहुत कष्टकर और दुर्गम मानी जाती थीं। मणिमहेश अभी भी दुर्गम है, मणिकर्ण बस मार्ग से जुड़ने के कारण सुगम हुआ है।

कुल्लू घाटी में पर्वत पुत्री पार्वती नदी होकर बहती है। भुंतर के पास पार्वती व्यास में मिलती है किन्तु पार्वती के पानी को देख लगता है, पार्वती व्यास में नहीं पार्वती में व्यास मिली है। इस पार्वती के किनारे मणिकर्ण में पुरातन शिव मंदिर हैं। मंदिर के चारों ओर उफनते पानी के चश्मे हैं, जिनमें चावल पकाया जा सकता है।

मणिकर्ण कुल्लू से नौ किलोमीटर पीछे भुंतर से पैंतीस किलोमीटर है। मणि-महेश के विपरीत यहाँ शिव-पार्वती सम्बन्धी एक लोककथा प्रचलित है। कैलास के शंकर घूमते हुए किन्नर कैलास से इस ओर आ निकले। स्थान रमणीक होने के कारण यहाँ ठहर गए। यहाँ देवी पार्वती की मणि खो गई। बहुत खोजने पर भी मणि न मिली तो पार्वती ने शंकर से मणि खोजने का अनुरोध किया। शंकर ने कुपित होकर तीसरा नेत्र खोला। इसकी मार पाताल तक गई और मणियाँ-ही-मणियाँ निकलने लगीं। फलतः इस स्थान का नाम मणिकर्ण पड़ा।

उफनते हुए पानी से कुछ वर्ष पहले तक पत्थर की गोल-गोल मणियाँ निकलती रही हैं। पुजारियों के पास ऐसी मणियाँ अब भी रखी हुई हैं।

मणिकर्ण के आगे खीर गंगा है जहाँ से किन्नर कैलास को रास्ता जाता है।

किन्नर कैलास शिव का तीसरा स्थान है जो मणिमहेश की भाँति दुर्गम है। किन्नौर के मुख्यालय काल्पा के सामने कैलास शिखर हैं। ये शिखर सूर्य के निकलने के साथ-साथ अपना रंग बदलते हैं। किन्नौर में कैलास परिक्रमा नाम से एक यात्रा की जाती है।

हिमाचल में लगभग सभी यात्राएँ शिव को समर्पित हैं। मणिमहेश, मणिकर्ण, कैलास परिक्रमा सभी यात्राएँ अंततः शिव प्राप्ति के उद्देश्य से की जाती हैं जिससे यहाँ शैव परम्परा का प्राधान्य पुष्ट होता है।

किरात केशधारी शिव आख्यान कुल्लू की धरती में हुआ माना जाता है। कुल्लू

में व्यास के बाएँ किनारे जगतसुख के पास शुरू में शबरी का मंदिर है। मंदिर के ऊपर पहाड़ में हामटा और इन्द्रकील पर्वत हैं। इन्द्रकील कुल्लू और स्पिति के बीच का पर्वत है जिसे 'देउ टिब्बा' भी कहा जाता है। हामटा के पास अर्जुन गुफा है।

महाभारत-प्रसंग है कि अर्जुन पाशुपतास्त्र प्राप्त करने के उद्देश्य से हिमालय में आए। जब अर्जुन इन्द्रकील पर्वत के पास पहुँचे तो उन्हें एक आवाज सुनाई दी—"खड़े हो जाओ।" उन्होंने देखा एक तपस्वी वृक्ष के नीचे बैठा है। तपस्वी ने कहा, "तुम धनुष-बाण, कवच और तलवार धारण किए कौन हो, यहाँ आने का प्रयोजन क्या है? यहाँ शस्त्रों का काम नहीं है।" इसके बाद अर्जुन का किरातवेशधारी शंकर से युद्ध होता है और अर्जुन शिव से पाशुपातास्त्र प्राप्त करते हैं।

यूँ तो मण्डी का रियासती राज्य माधोराव को समर्पित है किन्तु मुख्य उत्सव यहाँ शिवरात्रि का मनाया जाता है। मण्डी के राजा अजबर सेन ने 1527 में व्यास के दाएँ किनारे राजधानी बनवाई और नगर के बीचोबीच भूतनाथ मंदिर बनवाया। भूतनाथ के साथ-साथ मण्डी में पंचवक्तेश्वर, अर्धनारीश्वर के मंदिर यहाँ शैव परम्परा को सिद्ध करते हैं। राजा सूरजसेन के समय शिवरात्रि उत्सव माधोराव से जुड़ा। मण्डी में शिवरात्रि का पर्व आज भी एक सप्ताह या दस दिन तक चलता है। मेले में आसपास के कई देवता भाग लेते हैं।

शिव परम्परा को समर्पित एक महत्त्वपूर्ण मंदिर बैजनाथ में है। यहाँ भी शिवरात्रि का पर्व मनाया जाता है। बैजनाथ को वैद्यनाथ धाम कहा जाता है। धौलाधार के प्रांगण में बिनवा के किनारे बैजनाथ मंदिर है, जो उत्तर भारत के शिव मंदिरों में वास्तुकला की दृष्टि से अद्वितीय है। किंवदन्ति है, इसी स्थान पर लंकापति रावण ने तपस्या की और अपने दस शीश शिव को समर्पित किए।

यद्यपि मंदिर के निर्माण काल के बारे में पुरातत्त्ववेत्ताओं में मतभेद है तथापि इसे नौवीं शताब्दी का माना जाता है। मंदिर का निर्माण लक्ष्मणचन्द्र ने किया जो त्रिगर्त नरेश जयचन्द के अधीन था।

ऐसा दूसरा महत्त्वपूर्ण शिव मंदिर बजौरा का शिव मंदिर है जिसे आठवीं शताब्दी का माना जाता है। यद्यपि बजौरा में अब शिवरात्रि पर्व नहीं मनाया जाता, न ही कोई ऐसा विशेष मेला लगता है जो शिव को समर्पित हो। बजौरा के समीप 1980 में दरिया में एक छः फुट ऊँचा और छः फुट परिधि का शिवलिंग मिला था जिसे सड़क के किनारे स्थापित किया गया है।

बजौरा के अतिरिक्त कुल्लू में, जो मण्डी की भाँति रघुनाथजी को समर्पित हुआ, बिजली महादेव, जगतसुख, नग्गर, दलाश, निरमण्ड में शिव मंदिर हैं। जगतसुख का मिनियेचर शिव मंदिर सातवीं शताब्दी का माना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मण्डी व कुल्लू दोनों ही स्थानों में शैव परम्परा पुरानी है। वैष्णव परम्परा यहाँ बाद में आई।

प्रदेश के निचले क्षेत्रों में श्री ज्वालाजी, ब्रजेश्वरी, चिन्तपूर्णी श्री वैष्णोदेवी जैसे शक्तिपीठ तो हैं ही, महाकाल, कालेश्वर जैसे प्रसिद्ध शिव मंदिर शैव परम्परा का स्मरण दिलाते हैं।

हिमालय में हिमाचल शिव का वास माना जाता है। यहाँ पर्वत शिखरों पर शिव पार्वती सहित वास करते हैं। हर पर्वत शिखर शिवलिंग है; दरिया का हर गोल पत्थर शिवलिंग की भाँति पूजित है। अनेक छोटे-छोटे मंदिरों के अतिरिक्त ममलेश्वर महादेव मण्डी, नंदीकेश्वर, चामुण्डा, महादेव सुंदरनगर, महाकाल बैजनाथ, महेश्वर सुंगरा आदि महत्त्वपूर्ण मंदिर हैं जो शैव परम्परा को पुष्ट करते हैं।

महाविरोचन

मैत्रेय बुद्ध

ताबो में गच प्रतिमाएं

ताबो में गच प्रतिमाएं

छोरतन

सहस्त्र बुद्ध
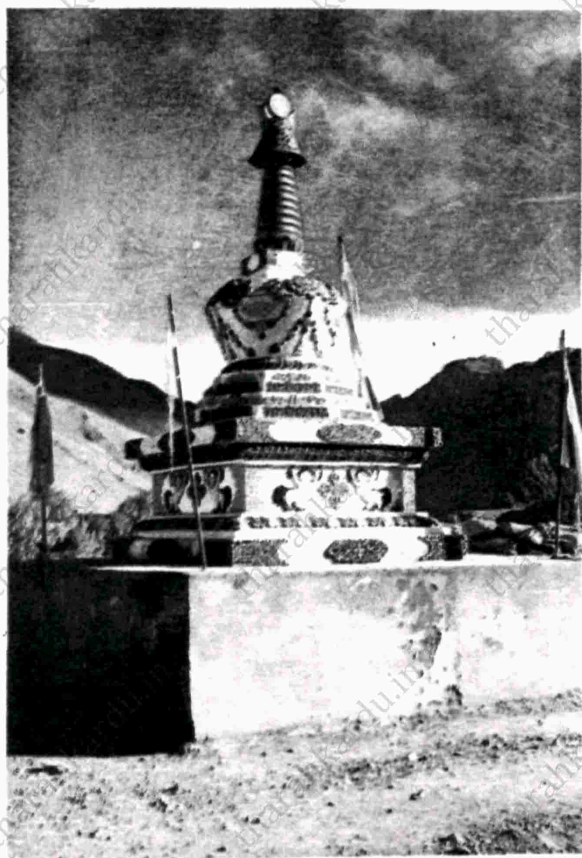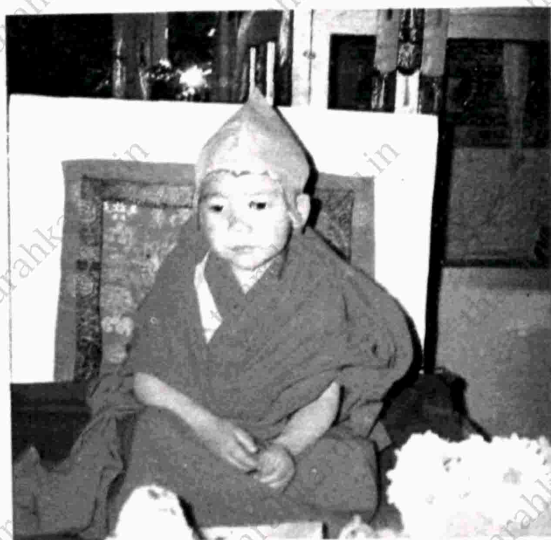
ड्री-गुंग काग्युद (रिवालसर) में
6 वर्षीय लामा गुरु

सहस्र बुद्ध
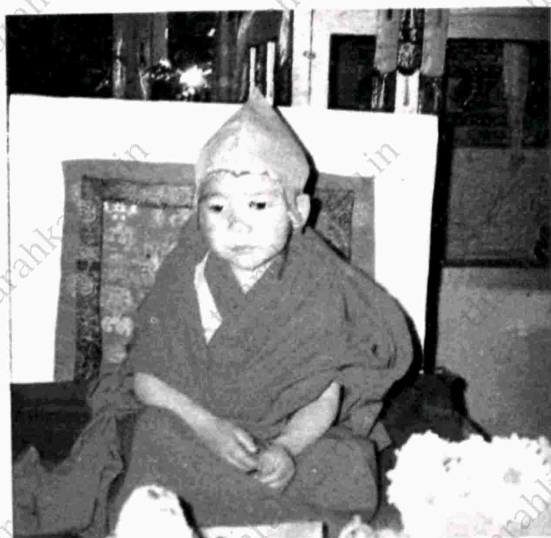
ड्री-गुंग काग्युद (रिवालसर) में
6 वर्षीय लामा गुरु

क्या वैद्यनाथ धाम यही है?

मंदिर आस्था के केन्द्र होने के साथ-साथ अतीत के उत्कृष्ट शिल्प के भी प्रतीक हैं। कौन होंगे वे शिल्पी जिन्होंने पत्थरों में प्राण फूँके। एक-एक पत्थर तराशा। भव्य मंदिर व सुंदर मूर्तियों का निर्माण किया। वे तो मर-मिट गए, उनकी हथौड़ी व छेनियों की झंकार अब भी गूँजती है—गुम्बद में, गर्भगृह में, मण्डप में।

मंदिर मात्र पुरातात्त्विक स्मारक न होकर हमारे इतिहास, हमारी संस्कृति के आधार हैं। मंदिर निर्माण तथा इन्हें धराशायी करना, दोनों बातें इतिहास में घटती रही हैं। जिस धरती पर शिव मंदिर बैजनाथ का निर्माण हुआ, उससे मात्र 30 किलोमीटर की दूरी पर नगरकोट मंदिर भी था जिसे गजनी द्वारा लूटा गया। शिव मंदिर तक कोई आक्रमणकारी नहीं पहुँचा। फलतः आज भी यह मंदिर अपना पुरातन गौरव लिये खड़ा है। नगरकोट (काँगड़ा) का भवनांवाली का पुरातन मंदिर तो ध्वस्त हो चुका है। इसके अवशेष वर्तमान मंदिर में पड़े हुए हैं। शिव मंदिर 1905 के भूकम्प में भी खड़ा रहा।

हिमाच्छादित धौलाधार के आधार में नीली बिनवा नदी के किनारे समुद्र-तल से लगभग एक हजार मीटर ऊँचे स्थान पर स्थित है अद्वितीय शिव मंदिर जो उत्तर भारत में वास्तुकला का अद्‌भुत नमूना है। प्रतिहार शैली का यह मंदिर अपनी बेजोड़ कलाकृतियों के लिए प्रसिद्ध है।

पुराने समय में बैजनाथ या वैद्यनाथ केवल मंदिर का नाम था। ग्राम का नाम कीर ग्राम था। अब ग्राम और मंदिर, दोनों का नाम बैजनाथ है। कीर का अर्थ है तोता। इस क्षेत्र में तोते बहुतायत में हैं अतः सम्भवतः इसी कारण इसे कीर ग्राम नाम दिया गया होगा। एक मत के अनुसार यहाँ किरात शासन करते थे जिन्हें बाद में आर्यों ने भगा दिया। किरात शासकों ने यहाँ किला भी बना रखा था। इस कारण भी इसे कीर ग्राम कहा जाता था।

किंवदंति है कि यहाँ लंकापति रावण ने तपस्या की और अपने दस शीश शिव को समर्पित किए। महाभारत के समय जब पाण्डवों को लाक्षागृह में जलाने का षड्‌यंत्र रचा गया तो वे सुरंग के रास्ते यहाँ आ निकले और मंदिर निर्माण किया। इस स्थान को वास्तविक वैद्यनाथ धाम भी कहा जाता है।

भव्य मंदिर के चारों ओर किले की भाँति दीवार बनी हुई है। मुख्य द्वार पश्चिम

की ओर मुँह किए है। भीतर जाने के लिए प्रवेश द्वार वर्तमान बाजार की ओर है। एक मार्ग सीढ़ियों द्वारा पीछे निकलता है जहाँ एक तालाब है जो अब सूख गया है। मंदिर की स्थिति व दीवारों से प्रतीत होता है कि यह परिसर आगे तक फैला हुआ था। एक ओर बाजार तक तो दूसरी ओर विश्रामगृह तक। विश्रामगृह की ओर नीचे जाने के लिए सीढ़ियाँ हैं। नीचे खीर गंगा बहती है जहाँ हरिद्वार न पहुँच सकने वाले लोग अस्थियाँ प्रवाहित करते हैं। अब तालाब के आगे आबादी बस गई है। विश्रामगृह, कार्यालय आदि बनाए गए हैं। मंदिर तथा विश्रामगृह, दोनों ओर ही धौलाधार की पृष्ठभूमि में अद्वितीय दृश्य है।

मंदिर का बाहरी आकार शिव मंदिर बजौरा (कुल्लू) से भी आकर्षक है। कई मूर्तियाँ कलात्मकता की कोटि से भी मेल खाती हैं। बजौरा का शिव मंदिर अधिकांश पुरातत्त्ववेत्ताओं ने आठवीं शताब्दी का माना है। बैजनाथ शिव मंदिर के निर्माण काल के बारे में इतिहासकार तथा पुरातत्त्ववेत्ताओं में मतभेद है।

इतिहासकार कहते हैं, बारहवीं शताब्दी में यह स्थान राजा का गढ़ था और मंदिर के साथ वर्तमान विश्रामगृह के स्थान पर एक दुर्ग था। यह स्थान वास्तव में एक दुर्ग के लिए उपयुक्त है, स्थान और स्थिति दोनों ही दृष्टिकोणों से। इस ऊँची पहाड़ी से जहाँ एक ओर नीचे काँगड़ा घाटी फैली है दूर-दूर तक, तो ऊपर मण्डी का जोगेन्द्र तथा भंगाहल का पहाड़ी क्षेत्र है। इस सन्धिस्थल में यह स्थान निश्चित रूप से सामरिक महत्त्व का रहा होगा। आज भी मंदिर की दीवार तथा पूरा क्षेत्र किले का-सा आभास देता है।

मंदिर में उपलब्ध शिलालेखों के अनुसार मंदिर का निर्माण यहाँ के स्थानीय व्यापारी बन्धुओं द्वारा किया गया (आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट : खण्ड 5)। तत्कालीन राजा का नाम लक्ष्मणचन्द्र था। राजा लक्ष्मणचन्द्र के पूर्वजों की आठ पीढ़ियों ने यहाँ शासन किया जो जालन्धर या त्रिगर्त के अधीन थे। शिलालेख में त्रिगर्त के राजा का नाम जयचन्द दिया है जिसे 'जालन्धर का सर्वोत्तम शासक' कहा है। कनिंघम के अनुसार त्रिगर्त नरेश जयचन्द, जयपालचन्द ही था जिसने नौवीं शताब्दी में राज्य किया। किन्तु हचिसन व वोगल ने 'हिस्ट्री ऑफ पंजाब हिल्ज स्टेट्स' में इसे जयसिंह चन्द मना है जो पृथ्वीसिंह (1330) से पूर्व तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ (1200-20) में हुआ। अतः शिलालेखों का समय 1204 के आसपास माना गया। पृथ्वीसिंह के पूर्व के इतिहास पर वस्तुतः अधिक प्रकाश नहीं पड़ता।

एक पुरातात्त्विक स्मारक के रूप में इस मंदिर का उल्लेख फरगुसन, सर ऑरेल स्टेन, फ़्लीट, कनिंघम आदि विद्वानों ने किया है। इस समय यह मंदिर केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग के अधीन है।

शक्तिपीठों में श्रद्धा

मंदिर हमारी धार्मिक आस्था के प्रतीक हैं। जन-जन की भावनाओं से जुड़े होने के कारण ये धार्मिक स्थल श्रद्धालुओं के आकर्षण का केन्द्र बने। यूँ तो रोज ही श्रद्धालु अपने आराध्य के दर्शनों के लिए आते हैं किन्तु समय-समय पर बड़ी तादाद में यहाँ धर्म-यात्रियों का समागम होता है। इस संयोग के लिए विशिष्ट तिथियाँ तय हैं। उत्तर भारत में शक्तिपीठों में नवरात्रों का समागम अभूतपूर्व होता है।

मंदिर तथा धार्मिक स्थल सदियों से जनमानस की चेतना से जुड़े हैं। इतिहास जानता है, इन मंदिरों व पूजागृहों में राजसी कोष स्वर्ण या रत्न मुद्राओं के रूप में सुरक्षित रहता है। साथ ही रची-बसी रहती है जन-जन की आस्था। धार्मिक विश्वास के साथ देवग्रह स्थापत्य तथा पुरातत्त्व के आगार हैं। जन साधारण की भावनाओं से जुड़े होने के कारण ये सार्वजनिक पूजास्थल हुए।

शिव और शक्ति पर्वत संस्कृति के मूल देव हैं। शिव जहाँ समय के अनंतर पर्वत-कंदराओं व हिम-शिखरों की ओर बढ़े, वहाँ शक्ति मैदानों की ओर अग्रसर हुई। आदि शक्ति का मूलाधार ऊँचाइयों पर होते हुए भी प्रभाव दूर-दूर तक समतल मैदानों में फैला।

उत्तर भारत के शक्तिपीठ प्रसिद्ध हैं। सुदूर दक्षिण तक इनका प्रभाव है। सदियों पहले से श्रद्धालु माता के दर्शनों के लिए हजारों की संख्या में आते रहे हैं। लोग दूर-दूर से पदयात्रा कर आते थे। आज जब यातायात के साधन सम्पन्न हुए, दूरियाँ सिमटीं, श्रद्धालुओं की संख्या और बढ़ी।

हिमालय के ये शक्तिपीठ पर्वत पुत्री पार्वती के अंगों से बने हैं। पूरा क्षेत्र पार्वती का शरीर है, जो क्षत-विक्षत होकर विभिन्न स्थानों पर गिरा और अंततः एक-एक अंग अलग-अलग पूर्णता को प्राप्त हुआ। दक्ष प्रजापति के यज्ञ में देवी पार्वती के आत्मदाह के बाद उन्मुक्त शिव उनका शव उठाए पृथ्वी पर विचरने लगे। सती के नयन 'नैना देवी' में, हृदय चिंतपूर्णी में और वक्ष नगरकोट में गिरा। जिह्वा, 'ज्वालामुखी' में समाई। इस तरह इन शक्तिपीठों का पौराणिक मान्यताओं के अनुसार प्रादुर्भाव हुआ।

इन मंदिरों में पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा देश के अन्य भागों से हजारों की संख्या में श्रद्धालु आते हैं। नवरात्रों में यह संख्या लाखों तक पहुँच जाती है।

मंदिरों में हरिद्वार तथा अन्य धार्मिक स्थलों की भाँति यजमानों के अपने-अपने पुरोहित या पण्डे हैं। पुरोहित परिवारों द्वारा क्षेत्र बाँटे हुए हैं। एक परिवार का एक क्षेत्र है तो दूसरे का दूसरा। श्रद्धालु माता के दर्शनों के लिए अपने-अपने पुरोहितों से सम्पर्क रखते हैं। परम्परागत श्रद्धालुओं के अतिरिक्त रोजमर्रा के धर्मयात्री सीधे जाकर मंदिर में दर्शन करते हैं।

'नंगी-नंगी पैरी देवा अकबर आया'

लोकास्था है कि मुगल सम्राट् अकबर ने ज्वालामाई के चरणों में सोने का छत्र चढ़ाया जो देवी ने अकबर का घमण्ड चूर करने के लिए लोहे का बना दिया। यह छत्र आज भी मंदिर में विद्यमान है, जो लोहे या ऐसी ही किसी धातु का है। लोकमानस में व्याप्त इस विश्वास की इतिहास द्वारा पुष्टि नहीं होती।

ज्वालामुखी को श्रद्धालु प्रत्यक्ष देवी मानते हैं क्योंकि मंदिर में मूर्ति न होकर ज्वालाएँ हैं। इन ज्वालाओं को ही प्रसाद चढ़ाया जाता है। 'लाटांवाली' आस्था उस समय और बढ़ गई जब मंदिर के ऊपर तेल होने की आशंका में कई वर्षों तक बर्मा लगा रहा। इस बात की चर्चा लोकगीतों के माध्यम से जन-जन में फैली।

माता भवनांवाली

बज्रेश्वरी माता का मंदिर काँगड़ा में प्रतिष्ठित है। काँगड़ा का पुरातन नाम नगरकोट है जो महाभारत के त्रिगर्त की याद दिलाता है। काँगड़ा पुरातात्त्विक दृष्टि से यदि पौराणिक नहीं है तो ऐतिहासिक तो है ही। यहीं से महमूद गजनवी ने खजाना घोड़ों-खच्चरों पर लादकर लूटा था। कहा जाता है कि 'भवनांवाली' की सम्पत्ति भी गजनवी द्वारा लूटी गई और मंदिर को क्षति पहुँचाई। एक शिलालेख के अनुसार मंदिर का निर्माण पंद्रहवीं शताब्दी में हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि मंदिर का निर्माण, पुनर्निर्माण समय-समय पर होता रहा है। मंदिर के भव्य प्रवेश द्वार पर चाँदी मढ़ी हुई है। मंदिर के बाहर कुछ मूर्तियाँ पड़ी हैं, जो पुराने मंदिर की याद दिलाती हैं।

प्रादुर्भाव श्री नैना देवी का

श्री नैना देवी का मंदिर एक सुंदर पहाड़ी की चोटी पर स्थित है जहाँ तीन ओर पहाड़ियों से घिरा गोविंद सागर है। सामने श्री आनन्दपुर साहिब तथा गंगुवाल है। एक ओर पहाड़ियों में भरी झील है तो दूसरी ओर दूर-दूर तक फैला मैदान। ऊँचाई पर स्थित माता का दरबार आवाहन देता है धर्मयात्रियों को जहाँ हिन्दू-सिख समान रूप से माथा टेकने आते हैं।

कहा जाता है कि श्री नैना देवी मंदिर कलहूर राज्य के संस्थापक राजा बीरचन्द ने बनवाया। सात धारों में एक में राजा ने मंदिर का निर्माण करवाया। एक अन्य मत के

अनुसार राजा बीरचन्द के ही समय एक गूजर ने एक गाय को पत्थर के ऊपर दूध गिराते देखा। पत्थर, जो पीपल के सूखे पत्तों से ढका था। गूजर को देवी ने स्वप्न में आदेश दिया और उसने वहाँ मंदिर बनवाया। उसका नाम 'नैणा' था अतः मंदिर का नाम नैणा देवी पड़ा। अब भी इस क्षेत्र में गूजर रहते हैं जो अपने को नैणा का वंशज बताते हैं।

इन विश्वासों के साथ देवी शक्तिरूप में भी पूजित है। महिषासुरमर्दिनी आदि शक्तिरूपा प्रतिष्ठित यह देवी शिवप्रिया पार्वती के रूप में भी मानी जाती है। दक्ष प्रजापति के यज्ञ विध्वंस के बाद जब उन्मत्त शिव पार्वती का शव उठाए पहाड़ों में विचर रहे थे, उस समय विष्णु के चक्र से कटकर सती की आँखें यहाँ गिरी थीं और वह शक्तिपीठ नैणा देवी कहलाया।

क्या कहते हैं पुराने दस्तावेज

कलहूर राज्य की बंदोबस्त रिपोर्ट में उल्लेख है :

"यह सबसे बड़ा और मशहूर मंदिर है जो धार नैणा देवी की सबसे बुलंद चोटी पर 3,565 फुट की बुलन्दी पर बनाया गया। इस मंदिर को राजा बीरचन्द साहिब ने आठवीं सदी विक्रमी में तामीर किया। इस जगह हर साल सावन अष्टमी (माह अगस्त) को एक बड़ा मेला होता है जिसमें मुल्क मैदान के चालीस-पचास हजार यात्री इकट्ठे होते हैं और दो नवरात्रों के मौके पर भी एक मामूली मेला होता है। सिखों के दसवें गुरु गुरु गोविन्दसिंह ने इस मंदिर में सम्वत् 1756 में तपस्या की। तवारीखी वाकयात में यह जगह बड़ी मशहूर है।"

चैत्र तथा आश्विन के नवरात्रों के अतिरिक्त श्रावण अष्टमी के लगने वाले मेलों में आज भी विशेष भीड़ देखने को मिलती है। अब श्रद्धालुओं की संख्या लाखों पर पहुँच गई है। श्रावण में शुक्ल प्रतिपक्ष को लोग यात्रा के लिए निकल पड़ते हैं। अधिक भीड़ होने पर लोग दिन-रात में ही दर्शन कर वापस लौट जाते हैं। पंजाब, दिल्ली, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, हरियाणा से श्रद्धालु देवी के दर्शनार्थ आते हैं। स्थानीय या प्रदेश के श्रद्धालु तो होते ही हैं।

माँ चिन्तपूर्णी

माता चिन्तपूर्णी दस महाशक्तियों में से एक भगवती छिन्नमस्तिका मानी जाती हैं। पौराणिक आख्यान है कि एक बार माँ भवानी अपनी दो सहचरियों सहित मंदाकिनी नदी में स्नान करने गईं। वहाँ सहचरियों को बहुत भूख लगी। उनके द्वारा अधिक भूख जताने पर माँ भवानी ने खड़ग से अपना सिर काट डाला। कटे सिर से निकली लहू की दो धाराएँ दोनों सहचरियों के मुख में गिरीं। मध्य धारा भवानी ने बाएँ हाथ में पकड़ी और स्वयं पान किया। तभी से माँ भवानी छिन्नमस्तिका कहलाई और विभिन्न स्थानों में स्थापित हुई।

एक लोकास्था के अनुसार माईदास नामक एक व्यक्ति शक्ति-भक्त था जिसे ससुराल जाते समय चिन्तपूर्णी के पास घने जंगल में एक विशाल वट के नीचे माँ ने एक दिव्य बाला के रूप में दर्शन दिए। दिव्य बाला ने माईदास को अपनी सेवा के आदेश दिए। ससुराल से वापसी पर भी उसी वट-वृक्ष के नीचे ध्यान लगाने पर माँ ने दर्शन दिए। माईदास ने देवी द्वारा बताए स्थान से पत्थर हटाया तो वहाँ जल की धारा फूट निकली और देवी पिण्डी स्वरूप प्रतिष्ठित हुई। माईदास वहीं रहने लगा। देवी के पुजारी आज भी अपने को माईदास के वंशज मानते हैं।

वर्तमान मंदिर

माता चिन्तपूर्णी का वर्तमान मन्दिर ऊना के मुख्यालय से 67 किलोमीटर दूर है। राजमार्ग पर भरवाई से मन्दिर तीन किलोमीटर ऊपर है। माँ की पिण्डी फूलों से लदी रहती है। पिण्डी के ऊपर छत्र है और गुम्बदाकार मन्दिर। गुम्बद के ऊपर स्वर्णमण्डित चादर जालन्धर निवासी कुछ श्रद्धालुओं द्वारा 1988 में ही चढ़ाई गई। अग्रभाग में प्रवेश-द्वार भी गुम्बदाकार है जहाँ हनुमान और भैरव की मूर्तियाँ हैं। वट-वृक्ष के नीचे हनुमान, भैरव, गणपति की पाषाण मूर्तियाँ हैं।

मन्दिर प्रातः साढ़े पाँच बजे खुलता है और रात्रि को नौ बजे बन्द होता है। प्रातः-सायं विधिवत् पूजा-अर्चना की जाती है। माता के स्थान के लिए उसी कुण्ड से पानी निकाला जाता है जहाँ पहले कभी धारा फूटी थी।

चिन्तपूर्णी मन्दिर में चैत्र तथा आश्विन नवरात्रों में मेले लगते हैं। इन मेलों में पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश तथा प्रदेश के भीतर से लाखों श्रद्धालु दर्शनार्थ आते हैं।

विपाशा के उद्गम से

मौन मनस्वी हिमालय। चिंतकों, विचारकों का आश्रयस्थल। महान ऋषियों, योगियों ने मैदानों की नगरीय गहमागहमी से भाग जिसकी शीतल कंदराओं में परमार्थ चिंतन किया, वह हिमालय। साधकों, तपस्वियों, मनस्वियों की स्थली जिसने ज्ञान-विज्ञान, अध्यात्म की धाराएँ प्रवाहित की हैं, जो मैदानों तक पहुँचते-पहुँचते दरिया हो गई। ऐसी ही एक धारा फूटी है 3,976 मीटर की ऊँचाई पर रोहतांग दर्रे से। कुल्लू और लाहुल घाटी के बीच का सेतु है रोहतांग दर्रा जो मनाली से लगभग 51 कि.मी. की दूरी पर है।

रोहतांग, जहाँ पहुँचने पर हम अपने को सबसे ऊँचा पाते हैं, वास्तव में आसपास की चोटियों से अपेक्षाकृत नीचा है। तभी यह गम्य है। आसपास के पर्वतों से नीचा, फिर भी हमारे लिए सबसे ऊँचा। दोनों ओर ऊँचाई और बीच में छोटा-सा मैदान, जैसे पर्वतों ने स्वयं ही हटकर किसी ऋषि को रास्ता दे दिया। मैदान के अंतिम छोर से दिखते हैं लाहुल-स्पिति के बर्फीले पहाड़। आगे सीधी उतराई है जहाँ नीचे चन्द्रा नदी केलांग की ओर बह रही है। रोहतांग पर आकर लगता है कि यहाँ प्राणी मात्र का संसार शेष हो गया है। परन्तु यह अंत नहीं है। इससे परे भी नदियों का देश है। चन्द्रा और भागा का देश, चन्द्रभागा का देश। दूसरी ओर मानसून नहीं पहुँचता, अतः रोहतांग से इस ओर नीचाइयों पर ऊँचे-ऊँचे पेड़ हैं, फल-फूल हैं। दूसरी ओर कोई पेड़-पौधा नहीं। बस नंगे पहाड़ हैं जो सिर्फ बर्फ पहनते हैं। दर्रे पर कुल्लू की ओर ठीक उस जगह, जहाँ से उतराई आरम्भ होती है, व्यास कुण्ड है। यहीं से व्यास की एक नन्ही धारा प्रस्फुटित होती है जो आगे उछलती-कूदती हुई वयस्क होती जाती है।

व्यास का उद्गम! एक नन्ही धारा। जैसे एक कोंपल फूटी। एक कली विकसी। एक अबोध शिशु ने आँखें बन्द किए ही पहली किलकारी मारी।

यहाँ लगता है कि व्यास—ऋषि और नदी, एक हो गए हैं। व्यास भी मैदानों में जाकर दरिया हो गए थे। व्यास विस्तार का नाम है। ऋषि और नदी, दोनों मूल से निकलने पर बूँद होते हैं जो फैलते-फैलते सागर हो जाते हैं। रोहतांग के दूसरी ओर सोलंग नाले के ऊपर व्यास ऋषि का आश्रम है जिसे 'व्यास रिखी' कहा जाता है। सोलंग नाला, जहाँ सब स्कीइंग आदि बर्फ के खेल होते हैं, व्यास से रोहतांग के आधार पर पलचांग में आकर मिलता है। कुछ लोग व्यास रिखी से आने वाले सोलंग नाले को

वास्तविक व्यास मानते हैं। परन्तु अधिक महत्ता रोहतांग के व्यास कुण्ड की ही है। यह भ्रान्ति व्यास ऋषि व नदी, दोनों के दरियाई व्यक्तित्व के कारण ही है। व्यास कहाँ से निकली है, यह बुजुर्गों ने खोजा है, पता नहीं कब! जहाँ वे भटकन के बाद सुगमता से पहुँच पाए वहीं। फिर भी अब तक कोई अन्य स्रोत नहीं खोज पाया। जैसे रोहतांग दर्रा खोजा है। कोई और सुगम मार्ग नहीं मिल पाया अतः आज तक यह स्वीकार्य है कि रोहतांग ही सर्वाधिक सुगम प्रदेश है लाहुल घाटी का।

रोहतांग पर ही एक ओर है शैला-सौर! शैला-सौर अर्थात् शीतल सरोवर। इस सरोवर में श्रद्धालु बीस भादों को स्नान करते हैं।

व्यास की धारा के साथ नीचे उतरते हुए आता है मढ़ी। यहाँ अब लाहुल-घाटी की ओर जाने वाली बसें भोजनादि के लिए रुकती हैं। बसों के बन्द हो जाने पर पैदल यात्री यहीं आकर रात बिताते हैं। केलांग की ओर खोखसर से पैदल चले यात्री यहीं आकर रुकते हैं। इस ओर मनाली के बाद मढ़ी ही पड़ाव आता है। कहीं बीच में रुक जाएँ तो वहीं बर्फ हो जाते हैं। खोखसर से चढ़ने वाले लोग मढ़ी तक रुक नहीं सकते। चलते ही रहना पड़ता है। रुकने का दूसरा नाम मौत है। दर्रे को निश्चित समय से पूर्व ही लाँघा जा सकता है, नहीं तो तूफानी हवाएँ जानलेवा हो जाती हैं। लगभग जून से नवम्बर तक बस-सेवा के बाद अप्रैल से जून तक तथा अनुकूल मौसम के अनुसार दिसम्बर-जनवरी तक पैदल यात्री चलते रहते हैं। ये अधिकतर लाहुलवासी साहसी लोग होते हैं या कर्मचारी व मजदूर।

हिडिम्ब का चीत्कार

मढ़ी के सामने, आसपास पर्वतों पर हर ऋतु में बर्फ देखी जा सकती है। रोहतांग पर अगस्त तक बर्फ के ढेर जमे रहते हैं। गर्मियों में चम्बा-लाहुल की ओर से आने वाले गद्दी अपनी भेड़-बकरियाँ चराते चलते रहते हैं। सितम्बर में मढ़ी के नीचे देव-दारुओं के बीच की धरती रंग-बिरंगे फूलों से सज जाती है। अक्तूबर तक आरंभ होने वाली पतझड़ पर रंग बदलते पत्ते और ही दृश्य उत्पन्न कर देते हैं।

मढ़ी के सामने ही है एक भयंकर नाला, जिसमें गम्भीर ध्वनि से बर्फानी पानी गिरता है। इसे 'सागू-छो' या सागू नाला कहते हैं। सागू एक राक्षस का नाम है। यह भी जनास्था है कि भीम ने हिडिम्ब को मनाली से उठाकर यहाँ ला पटका जहाँ नाले में उसकी मृत्यु हो गई। आज भी राक्षस की अन्तिम चीत्कार गहरे गहरे नाले से सुनाई पड़ती है। लोकास्था में घटोत्कच का एक भाई तांदी भी था। तांदी केलांग से पीछे चन्द्रा व भागा के संगम-स्थल का नाम है।

भीम-हिडिम्बा की विहारस्थली

हिडिम्बा मारा गया। भीम ने हिडिम्बा को अंगीकार किया। महाभारत का वह

महत्त्वपूर्ण प्रसंग ! राजपुरुष का नरभक्षी राक्षस जाति से पाणिग्रहण ! प्रेमी भीम को लेकर हिडिम्बा सुरम्य पर्वतों, मनोहर सरोवरों, गुफाओं में विहार करती है। दोनों के प्रेम का अंकुर घटोत्कच के रूप में फूटता है। घटोत्कच अपने मामा हिडिम्ब के विपरीत सात्विक वृत्ति का है। वह द्रौपदी सहित पाण्डवों व ब्राह्मणों को पीठ पर उठा बदरिकाश्रम ले जाते समय कैलास की ओर ले उड़ता है। रथयूथपतियों का अधिपति वीर घटोत्कच, जिसके पास रीछ के चमड़े से मढ़ा विशाल रथ था, पाण्डवों की ओर से लड़ता हुआ महारथी कर्ण के प्राण संकट में डाल देता है। कुल्लू के लोकमानस में वीर घटोत्कच का नाम बड़े गर्व से लिया जाता है।

मनाली में ढूँगरी नामक स्थान पर ही हिडिम्बा का मंदिर है। महाभारत के समय की राक्षसी जिसे पाण्डवों ने मनुष्यों में स्थान दिया, यहाँ देवी के रूप में पूजी जाती है पैगोडा-शैली के मन्दिर के दरवाजे पर की गई नक्काशी काष्ठ-कला का बेहतर नमूना है। द्वार पर दुर्गा, शिव, विष्णु, साधक आदि के चित्र खुदे हैं। टॉकरी में एक लेख है। मन्दिर सोलहवीं शताब्दी के मध्य राजा बहादुर सिंह (1546-1569) ने बनवाया। कुल्लू के पालवंशीय राजा हिडिम्बा को अपनी दादी कहते हैं क्योंकि देवी के प्रसाद से ही उन्हें कुल्लू का राज्य मिला है।

मन्दिर के भीतर एक बड़ा पत्थर है; इसके पास ही एक छोटी चट्टान के नीचे देवी के चरण हैं। पुजारी का विश्वास है कि देवी इसी चट्टान के नीचे रहती थी। यद्यपि बड़े पत्थर के पास एक मूर्ति भी रखी है किन्तु पूजने वाले पाँव ही पूजते हैं। पाँव ही तो पूजनीय होते हैं। पूजने हैं तो पाँव ही पूजिए।

आसपास घना जंगल है। यद्यपि भीम के हिडिम्बा से साक्षात्कार का स्थान महाभारत के वर्णन के अनुसार मनाली प्रतीत नहीं होता, तथापि यह स्पष्ट है कि भीम और हिडिम्बा विहार के लिए ऐसे ही मनोहारी स्थानों में आए होंगे। बंजार का एक देवता हिडिम्बा का पुत्र माना जाता है।

मनु का नौकायन : ऊँचाई की खोज

ढूँगरी के ऊपर मनालसू के नाले पार है मनाली गाँव। यहीं पर मनु महाराज का मन्दिर है। जल-प्लावन के बढ़े हुए पानी में लड़खड़ाती हुई मनु की नौका जहाँ टकराई, वह मनाली है। एक पल आँखें मूँद सोचता हूँ, सारी सृष्टि जलमय हो गई है। पानी ऊपर चढ़ रहा है। व्यास की धरती में चढ़ता हुआ पानी यदि कहीं ठहरेगा, तो वह स्थान मनाली गाँव ही होगा।

सूर्यपुत्र वैवस्वत मनु, सातवें मनवन्तर में सप्तऋषियों के साथ बैठे ऊपर चढ़ रहे हैं। नौका सींग वाले मत्स्य के साथ बँधी है। अन्न, औषधियों, बीजों का संग्रह सँभाले वे ऊँचाई की खोज में यहाँ किनारे आ लगे।

वशिष्ठ, भृगु

व्यास के उस पार, मनु के मन्दिर के ठीक सामने है वशिष्ठ आश्रम। जैसे अभी-अभी पाशमुक्त हो वशिष्ठ समाधिस्थ हुए हों। लकड़ी के बने मन्दिर के भीतर महर्षि की काले रंग की विशाल मूर्ति है। साथ ही गर्म जलस्रोत। इसी गर्म जल को कुछ नीचे ले जाकर हिमाचल पर्यटन विकास निगम ने स्नानगृह बनाए हैं। वशिष्ठ मन्दिर के साथ श्रीराम मन्दिर भी है।

वशिष्ठ आश्रम के ऊपर चोटी पर है भृगुतुंग। वशिष्ठ के ऊपर जाते में इस ओर के पशु बरसात में चराने के लिए छोड़े जाते हैं। पशु और घोड़े आदि इस मौसम में खूब तगड़े हो जाते हैं इन चरागाहों से आगे ही है भृगुतुंग। इस स्थान पर एक सुन्दर जलाशय है। श्रद्धालु यहाँ बीस भादों को स्नान करने जाते हैं।

मनाली का बायाँ किनारा आरम्भ होते ही बौद्ध संस्कृति के भी दर्शन होने लगते हैं। व्यास के पत्थरों पर, पर्वतों की चट्टानों पर बौद्ध मन्त्र खुदे हैं। मनाली में अब एक बौद्ध मन्दिर भी बन गया है।

जगतसुख

व्यास के बाईं ओर ही नीचे पाँच किलोमीटर की दूरी पर आता है जगतसुख। जगतसुख कुल्लू के राजाओं की प्रारम्भिक राजधानी रहा। यहीं पर मायापुरी के निर्वासित राजकुमार विहंगमणीपाल को जयधार में राजा घोषित करवाया गया था। यहीं एक बुढ़िया को राजकुमार ने पीठ पर उठा धुआंगणु नाला पार करवाया था। वह बुढ़िया और कोई नहीं, देवी हिडिम्बा ही थी। जिसने राजकुमार को इसके बदले ऊँचे पत्थर पर खड़ा कर दूर दृष्टि की सीमा तक का राज्य आशीष में दिया। राजकुमार ने कुल्लू को स्पिति के अत्याचारी शासकों तथा आपस में झगड़ते छोटे-छोटे राणाओं के चंगुल से मुक्त कराया।

जगतसुख में सन्ध्या देवी का काष्ठ मन्दिर है और साथ में ही है शिखर शैली का एक छोटा-सा शिव मन्दिर जो नवीं या दसवीं शताब्दी का है।

हामटा : इन्द्रकील

जगतसुख से ऊपर है हामटा। यहाँ भी एक झील है। महर्षि जमदग्नि किन्नर कैलास की यात्रा के बाद यहीं आकर रुके थे। वे एक टोकरी में देवताओं की प्रतिमाएँ उठाए हुए थे। यहीं से वे मलाणा गए। चन्द्रमुखी पर्वत पर आँधी आई और ऋषि के सिर से देवताओं की टोकरी गिर गई जिससे देवता विभिन्न स्थानों पर जा गिरे और प्रतिष्ठित हुए।

'इन्द्रकील' कुल्लू और स्पिति के बीच का पर्वत है, जिसे 'देउ टिब्बा' भी कहते

हैं। इस पर्वत के विषय में भी अनेक विश्वास प्रचलित हैं। कहा जाता है कि जितना इसके समीप जाने का प्रयत्न करो उतना ही यह दूर होता जाता है। कोई आज तक इस पर्वत तक नहीं पहुँच नहीं पाया। हामटा के पास ही है अर्जुन गुफा। इन्द्रकील और अर्जुन गुफा पुनः भीम के अनुज समर्थ अर्जुन का स्मरण दिलाते हैं। शंकर से पाशुपातास्त्र प्राप्त करने के उद्देश्य से अर्जुन जब इन्द्रकील की ओर प्रस्थान करते हैं तब उन्हें एक आवाज सुनाई देती है : "खड़े हो जाओ!" इधर-उधर देखने पर उन्हें पता चलता है कि एक वृक्ष के नीचे कोई तपस्वी बैठा हुआ है। वे उसके आदेश पर रुक जाते हैं। तपस्वी कहता है : "तुम धनुष-बाण, कवच और तलवार धारण किए हुए कौन हो? यहाँ आने का क्या प्रयोजन है? यहाँ शस्त्रों का कुछ काम नहीं। यहाँ शान्त स्वभाव तपस्वी रहते हैं। युद्ध होता नहीं, इसलिए तुम अपना धनुष फेंक दो।"

तपस्वी भेषधारी इन्द्र से भेंट के बाद हुआ अर्जुन-किरात समागम। अर्जुन-किरात युद्ध! युद्ध में शिथिल होकर जब उनके समस्त शस्त्र निरर्थक हो गए, बाहुबल जवाब दे गया, शिव-आराधना पर पाया कि किरात ही शिव हैं। आज भी यहाँ पार्वती शबरी के रूप में मन्दिर में प्रतिष्ठित हैं।

नग्गर

जगतसुख के बाद आता है नग्गर। यह भी कुल्लू के राजाओं की राजधानी वर्षों तक रहा। यहीं पर गुफा में रहता था वैष्णव बाबा किशनदास पौहारी जिसने सत्रहवीं शताब्दी के मध्य राजा जगतसिंह तथा सम्पूर्ण प्रजा को वैष्णव बना दिया। अवध से रघुनाथजी की मूर्ति लाई गई और सारा राज्य रघुनाथजी को सौंप राजा छड़ीबरदार (मुख्य सेवक) हुआ।

यहाँ ऊपर ठाह्वा में मुरली मनोहर का मन्दिर है और नीचे हैं शिव, गौरी-शंकर, त्रिपुरसुन्दरी आदि के कई मंदिर।

नग्गर का पुराना किला अब पर्यटन विकास निगम का आवासगृह है। किले के भीतर लिखा है कि राजा सिद्धसिंह (1500-1546) ने बनवाया। भीतर एक छोटा-सा मन्दिर है जिसमें मूर्ति के स्थान पर एक बड़ा चपटा पत्थर है। किंवदन्ति है कि यह बड़ा पत्थर जिसे 'जगती पौट' कहा जाता है, मनाली के पास नेहरू कुण्ड से लाया गया और वह भी मधुमक्खी रूपधारी देवताओं द्वारा।

रोरिक आर्ट गैलरी

किले से कुछ दूर है 'रोरिक आर्ट गैलरी'। किले व गैलरी के प्रांगण से ऊपर रोहतांग के पर्वत तथा नीचे मण्डी तक की पहाड़ियाँ नजर आती हैं। बीच में व्यास, आसपास ऊँचे-नीचे पहाड़ों की शृंखलाएँ। संध्या के समय सूर्य के उतरने पर ऐसा दृश्य उपस्थित हो जाता है जो साँस खींच लेता है। ऐसे ही चित्ताकर्षक दृश्य हैं गैलरी के भीतर टँगे चित्रों में। चित्रों में चमकते रंग धूप व चाँदनी का सजीव दृश्य प्रस्तुत करते हैं।

टूटा तारा, दूर देश का आगत, कल्कि अवतार, दाता बुद्ध, त्रिरत्न आदि प्रसिद्ध चित्रों के निर्माता महान् चित्रकार खोजी, पुरातत्त्ववेत्ता, वैज्ञानिक, कवि, लेखक, दार्शनिक, शिक्षाविद् निकोलस के. रोरिक 9 अक्तूबर, 1874 को रूस से सेंट पीटर्सबर्ग में जन्मे और 13 दिसम्बर, 1987 को कुल्लू के नगर में समाधिस्थ हुए। कहाँ रूस, कहाँ कुल्लू ! वादी के अदृश्य तन्तुओं ने किस प्रकार उन्हें खींचा, आश्चर्यजनक है। वे हिमालय में इन्स्टीच्यूट स्थापित करना चाहते हैं। इस उद्देश्य से 1928 में उन्होंने मण्डी के राजा से हाल-एस्टेट नग्गर खरीदा। सात हजार से अधिक चित्रों के निर्माता रोरिक गोबी रेगिस्तान, चीन, तिब्बत तथा मध्य एशिया के बीहड़ों में भटकने के बाद हिमालय के इस कोने में शांति पा सके। आर्ट गैलरी की सुरक्षा के लिए अब एक ट्रस्ट बन गया है।

सदा ही चिंतन-मनन में लीन शान्त शैल, गगन की ओर उठे हुए वृद्ध देवअरु। बीच में गुनगुनाती व्यास जिसने उद्विग्न वशिष्ठ को पाशमुक्त किया, वह अर्जिकीया आदि धारा है, जिसका गायन वेदों ने किया।

जहाँ मनु की नौका टकराई

सृष्टि के आदि पुरुष मनु को ऋग्वेद में 'पिता' कहा गया है। पिता, जो पालक है, रक्षक है। जिससे मानव वंश का प्रारम्भ हुआ, जो सृष्टि का संस्थापक और सामाजिक विधान का मार्गदर्शक है। मनु ने मनुष्यों को दास या दस्युओं से मुक्त करवाया। यज्ञ और श्राद्ध के नियामक मनु का मत्स्य पुराण, शतपथ ब्राह्मण, महाभारत में बार-बार स्मरण किया गया है।

मनु एक व्यक्ति का नाम नहीं है। मनु एक परम्परा है जो शताब्दियों से भारतीय मानस में विद्यमान है। मनु एक नहीं अनेक हुए। पौराणिक परम्परा के अनुसार प्रत्येक मन्वंतर का अलग-अलग मनु हुआ है, जिस प्रकार अनेक व्यास हुए। समय के अनन्तर जब-जब वेदों के विस्तार की आवश्यकता पड़ी, नया व्यास हुआ। कहा जाता है कि अब तक अट्ठाईस व्यास हो चुके हैं। इसी प्रकार सृष्टि के विध्वंस के बाद जब-जब नवनिर्माण हुआ, मनु प्रकट हुए। भागवत पुराण में जिन मनुओं के नाम आते हैं, वे हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, धर्म सावर्णि, रुद्र सावर्णि, देव सावर्णि, इंद्र सावर्णि। भारतवर्ष के प्रसिद्ध क्षत्रिय राजवंश मनु तथा उसकी सन्तानों से ही चले हैं। मारीच, ऋषभ, ध्रुव, दक्ष, विवस्वान आदि प्रतापी राजा मनु वंश में हुए। विवस्वान के पुत्र वैवस्वत मनु को सातवें मनवन्तर का मनु माना जाता है। जिनके समय जलप्लावन हुआ और समस्त पृथ्वी जलमय हो गई।

महाभारत में इस जलप्लावन और उसकी भूमिका का उल्लेख है। एक बार जब मनु हाथ धोने लगे तो उनके हाथ एक छोटी मछली आई। मछली के आग्रह पर मनु ने इसे एक बड़े पात्र में डाल दिया। मछली के आकार में वृद्धि के साथ मनु ने इसे तालाब, नदी और समुद्र में डाल दिया। जलप्लावन के समय मनु ने अपनी नौका इसी मत्स्य के सींग के साथ बाँधी। नौका में मनु सहित सप्तऋषि सवार थे। सबसे महत्वपूर्ण सामग्री जो नौका में रखी गई, वह थी—अन्न, औषधि और बीज।

जलप्लावन के समय मनु के नौकायन के साथ आरम्भ होती है मनाली के वर्तमान मनु मन्दिर की गाथा। पृथ्वी के जलमय होने पर जब नौका ऊँचाई की खोज में ऊपर चढ़ी तो वह स्थान रहा होगा मनाली गाँव। हिमालय के उत्तुंग शिखर पर अन्न, औषधि और बीज का भण्डार लिए मनु की नौका टकराई होगी।

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह॥

'कामायनी' में जल और हिम से युक्त हिमालय की जिस अद्‌भुत छटा का वर्णन किया है, वह इस सुरमय भूमि से मेल खाती है।

कुल्लू से 40 किलोमीटर दूर राष्ट्रीय उच्च मार्ग पर स्थित है मनाली। मनाली शहर से लगभग अढ़ाई किलोमीटर ऊपर मनालसू नाले के पार है पुराना मनाली गाँव, जहाँ मनु का प्राचीन मन्दिर है। पहाड़ी शैली का मनु मन्दिर छोटा और साधारण किन्तु आस्था प्राचीन और दृढ़। मन्दिर के भीतर मनु की लगभग 50 सेंटीमीटर पाषाण प्रतिमा है, इसके साथ महिषासुरमर्दिनी और शिवलिंग भी स्थापित हैं। मन्दिर के पीछे देवी तथा विष्णु की प्रतिमाएँ हैं।

मंदिर में हर मास संक्रान्ति को पूजा होती है। 6 वैशाख को मनु का जन्मदिन मनाया जाता है। ग्यारह दिन तक 'फागली' का आयोजन होता है। फागली के मेले में ही मंदिर के चबूतरे पर रखे लकड़ी के शहतीरों को तीसरे वर्ष बदला जाता है। यह उत्सव एक दैत्य की याद में मनाया जाता है, जो ऋषि की तपस्या भंग करता था। दैत्य के अनुरोध पर ऋषि ने उसका विवाह एक कन्या से करवा दिया जिसे वह खा गया। इस पर ऋषि ने उसके मुँह में तोस की लकड़ी के ग्यारह शहतीर ठूँस दिए। इसलिए परम्परा निभाने के लिए हर तीसरे वर्ष ग्यारह शहतीर रखे जाते हैं।

मंदिर की स्थापना के विषय में एक प्रचलित दंतकथा है :

मनाली गाँव के धौणाचाणी वंश की गौरी नामक कन्या से एक बार एक साधु ने दूध की भिक्षा माँगी। कन्या द्वारा असमर्थता प्रकट करने पर साधु ने एक बछड़ी को दूहने के लिए कहा। बछड़ी के थनों से दूध निकल आया। इसी तरह दूसरे बरतन में डालने पर दूध दही बन गया। कन्या ने आश्चर्यचकित हो साधु से परिचय पूछा तो उसने कहा, मैं मनु हूँ। यह मेरा निवास है। इसे नीचे तक खोदो तो एक मूर्ति मिलेगी। गौरी के परिवार ने खुदाई करवाई तो मूर्ति भूमि से निकल आई। वहाँ मन्दिर का निर्माण किया गया।

सातवें मनवन्तर के सूर्यपुत्र वैवस्वत मनु प्रथम पुरुष के साथ विधान निर्माता और नियामक थे। मनु के समय के जिस प्रलय का वर्णन हमारे पुराणों में हुआ है, वह विश्व की दूसरी सभ्यताओं में भी मिलता है। मनु द्वारा स्थापित सिद्धान्तों को बाद में ऋषियों द्वारा संकलित-सम्पादित किया गया। भृगु ने मनुस्मृति का संकलन किया। गौतम, वशिष्ठादि ऋषियों ने मनु की मान्यताओं को सम्पादित किया।

मनु का यह मन्दिर हमारी उस परम्परा का प्रतीक है जिसके अन्तर्गत हमारी संस्कृति में छोटे-छोटे स्थानों को भी विशेष महत्ता प्रदान की गई है। रोहतांग में

व्यासाश्रम मात्र एक स्थान है जहाँ व्यास का उद्गम हुआ। यहाँ लगता है व्यास ऋषि और नदी एक हो गए हैं। उसी तरह हिमालय के पाँच खण्डों में से एक जालन्धर के अन्तर्गत 'कुलान्त पीठ' में अनेक ऋषियों-मुनियों के स्थान हैं। व्यास, वसिष्ठ, भृगु, नारद, कपिल, जमदग्नि, परशुराम, दुर्वासा, शृंगि, मार्कण्डेय, लोमश आदि ऋषि यहाँ ग्राम-देवताओं के रूप में विद्यमान हैं।

मणियों की घाटी : पार्वती घाटी

पर्वत-पुत्री पार्वती जहाँ नदी होकर बहती है, वह घाटी कुल्लू में पार्वती घाटी कहलाती है। पार्वती शमशी के पास व्यास में मिलती है। अनेक बार पार्वती का पानी व्यास के पानी से अधिक होता है और लगता है व्यास पार्वती में समा गई है। व्यास सीधी बह रही है, पार्वती एक ओर से उछलती-कूदती आकर इसमें मिलती है, इसीलिए व्यास में पार्वती मिली, ऐसा ही समझा जाता है, यद्यपि पार्वती का मटमैला पानी व्यास के नीले पानी पर पूरी तरह हावी हो जाता है।

मणिकर्ण

पार्वती के बर्फानी पानी में एक ऐसा स्थल है जहाँ एक ओर बर्फ का पानी बह रहा है तो किनारे पर धरती से उबलता पानी फूट रहा है। एक ओर पानी में बर्फ-सी छुअन, दूसरी ओर उँगली लगे तो जलकर खाल उतर जाए। ऐसा अद्‌भुत स्थल है मणिकर्ण। आसपास ऊँचे पर्वत, बीच में पार्वती। इसी स्थल पर पार्वती दो बड़ी चट्टानों के बीच सँकरे मार्ग से वेग से प्रस्फुटित होती है।

मणिकर्ण में रघुनाथ मंदिर के पुजारियों के पास उपलब्ध एक प्राचीन पाण्डुलिपि में इस स्थल के माहात्म्य का वर्णन है। इस स्तुति में कुल्लू को 'कुलान्त पीठ' के नाम से संबोधित किया गया है। जालन्धर पीठ की भाँति कुलान्त पीठ और चौहार पीठ का स्मरण हुआ है। पुजारियों के अनुसार वास्तविक पाण्डुलिपि खो गई। उपलब्ध पाण्डुलिपि को संशोधित करवाकर गुरुद्वारे के बाबा हरिनारायणजी ने छपवाया था, जो अब अनुपलब्ध हो गई है।

पुरातन काल से यह तीर्थ तपस्वियों, साधु-महात्माओं व श्रद्धालु धर्म-यात्रियों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। यह स्थान कुल्लू से लगभग नौ किलोमीटर पीछे भुन्तर से पैंतीस किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। आज तो यहाँ तक कुल्लू से सीधी बस-सेवा उपलब्ध है किन्तु पुराने समय में लोग कई दिनों का सफर तय कर दूर-दूर से इस घाट पर दुर्गम मार्गों से होते हुए आते थे। हिमाचल में मणिकर्ण और मणिमहेश, ये दो यात्राएँ साधुओं की जुबान पर रहती थीं।

कहानी सोने-चाँदी की

जे. कैलवर्ट ने मणिकर्ण को 'होली-सिटी' कहा है और वर्णन किया है इस घाटी में विद्यमान चाँदी की खानों का। इस घाटी में मणिकर्ण से आगे उचच नामक स्थान में एक चाँदी की गुफानुमा खान है। कैलवर्ट ने इस खान के उत्पादन का 1863 में लाहौर संग्रहालय में प्रदर्शन का उल्लेख किया है।

इस खान से चाँदी निकाली जाती थी—यह लोकास्था भी है। ऐसा कहा जाता है चाँदी बनाने का फार्मूला जरी के पास बगियांदा के कायस्थों के पास था। वही चाँदी बनाया करते थे। किंवदन्ति है कि एक बार राजा के मन में आया कि क्यों न वह कायस्थ परिवार से चाँदी बनाने का फार्मूला हथिया ले और स्वयं ही चाँदी बनवाए। इस उद्देश्य से उसने कायस्थ बुजुर्गों को तंग किया। क्रोध में आकर बुजुर्गों ने फार्मूला ही जला दिया।

कहा जाता है रघुनाथ मंदिर में एक चाँदी की चादर चढ़ाई गई थी। मंदिर के प्रांगण में पत्थरों पर भी चाँदी चढ़ी थी। एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि में उल्लेख है कि राजा प्रीतमसिंह (1767-1806) ने अपने राज्य में चाँदी के सिक्के चलाए। जब कोष में चाँदी समाप्त हो गई तो मंदिर की चादर लेकर सिक्के बनाए गए। वास्तव में जिस व्यक्ति के पास ये सिक्के जाते थे, वह इन्हें वापस नहीं करता था। ऐसा कहा जाता है बंजार में चैहणी के एक सुनार के पास ये सिक्के उपलब्ध थे। चाँदी बनाने वाले इस कायस्थ परिवार के वंशज अब भी भुन्तर में विद्यमान हैं।

फार्मूला नष्ट हो जाने के बाद भी चाँदी बनाने का प्रयास हुआ। यह चाँदी अब सोने से भी महँगी पड़ने लगी। दूसरे, यह ठीक नहीं उतरी। कहा जाता है कि चादर बनाती बार यह बिखर-बिखर जाती थी।

चाँदी का मोह और कैलवर्ट की कब्र

जे. कैलवर्ट ने अपनी पुस्तक 'द सिलवर कण्ट्री' में इस घाटी में अनेक चाँदी की खानों का उल्लेख किया है। इनमें से अधिकतर सिक्खों के आक्रमण के समय बंद करवा दी गई थीं। कैलवर्ट ने शमशी के पास दरिया के पानी से सोना एकत्रित करने के धंधे का जिक्र किया है। कैलवर्ट ने इस सोने को पन्द्रह रुपए प्रति तोला बेचे जाने का उल्लेख किया है जो उसके अनुसार महँगा था।

बजौरा से आगे कैलवर्ट की कब्र है। कैलवर्ट के विषय में लोगों में यह धारणा है कि उसने चाँदी बनाने का प्रयास किया। चाँदी सोने से महँगी पड़ी और इसी प्रयत्न में वह अपनी सारी पूँजी लुटा बैठा।

इस बात की पुष्टि कैलवर्ट की पुस्तक से नहीं होती। चाँदी बनाने या पूँजी लुटाने का कहीं पुस्तक में उल्लेख नहीं है। केवल सोने, चाँदी व अन्य धातुओं की खानों के

अन्वेषण का उल्लेख है। अलबत्ता उसे हामटा में दुर्लभ मणियाँ मिलीं। खनिज पदार्थों के अन्वेषण से सम्बद्ध होने के कारण सम्भवतः लोगों में यह भ्रान्ति जागी हो कि कैलवर्ट यहाँ चाँदी बनाने के चक्कर में ही आया होगा।

शैव-वैष्णव का संगम

सदियों पहले इस स्थल पर शैव-वैष्णवों का संगम हुआ।

कैलासवासी शंकर की पार्वती की मणि खो जाने और पुनः मिलने के कारण इस स्थान को मणिकर्ण नाम मिला। शिव-पार्वती एक बार घूमते-घूमते किन्नर कैलास से यहाँ आ निकले। स्थान रमणीक था, अतः रुक गए। देवी पार्वती के कान की मणि खो गई। उन्होंने भोले शंकर से मणि खोजने का अनुरोध किया। बहुत खोजने पर भी मणि जब न मिली तो शंकर कुपित हो उठे। उनकी कुपित दृष्टि ने पाताल तक मार की। फलस्वरूप मणियाँ-ही-मणियाँ निकलने लगीं। इस कथा में शेषनाग द्वारा मणि चुराने आदि से सम्बन्धित दो-तीन रूपांतर प्रचलित हैं परन्तु कथा मुख्यतः शिव-पार्वती से ही जुड़ी हुई है।

मणिकर्ण से आगे खीर गंगा है, जहाँ से किन्नर कैलास को रास्ता जाता है। कुछ उत्साही धर्मयात्री व पर्वतारोही इस मार्ग से मानतलाई तक जाते हैं जहाँ एक रमणीक सरोवर है।

वर्तमान

इस समय मणिकर्ण में एक छोटा-सा शिव मंदिर है। इसी के पास यात्री उबलते पानी में चावलों को पोटली में बाँध छोड़ देते हैं जो पन्द्रह मिनट बाद पक जाते हैं। रोटियाँ फेंकी जाती हैं जो पककर ऊपर तैर आती हैं। दाल-सब्जियाँ पक जाती हैं।

ऊपर रघुनाथजी का मंदिर है। नीचे पुराना मंदिर धँस गया है और इसकी मूर्तियाँ भी ऊपर के मंदिर में रख दी गई हैं। यह मंदिर एक शताब्दी पूर्व भी धँसा हुआ था। इसकी पुष्टि जे. कैलवर्ट के कथन से होती है। रघुनाथ मंदिर के नीचे छोटे-से मैदान में एक रथ खड़ा रहता है। ठीक वैसा ही रथ जैसा ढालपुर मैदान, कुल्लू में खड़ा रहता है और जिसका प्रयोग कुल्लू दशहरा में रथ-यात्रा के समय होता है। मणिकर्ण में भी कुल्लू की भाँति दशहरा मनाया जाता है और रथ-यात्रा होती है।

ऐसा भी विश्वास है कि कुल्लू में स्थित रघुनाथ जी की मूर्ति पहले यहाँ प्रतिष्ठित थी। राजा जब सुलतानपुर चले गए तो उन्होंने मूर्ति को कुल्लू मँगवा लिया; क्योंकि कुल्लू से यहाँ आकर पूजा-अर्चना करने में कठिनाई होती थी।

यदि यह मंदिर उसी मूर्ति से सम्बद्ध रहा तो यहाँ वैष्णव-प्रभाव राजा जगतसिंह के समय सोलहवीं शताब्दी में ही आया। उससे पहले यह स्थान पूर्णतया शिव-पार्वती का था, यह निश्चित है। मणिकर्ण के पास टिपरी के ब्राह्मण की कथा है जिसमें कुल्लू में

रघुनाथ मूर्ति आने की चर्चा है। इस कथा में भी राजा मणिकर्ण की ओर जा रहा था, जब उसने ब्राह्मण से मोती लेने चाहे थे। मणिकर्ण से राजा की वापसी पर ब्राह्मण के जिंदा जल जाने का हादसा हो गया, अतः नाथ सम्प्रदाय के पतन और वैष्णव के प्रभाव से ही यहाँ भव्य मंदिर बने, यह सम्भावित है।

'मणिकर्ण-माहात्म्य' में मणिकर्ण की कथा का इस प्रकार से वर्णन है—हिमालय के चरणों में हरिन्द्र पर्वत के पास आश्रम में गरम और शीतल जल के सरोवर हैं। पार्वती के क्रीड़ास्थल में उनके कान की मणि खो गई है। पार्वती की उस खोई हुई मणि को खोजने के लिए शंकर ने अपने गणों और भूतों को आज्ञा दी। बहुत खोजने पर भी जब गणों को मणि न मिली तो वे क्रोधित हो उठे और सबको नष्ट करने पर तुल गए। जब शंकर क्रोधित हो त्रिनेत्र से त्रिलोकी को जलाने पर आमादा हो गए तो योगियों ने शेषनाग को जगा दिया। भयभीत शेषनाग मणियाँ ही मणियाँ फुंकारने लगे।

इस स्थान से अब तक सचमुच में मणियाँ निकलती थीं। उफनते पानी के साथ यह एक दूसरा आश्चर्य था। एक बार मणिकर्ण के पुजारी ने वे मणियाँ दिखाईं। वे छोटे-छोटे सुडौल गोल पत्थर थे, जो अब पुजारी के पास बहुत कम रह गए हैं। पहले ये लोग इन्हें प्रसाद के रूप में देते थे और जो श्रद्धालु यहाँ स्नान के लिए न आ पाते वे अपने स्नान के पानी में इन्हें डालकर नहाते थे तो इस तीर्थ का पुण्य पाया हुआ मानते थे।

कहा जाता है कि वर्तमान राम मंदिर के पीछे एक उफनते पानी का स्रोत था, जिसमें बहुत ऊँचे तक पानी उफनता है। इसी से ये मणियाँ निकलती थीं। यह ऊँची धारा 7 फुट तक ऊपर उछलती थी। 1905 के भूकम्प में यह बंद हो गई। इस बात की पुष्टि मणिकर्ण में पुजारियों के पास उपलब्ध दर्शकों की सम्मतियों से भी होती है।

काँगड़ा के एक दर्शक श्री मेलाराम, जो यहाँ सोलह वर्षों के बाद 21 जुलाई, 1915 में आए, ने लिखा है कि रामचन्द्र मंदिर वाले गर्म पानी के स्रोत 1905 के भूकम्प से बदल गए हैं। ये आठ से दस फुट तक ऊँचे उठते थे, किन्तु अब ये 12 इंच से ऊपर नहीं जाते।

डी. एस. कॉलेज, लाहौर के प्रोफेसर एन. एन. गोबोल, जो मणिकर्ण में 24 जून, 1919 में आए, ने लिखा है कि मणिकर्ण के गर्म पानी के चश्मे उन्होंने इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा जर्मनी, सबसे अधिक गर्म पाए। इनमें से एक चश्मा जो आठ से दस फुट तक ऊँचा उठता था, अब केवल दस इंच ऊँचा ही रह गया है।

ऐसा कहा जाता है कि आठ से दस फुट ऊँचे उठने वाले इसी चश्मे से कभी-कभी मणियाँ निकलती थीं।

बुजुर्ग लोग इस बात का दावा भी करते हैं कि यहाँ एकाधिक शिव-मंदिर थे जिन्हें बाद में राम मंदिरों में बदल दिया गया।

शंकर, राम के बाद गुरु नानक

इस समय यहाँ एक भव्य गुरुद्वारा है जहाँ यात्रियों के ठहरने की व्यवस्था के साथ-साथ हर समय लंगर लगा रहता है। कोई भी व्यक्ति पंगत में बैठ पेट-भर प्रसाद खा सकता है। सेवादार आपको खाने-पीने, बैठने-ठहरने के लिए आदरयुक्त शब्दों में पूछेंगे। बहुत-से सैलानी यह भी नहीं जान पाते कि ऊपर मंदिर भी है। पहले सीधे मंदिर में जाने का रास्ता पुल से था, जहाँ पार्वती बहुत सँकरी होकर दो चट्टानों के बीच से निकलती है। अब झूलने वाला रस्सों का पुल सीधा गुरुद्वारे में प्रवेश करता है। गुरुद्वारे के बाबाजी के अनुसार, जो यहाँ गत पचास वर्षों से हैं, गुरु नानक यहाँ अपने शिष्यों बाला-मरदाना सहित पधारे थे।

और अब हिप्पी

अब इस क्षेत्र में हिप्पियों का दखल भी बढ़ गया है। उनका पाश्चात्य संगीत साँय-साँय की ध्वनि पर बुरी तरह हावी हो जाता है। कई बार सारा मणिकर्ण हिप्पियों से आच्छादित हो जाता है। वे यहाँ होटलों, दरिया के किनारे, मंदिर के बाहर बैठे, लेटे, सुस्ताते देखे जा सकते हैं। बहुत-से मणिकर्ण व इसके आसपास गाँव में किराए के मकानों में रहते हैं। नशे की खुमारी में आराम से पसरे रहना या ध्यानावस्था में लीन हो जाना ही इनका नित्यकर्म है।

सरोवरों में धरती की किश्तियाँ

सरोवर वन-पर्वतों के गहने हैं, जो मणियों की तरह हरियावल में चमकते हैं। सर-निर्झर पहाड़ों के अलंकार हैं। कहीं पथरीली चट्टानों के बीच सर, कहीं पहाड़ की चोटी पर निर्झर, कहीं घाटी की गोलाई में सर तो कहीं बर्फीली शिलाओं में। बात यहाँ सरोवरों की है और सरोवर भी ऐसे, जिनमें पृथ्वी तैरती है।

ऐसी अद्‌भुत पहली झील है जिला मंडी के पराशर में। 15 जून से यहाँ दो दिवसीय सरानाहुली मेला लगता है। इसे पराशर या 'पड़ासर' भी कहते हैं। पौराणिक पराशर, जो क्षमाशील वशिष्ठ के पौत्र और मुनि शक्ति के पुत्र थे। कहते हैं उन्होंने गर्भ में ही सौ पुत्रों की मृत्यु से संतप्त वशिष्ठ को जीवन जीने की प्रेरणा दी। महाभारत में प्रसंग है :

"उस बालक ने गर्भ में आकर परासुः अर्थात् मरने की इच्छा वाले वशिष्ठ जी को पुनः जीवित रहने के लिए प्रोत्साहित किया था, इसीलिए वे लोक में 'पराशर' के नाम से विख्यात हुए।"

पराशर झील शिमला से 158 किलोमीटर व चंडीगढ़ से 304 किलोमीटर दूर मंडी के उत्तर-पूर्व में लगभग 9,000 फुट की ऊँचाई पर स्थित है। झील तक पहुँचने के लिए पहला और सुगम मार्ग कटौला-बागी मार्ग है। मंडी-बागी तक सड़क है और बस सुलभ है। इससे आगे जोंकों से भरा आठ किलोमीटर पैदल मार्ग है। जुराबों में जोंकें समोने से बचना हो तो जीप योग्य सड़क से भी जाया जा सकता है। दूसरा मार्ग, राष्ट्रीय मार्ग पर पंडोह झील से सनोर-बदार होकर है। तीसरा मार्ग हणोगी माता मंदिर से बान्हदी होकर है। बान्हदी में ही देवता पराशर का भंडार है। इसी भंडार में देवता के मोहरे (मास्क) रखे रहते हैं। भंडार के देवता के तीन चाँदी के घोड़े भी हैं। एक अन्य मार्ग हणोगी से आगे पनारसा से है। कुल्लू की ओर से आने वाले यात्री बजौरा से कंढी होते हुए आते हैं। मंदिर और झील के समीप साधारण सराए और वन विभाग का एक विश्रामगृह भी है।

झील के साथ पराशर ऋषि का पैगोडा शैली का तिमंजिला मंदिर है। मनाली का हिडिंबा मन्दिर, दयार (कुल्लू) का त्रिजुगी नारायण व कुल्लू का पराशर मन्दिर और मंडी का पराशर मन्दिर पैगोडा शैली के गिने-चुने मंदिर हैं। ठीक इसी तरह ऋषि मन्दिर है

कुल्लू के कमांद में, जहाँ एक झील भी है, किन्तु छोटे आकार की। उस मन्दिर में भी अद्‌भुत काष्ठकला का उत्कीर्णन हुआ है।

पराशर का यह काष्ठ मन्दिर तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दी में मंडी के राजा बाणसेन द्वारा बनवाया गया। मन्दिर के द्वार पर की गई लकड़ी की नक्काशी ध्यान आकर्षित करती है। मन्दिर के भीतर ऋषि की पिंडी के अतिरिक्त ऋषि की भव्य पाषाण प्रतिमा और विष्णु शिव व महिषासुरमर्दिनी की पाषाण प्रतिमाएँ हैं।

शिखर पर लगभग डेढ़ किलोमीटर कटोरानुमा पहाड़ी के ठीक बीच में है झील, जिसके एक किनारे है अर्द्धचन्द्राकार भूखंड। यह भूखंड धीमी गति से चलता है। स्थानीय पुजारियों के अनुसार यह पहले इधर से उधर चलता था, अब कुछ वर्षों से कोने में स्थिर हो गया है। झील की गहराई का अंदाजा नहीं लगाया जा सकता। किंवदंति है कि मंडी के एक शासक ने झील की गहराई मापनी चाही। आसपास के क्षेत्र से सब रस्सियाँ इकट्ठी कर बाँधी गईं और सिरे में लोहे का 'घण', रस्सियाँ कम पड़ गईं किन्तु गहराई मापी न जा सकी।

जब महर्षि पराशर अध्यात्म चिन्तन के लिए एकांत स्थान की खोज में थे तो इस स्थान को उपयुक्त पाकर उन्होंने भूमि पर गुर्ज से प्रहार किया। भूमि से जल की धारा फूटी, जिससे यह सुन्दर झील बन गई। झील के किनारे ऋषि समाधिस्थ हो गए।

इस अनुपम स्थल तक पहुँचने के लिए भिन्न-भिन्न ऋतुओं में समागम दिवस निश्चित हुए। ऋषि के जन्मदिवस पर भादों के शुक्ल पक्ष की पंचमी को एक मेला लगता है। इस अवसर पर बान्हदी स्थित भंडार से ऋषि का रथ सजाकर मेले में लाया जाता है। आसपास के देवता मेले में खुशी मनाने आते हैं। आषाढ़ की संक्रान्ति को 'सरानाहुली' नाम का मेला लगता है। यह एक बड़ा मेला है जिसमें सनोट, बदार, उत्तरसाल, सिराज के लगभग तीस देवता आते हैं। मेले में मंडी व कुल्लू क्षेत्र के श्रद्धालु समान रूप से भाग लेने आते हैं। एक अन्य मेला वैशाख में लगता है। जब आसपास की देवियाँ यहाँ पधारती हैं। मेलों के अतिरिक्त भी विभिन्न पर्व मन्दिर में समय-समय पर मनाए जाते हैं।

इन मेलों में मनुष्य व देवताओं का अद्‌भुत संगम होता है। मेलों में परम्परागत संस्कृति के दर्शन भी होते हैं। देवताओं के वाद्यों की मधुर ध्वनि के साथ देवताओं के गूर 'गूर खेल' या 'देउखेल' करते हैं। गूरों के इस खेल में संगल, कटार आदि के साथ नृत्य होता है। 'भारथा' में देवता का गूर देवता की कथा सुनाता है। भविष्यवाणियाँ की जाती हैं।

हिमालय में 'सर' मात्र दर्शनीय ही नहीं, पूजनीय भी हैं। हर सर वंदनीय हैं, जहाँ मेले लगते हैं। देवता और मनुष्य जुड़ते हैं। श्रद्धालु सोना, चाँदी, सिक्के, धूप-दीप इन झीलों में चढ़ाते हैं। न जाने कितना खजाना इन झीलों में दबा पड़ा है। ऐसी कथाएँ भी प्रचलित हैं कि इन झीलों के गर्भ में पड़ा सोना-चाँदी, भाँडा-बर्तन समय पड़ने पर देवता

की इच्छा से जरूरतमंदों को दिया जाता है। रिवालसर झील के बारे में जनश्रुति है कि लोग विवाह आदि के अवसर पर झील से प्रयोग के लिए बड़े-बड़े बर्तन ले जाया करते थे। समय बदला, लोगों की नीयत बदली। लोगों ने ये वस्तुएँ हड़प करना आरम्भ कर दीं और धीरे-धीरे झील का यह खजाना पानी के गह्वर में गायब हो गया। ऐसे ही झील के खजाने की बात मंडी के ही कामरू नाग झील के बारे में की जाती है।

मंडी से चौबीस किलोमीटर दूर मंडी-हमीरपुर सड़क पर तीन पहाड़ियों से घिरा है रिवालसर। बीच में झील और तीन ओर संप्रदायों के देव मन्दिर। झील की ओर प्रवेश करते ही दिखाई देंगे छोटे-छोटे पत्थर। हर पत्थर पर खुदा है 'ॐ मणि पद्मे हुम्'। तिब्बती शिल्पी हर छोटे-छोटे पत्थर पर ये मंत्र खोद रहे हैं। रास्ते के किनारे पड़े ऐसे पत्थरों से आगे है बौद्ध मन्दिर। दूसरी ओर एक ऊँचा झंडा और साथ में सफेद गुरुद्वारा। घाट के साथ ऋषि लोमश व शिवमंदिर।

रिवालसर से ऊपर की ओर जाएँ तो पुरातन शिवमंदिर के साथ एक बावड़ी है। ऊपर सरधार और बौद्ध-भिक्षुओं की छोटी-छोटी गुफाएँ दिखती हैं। वास्तव में रिवालसर के ऊपर 'सरधार' सरोवरों की धार है। सरधार में सात सर हैं, जिनमें से छह सूख चुके हैं या सरकंडों से भरे हैं। ये सभी बरसात के साथ ही सूखते या भरते हैं। सबसे अद्वितीय सरोवर है पहाड़ी के अंत में 'कुंत-भयो'। रिवालसर से आकार में लम्बा और शुद्ध नीले जल का यह सरोवर नीचे की तलहटी की जलपूर्ति भी करता है। कुंत-भयो को कुंती माई का सर भी कहा जाता है। जनास्था है कि जब कुंती सहित पांडव यहाँ पहुँचे तो कुंती को प्यास लगी। पहाड़ी पर पानी नहीं था, अतः समर्थ अर्जुन ने तीर मारकर इस जगह पानी की धारा निकाली, जो कालांतर में सरोवर बन गई।

रिवालसर के किनारे दो बौद्ध मन्दिर हैं। एक नया, एक पुराना। नया गोंपा 'ड्री गुंग काग्युद' अध्ययन केन्द्र है, जिसमें छात्र लामा और चोमो (भिक्षुणी) रहते हैं। कुछ वर्ष पूर्व यहाँ छह वर्षीय लामा गुरु को रखा गया और दीक्षित किया गया। दूसरा बौद्ध मन्दिर पद्मसंभव को समर्पित है। पद्मसंभव की सुन्दर प्रतिमा के आगे बड़े-बड़े घी भरे पात्रों में ज्योति जली रहती है। यहाँ प्रातः-सायं बौद्ध मंत्रोच्चारण व मृदु वादकों से झील गुनगुनाती है। सायंकाल का वातावरण मंत्रोच्चारण और वाद्य-ध्वनि से पावन और मधुर बन जाता है। इस गोंपा के साथ पद्मसंभव द्वारा मंडी की राजकुमारी मांधर्वा को दीक्षा देने और पद्मसंभव को मंडी के राजा द्वारा जीवित जला देने के आदेश की कथा जुड़ी हुई है। पद्मसभव को जलाने वाली आग पानी की झील में बदल गई और गुरु झील में कमल पर आसीन प्रकट हुए।

ड्री गुंग काग्युद अध्ययन केन्द्र से आगे गुरुद्वारा श्री रिवालसर साहब (ऐतिहासिक स्थान पातशाही दसवीं) है। यहाँ सिक्खों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने बाईस पहाड़ियों के छोटे-बड़े राजाओं को एकत्रित कर मुगलों के अत्याचारों के विरुद्ध आह्वान किया था।

गुरुद्वारे के सामने पार घाट पर दो शिवालय और एक लक्ष्मीनारायण मन्दिर है।

छोटा शिवालय ऋषि लोमश की तपोभूमि बताया जाता है। समाधिस्थ लोमश की तपस्या से प्रभावित हो शिव रिवालसर में प्रकट हुए। ऋषि की तपस्या भंग करने के लिए शिव ने चमत्कार से झील में भूखंड तैराने आरम्भ किए। ऋषि ने जब आँख खोली तो शिव-पार्वती और झील में तैरते भूखंड देखे। शिव द्वारा वर माँगने की बात पर ऋषि ने कहा :

"आपकी माया अपरंपार है प्रभो! आपने पृथ्वी को पानी में तैरा दिया। यह माया सदा बनी रहे, यही वर दो।" शिव के 'तथास्तु' कहने पर उस दिन से ये भूखंड उसी प्रकार झील में तैरने लगे।

खजियार एक अनुपम प्राकृतिक स्थल है, जो चंबा तथा डलहौजी के बीच पड़ता है। डलहौजी से 26 किलोमीटर और चंबा से 22 किलोमीटर की दूरी पर घने जंगल के बीच स्थित यह स्थान प्रकृति का अजूबा है। डलहौजी तथा चंबा से बस सेवा भी उपलब्ध है और टैक्सी आदि भी सुगमता से मिल जाती है। सड़क मार्ग ऊँचे-ऊँचे देवदारों से भरपूर है।

दोनों ओर घने जंगल और गगनचुबी वृक्षों से घिरा एक हरा-भरा लंबा-चौड़ा मैदान है। मैदान के ठीक बीच में झील। झील के एक ओर खाज्जी नाग का पुरातन काष्ठ मन्दिर है। मन्दिर के दरवाजे तथा छत में लकड़ी की सुन्दर नक्काशी की हुई है। मन्दिर के भीतर खाज्जी नाग की मानवाकार प्रतिमा है। सामने हिंडिबा का मन्दिर है। एक छोटा शिवमन्दिर भी है।

मैदान में बीचोबीच है मनोहारी झील। यद्यपि झील अब काफी सिकुड़ गई है। एक ओर सरकंडों से भरा भूखंड है, जो अब उथला और जमा हुआ है। घास और सरकंडों के कारण झील का अधिकांश भाग जलरहित होता जा रहा है। कहते हैं यहाँ पहले भूखंड तैरता था।

झील के गगनचुंबी देवदार वृक्षों के प्रतिबिम्ब संपूर्ण माहौल को एक विलक्षणता प्रदान करते हैं। मैदान में घूमने के लिए पर्याप्त स्थान है। कुछ घोड़े वाले झील के चारों ओर घुड़सवारी का अवसर प्रदान करते हैं।

जहाँ रेणुका झील बनी

हिमाचल की बर्फ में जहाँ पर्वत पुत्री पार्वती नदी होकर बहती है वहाँ दूसरे छोर पर सिरमौर में देवी रेणुका को झील के रूप में पूजा जाता है। किसी झील को पूजा जाना अचम्भा नहीं है। उसे साक्षात् देवी मान लेना जनमानस की अद्‌भुत आस्था का प्रतीक है।

परशुराम का प्रचण्ड पौराणिक व्यक्तित्व एक ओर कुल्लू के निरमण्ड में प्रकट हुआ है जहाँ उनके पाँच 'स्थान' और आठ 'ठहरियाँ' हैं, दूसरी ओर वे हर वर्ष अपनी माँ रेणुका से मिलने रेणुका झील में आते हैं। इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियों से विहीन करने वाले परशुराम का स्थान पौराणिक साहित्य में महेन्द्र पर्वत पर माना गया है, जहाँ अनेक ऋषि वास करते थे। महाभारत में वर्णन है कि जब भाइयों सहित युधिष्ठिर उनके दर्शनों के लिए गए तो वहाँ उपस्थित ऋषियों ने बताया कि उनका दर्शन चतुर्दशी और अष्टमी को होता है। युधिष्ठिर ने वहाँ प्रतीक्षा कर निश्चित तिथि को उनके दर्शन प्राप्त किए। पुराणों में परशुराम के क्षात्र-तेज प्रचण्ड व्यक्तित्व का वर्णन मिलता है।

अनूप देश के राजा कार्तवीर्य अर्जुन ने एक बार ऋषि जमदग्नि द्वारा आदर-सत्कार किए जाने के बावजूद आश्रम की गाय का बछड़ा हर लिया। परशुराम ने आश्रम आने पर कार्तवीर्य अर्जुन की हजारों बाँहें काटकर उसे मार डाला। इस पर अर्जुन के पुत्रों ने ऋषि जमदग्नि का वध कर दिया। पिता की हत्या पर परशुराम अग्नि के समान प्रज्वलित हो उठे। उन्होंने क्षत्रिय वध की प्रतिज्ञा ली। कार्तवीर्य अर्जुन के पुत्रों को मारकर उन्होंने उन सब क्षत्रियों को भी मार डाला जिन्होंने उनका पक्ष लिया। इस प्रकार इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियविहीन करके समन्तपंचक क्षेत्र में रक्त के पाँच सरोवर भर दिए। ऋषि ऋचिक द्वारा इस दुष्कर कर्म से रोके जाने पर परशुराम पृथ्वी ब्राह्मणों को दान कर महेन्द्र पर्वत पर चले गए।

परशुराम के विषय में एक अनोखा किस्सा भी महाभारत आदि कई ग्रन्थों में मिलता है। रेणुका राजा प्रसेनजित् की पुत्री थी। महाप्रतापी जमदग्नि ने वेदाध्ययन के बाद राजा प्रसेनजित् के पास जाकर उनकी पुत्री की याचना की जिसे राजा ने स्वीकार कर लिया। रेणुका से ऋषि के पाँच पुत्र हुए। परशुराम सबसे छोटे थे। कहा जाता है कि एक बार रेणुका स्नान करने गई। वहाँ उसने दैवयोग से सम्पत्तिशाली राजा चित्ररथ को

देखा। रेणुका का चित्त चलायमान हो गया। ऋषि जमदग्नि ने रेणुका की वापसी पर बात भाँप ली और क्रुद्ध होकर अपने बेटों से माता का वध करने को कहा। ऋषि ने चारों पुत्र रुक्मवान, सुषेण, वसु और विश्वावसु यह सुन सहम गए। परशुराम ने पिता की आज्ञा से फरसा लेकर उसी क्षण माता का सिर धड़ से अलग कर दिया। पिता ने प्रसन्न हो पुत्र को वर माँगने को कहा। परशुराम ने अपनी माँ के जीवित होने की कामना की। अपने इस पाप के नाश होने तथा माँ द्वारा इस घटना के विस्मृत होने की इच्छा की। ऋषि जमदग्नि ने सभी कामनाएँ पूर्ण कर दीं।

मनोहारी झील रेणुका शिमला से 135 किलोमीटर और नाहन से 37 किलोमीटर है। झील के चारों ओर घुमावदार सड़क बनी है। सड़क के एक ओर झील है तो ऊपर अभयारण्य। बीस हैक्टेयर में फैली इस झील की गहराई से पाँच से तेरह मीटर है। दूर से किसी नारी की आकृति की यह झील प्रदेश की झीलों में एक बड़े आकार की झील है—वन, पशु-पक्षियों से घिरी। झील के किनारे माँ रेणुका, परशुराम के मंदिर हैं तथा साथ कुछ साधु-संन्यासियों के आश्रम। झील के चारों ओर वन्य पशु विचरण करते हैं।

कुछ वर्षों से झील की ग्रहण शक्ति समाप्त हो रही है। भूस्खलन से मलबा गिरता रहता है। मछलियों तथा श्रद्धालुओं द्वारा फेंकी गई सामग्री से प्रदूषण बढ़ रहा है। अब तक लगभग पाँच हेक्टेयर भाग सूख गया है।

कुछ नौकाएँ भी झील में डाली गई हैं किन्तु नौका विहार कम ही होता है। हाँ, मछलियों को आटा या चारा अवश्य खिलाया जा सकता है। साथ में कुछ जानवर तथा छोटे जीव-जन्तु भी पिंजरों में बंद कर रखे हुए हैं। सबसे आनन्ददायक है झील की परिक्रमा करना जहाँ शेर और अन्य जीव-जन्तु भी फुदकते नजर आते हैं।

यहाँ रेणुका का प्रसिद्ध मेला मनाया जाता है। दीपावली के पश्चात् दशमी के इसी दिन परशुरामजी की शोभायात्रा निकाली जाती है। कहा जाता है कि परशुराम प्रत्येक वर्ष दशमी को डेढ़ दिन के लिए अपनी माँ रेणुका से मिलने आते हैं। परशुरामजी की शोभायात्रा में लोकनाट्य, लोकनर्तकों तथा श्रद्धालुओं की भीड़ जुटती है। एकादशी के दिन झील में पवित्र स्नान होता है। मेले में उत्तर प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान और पंजाब से श्रद्धालु भाग लेते हैं।

कुछ वर्षों से मेले में रात्रि को सांस्कृतिक कार्यक्रम जैसे आधुनिक तत्त्व भी जुड़ गए हैं। सरकार द्वारा इस मेले को राज्य स्तरीय उत्सव का दर्जा दिया गया है। रेणुका झील के विकास के लिए रेणुका विकास बोर्ड गठित किया गया है। जिलाधीश, सिरमौर की अध्यक्षता में यह बोर्ड रेणुका झील, परिसर के विकास के साथ मेले का प्रबन्ध भी करता है।

सर्पदंश का देवता : गुग्गा

सर्पदंश और जादुई शक्तियों पर विजय पाने वाले देव का नाम है गुग्गा। सर्पदंश और जादू का आतंक गाँव में सिर चढ़कर बोलता है। बरसात में जब साँपों के बिलों पर पानी भर जाता है तो वे घरों की शरण लेते हैं। बरसात के बाद जब धूप चमकती है तो साँप भरे-पूरे घास में लहराते हैं। साँप भी ऐसे खतरनाक कि एक ही फुंकार से आदमी को खत्म कर दें और जादू-टोने से ग्रसित, अन्धकार से डगमगाए लोग कोई ऐसी बड़ी शक्ति चाहते हैं जो इससे छुटकारा दिला सके। अबोध ग्रामीणों को इस सबसे निजात दिलाने वाला पीर है गुग्गा।

गुग्गा को 'गुग्गा छत्री', 'गुग्गा जाहरपीर', 'राणा नीले घोड़े का सवार', 'गुगमल' आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। हिमाचल के निचले क्षेत्रों में गुग्गा का प्रभुत्व है। शिमला के निचले क्षेत्र बिलासपुर, मण्डी, काँगड़ा, हमीरपुर आदि में गुग्गा एक समान पूज्य देव है।

गुग्गा-गाथा

इन सभी क्षेत्रों में गुग्गा-गाथा प्रचलित है जिसे 'झेड़ा' या 'बार' कहा जाता है। इस गाथा में गुरु गोरखनाथ तथा उनके नौ लाख शिष्यों, काछला और बाछला दो बहनों, गुरु गोरखनाथ की कृपा से गुग्गे का जन्म भाइयों की ईर्ष्या, गुरु गोरख के प्रताप से गुग्गे के विवाह तथा भाइयों से युद्ध का वर्णन है।

गुग्गा के अनुयायी रक्षाबन्धन से लेकर गुग्गा नवमी तक यह गाथा घर-घर जाकर सुनाते हैं। इनमें से एक आदमी बड़ा 'छत्र' लेकर चलता है। छत्र के साथ रंग-बिरंगे कपड़े के टुकड़े भी इसमें बाँध लिये जाते हैं। एक आदमी के हाथ में थाली होती है। कई जगह इकतारा या ढोलकियों का प्रयोग भी किया जाता है। विभिन्न मुद्राएँ बनाते हुए ये गुग्गा की वीर गाथा सुनाते हैं जिसमें बीच-बीच में कथा का संक्षेप बिना गाए अपनी बोली में समझाया जाता है, फिर गायन आरम्भ हो जाता है।

ग्राम देवता

जिस गाँव में गुग्गा का मन्दिर होता है, उसके आस-पास के सभी गाँवों के घरों में

गुग्गा पूजन होता है। हर घर के आँगन में घोड़े पर सवार गुग्गा की प्रस्तर प्रतिमा रहती है। प्रायः तुलसी के बिरवे में या किसी अन्य चबूतरे में गुग्गा को स्थापित किया जाता है।

बरसात के दिनों में गुग्गा मढ़ी से प्रसाद के रूप में मिला पानी तथा मिट्टी घरों के अन्दर तथा आँगन-पिछवाड़े फेंका जाता है। इससे यह समझा जाता है कि साँप तथा भूत-प्रेत घर में नहीं आ सकेंगे।

गुग्गा नवमी

गुग्गा नवमी के दिन गुग्गा का मेला प्रारम्भ होता है। इस रात रतजगा होता है। कई स्थानों पर पुजारी 'खेलता' है। खेलता हुआ पुजारी बताता है : अब गुग्गा तैयार हो गया है, अब घोड़े पर सवार हो मारू देश की ओर रवाना हो गया, अब रोपड़ पहुँच गया, अब स्वारघाट आ गया, अब तलाई में आ गया, अब मन्दिर के द्वार पर आ गया...। गुग्गा के मन्दिर में प्रवेश पर बलियाँ दी जाती हैं। कई पुरुष तथा स्त्रियाँ एक साथ 'खेलने' लगते हैं। ऐसे में जादू-टोने से ग्रसित लोगों को उल्टियाँ करवाई जाती हैं। उन्हें साँकलों से पीटा जाता है।

कई बार गुग्गा के आगमन से पूर्व पुजारियों या लोगों की गलतियों के कारण देवता आने से मना कर देता है जिस पर लोगों तथा पुजारियों को क्षमा माँगनी पड़ती है। क्षमा के लिए कई बार बलि भी देनी पड़ सकती है। गुग्गा के आगमन के बाद ही मेला सही मायनों में आरम्भ होता है।

सूने गलियारे में बोलता इतिहास

इतिहास तो छिप जाता है चंद पन्नों में। गवाह खड़े रहते हैं। सदियों तक आकाश की ओर बाँहें फैलाए अपना अतीत तलाशते। महाशून्य, जहाँ सारा कोलाहल मौन हो जाता है। कोलाहल युद्ध का, जय का, पराजय का, सन्धि-विग्रह का और उन तमाम षड्यन्त्रों का जो किले व महलों के भीतर जन्म लेते रहे।

ऐसे ही इतिहास का मौन साक्षी है काँगड़ा किला जो अब भी भव्य और विशाल परिसर में गौरवशाली इतिहास सँजोए हुए है। सन् 1905 के भूकम्प ने इसे झटका दिया है। फिर भी किले के प्राचीर, द्वार, स्तम्भ अब भी उस वैभव की याद ताजा करते हैं जिसके आकर्षण से यहाँ बार-बार आक्रमण होते रहे।

ऊँचे धौलाधार के प्रांगण में फैला यह किला पहाड़ का गौरव रहा है। आज जहाँ इस लम्बे-चौड़े क्षेत्र से लोग मात्र घास लेने आते हैं; कभी आक्रमणकारी सोने-चाँदी, हीरे-जवाहरात से लदे घोड़े-खच्चर-ऊँट हाँक कर ले गए थे। इतनी लूटपाट के बाद भी यह किला खड़ा रहा और इतिहास में अपना नाम बनाए रखा।

प्रवेश द्वार का नाम है जहाँगीरी दरवाजा, जहाँ से भीतर सूने गलियारों का सफर शुरू होता है। चौड़ा रास्ता धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता हुआ, सीढ़ी दर सीढ़ी। बीच-बीच में गेटनुमा ड्योढ़ियाँ जहाँ कभी आकर्षक पाषाण प्रतिमाएँ जड़ी हुई थीं। अब भी इनके अवशेष बाकी हैं। रास्ते के बाहर की ओर दीवार ऊँची होती हुई जगह-जगह भीतर से बाहर देखने और आक्रमण से रक्षा के लिए गोलीबारी हेतु बने स्थान। यहीं सिपाहियों के खड़े होने के लिए भी जगह बनी है। इन सूराखों की खासियत यह है कि ये सीधे पार की पहाड़ी पर बनी चौकी पर भी चौकसी करते हैं। पार की पहाड़ी की चौकी इसी तरह अगली चौकी की पहुँच में है। युद्ध के समय यहीं से चौकी दर चौकी खबर पहुँचाई जाती थी।

सीढ़ियों के बाद खुला रास्ता और ऊपर पहुँचकर एक और दरवाजा जो अब गिर चुका है। यहाँ भूकम्प के समय पूरी की पूरी दीवारें गिरी पड़ी हैं जो अब भी साबुत धरती पर गिरी हैं या टेढ़ी फँसी हैं, टूटी नहीं। इसी दरवाजे के मुख्य किले व अन्य स्थानों के लिए रास्ते हैं। आगे सीढ़ियाँ चढ़कर भीतरी प्रमुख किले का द्वार है। इस द्वार के अंदर जाते ही दो मंदिर हैं—एक देवी मंदिर तथा दूसरा जैन मंदिर। महामाया के साथ कुछ अन्य मूर्तियाँ भी दीवार में जड़ी हैं। दूसरी ओर लगातार बने एक ही पत्थर पर

खुदाई किए मंदिरों के अवशेष।

जैन मंदिर में आदिनाथ की पाषाण प्रतिमा है जिसे पूजने के लिए अब दूर-दूर से जैन सम्प्रदाय के लोग आते हैं। किले के बाहर एक भव्य जैन मंदिर का निर्माण भी किया जा रहा है। यह मूर्ति किले में कब और कैसे आई, इस विषय में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं है।

मंदिरों के दूसरी ओर किले के कुछ स्तम्भ आधे टूटे, आधे खड़े बिखरे पड़े हैं। कहा जाता है कि अंग्रेजों ने इस स्थान को भण्डार के रूप में प्रयोग किया था। यहाँ एक कुआँ है। कुएँ में एक खरगोश मरा पड़ा था।

यहाँ से कुछ आगे है मुख्य किले का वह भाग जहाँ राजा और रानियाँ रहा करती थी। अब यहाँ मात्र फर्श ही शेष हैं, दीवारें गिर चुकी हैं। यहाँ से नीचे गुप्त सीढ़ियाँ थीं जो दूसरी ओर बाग में निकलती थीं। एक बिल्कुल सीधी पहाड़ी है जो नीचे दरिया से शुरू होती है। जहाँ गुप्त सीढ़ियाँ बनाई गईं उस ओर लगता है आगे तक कुछ जगह थी और रास्ता भी था जो अब पहाड़ी के गिर जाने से बराबर हो गया है। दूसरी ओर अभी भी जंगल है जहाँ बाग हुआ करता था।

यहाँ से दूर-दूर तक का दृश्य साफ नजर आता है। पश्चिम की ओर दरिया के पार दूसरी पहाड़ी है। कहा जाता है मुगलों ने इसी ओर से आक्रमण किया था। यही किले पर आक्रमण के लिए अपेक्षाकृत सुगम मार्ग है।

कुछ समय पहले तक किले में कहीं-कहीं, किन्हीं प्रकोष्ठों में काँगड़ा कलम के चित्र विद्यमान थे। मूर्तियाँ तो सबकी सब नीचे लाई जा चुकी हैं। किला भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण विभाग के पास है। इन मूर्तियों के लिए नीचे स्थल-संग्रहालय का निर्माण किया जा रहा है। विभाग के कार्यालय के दूसरी ओर प्रवेश द्वार से बाहर नहाने के लिए हमाम तथा बावड़ी हैं। पास ही पानी का एक चश्मा है जिसमें आज भी बारह महीने पानी भरा रहता है।

किले के ऊपर की पहाड़ी की चोटी पर महामाया मंदिर है। साथ ही शुरू हो जाता है पुराना काँगड़ा। पुराने काँगड़े का बाजार तथा आबादी अब उजड़ चुकी है।

क्या कहता है इतिहास !

कहा जाता है महाभारत के समय काँगड़ा का राजा सुशर्मा था जो महाभारत युद्ध में कौरवों के पक्ष में लड़ा। इस वंश के प्रथम राजा का नाम भूमिचंद था।

इतिहासकारों में सर्वप्रथम फरिश्ता ने नगरकोट या काँगड़ा का उल्लेख किया है। फरिश्ता के अनुसार कन्नौज नरेश रामदेव ने जिन पाँच सौ पहाड़ी राजाओं को हराया, उनमें एक नगरकोट भी था। पाँचवीं शताब्दी में 'राजतरंगिणी' में नगरकोट का 'त्रिगर्त' नाम से वर्णन मिलता है। चीनी यात्री हूनसाँग ने मार्च, 635 में जालन्धर का भ्रमण किया और चार मास तक राजा का मेहमान रहा। कन्नौज से वापसी पर 643 में यह यात्री पुनः

यहाँ आया।

मुस्लिम इतिहासकार उतबी (1009), अलबरूनी के बाद अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ तक इस किले व राजाओं का नाम आता रहा। यूरोपीय यात्रियों में थॉमस कोयोट (1615), घेवेनांट विजने तथा फोस्टर ने अपनी यात्राएँ काँगड़ा जिले से होकर की। मूरक्राफ्ट काँगडा होकर नहीं आया।

सम्पूर्ण उत्तरी भारत की शक्ति के प्रतीक नगरकोट के किले का वर्णन कनिंघम ने यूँ किया है :

"काँगड़ा किला बाण गंगा तथा माँझी नदियों के बीच की लम्बी भूमि पर अवस्थित है। इसकी दीवारें ऊपर की ओर दो मील के घेरे में हैं। किले की शक्ति लगभग 300 फुट ऊँची दीवार में है जो बाण गंगा के ऊपर सीधी खड़ी है। केवल शहर की ओर से ही किले में घुसा जा सकता है।''''सबसे ऊँचे स्थान में है महल जिसके नीचे लक्ष्मीनारायण और अम्बिका देवी के पाषाण मंदिर हैं तथा एक जैन मंदिर है जिसमें आदिनाथ की बड़ी प्रतिमा है। मंदिर परिसर एक गेट से बंद होते हैं जिसे दर्शनी दरवाजा कहते हैं। यहाँ से महल को जाने वाले द्वार को महलों का दरवाजा कहते हैं। प्रवेश द्वार का नाम जहाँगीरी दरवाजा है। इसका मूल नाम ज्ञात नहीं है, इसके नीचे अमीरी दरवाजा तथा लोहे का दरवाजा है।"

शाहजहाँ के समय के 'मासिर-उल-उमरा' में उल्लेख है :

"काँगड़ा किला एक ऊँचे पहाड़ पर स्थित है। यह अत्यन्त मजबूत है। इसमें तेईस छज्जे तथा सात द्वार हैं। इसका भीतरी घेरा एक कोस 15 जरेब लम्बा, एक चौथाई कोस 2 जरेब चौड़ा तथा 15 से 25 जरेब ऊँचा है। किले के भीतर दो बड़े तालाब हैं।"

'शाह फतेह-इ-काँगड़ा' में कहा है :

"''''इसकी इमारत बहुत सुन्दर है। यह इतना पुराना है कि कोई इसके निर्माण-काल के बारे में नहीं जानता। किला बहुत मजबूत है, इतना कि कोई राजा इसे जीत नहीं सका। पुरातन राजाओं के इतिहास के जानक़ार लोगों का कहना है कि प्रारम्भ से यह एक राजपरिवार के अधिकार में ही रहा। इसकी पुष्टि मुस्लिम राजाओं के इतिहास से होती है जिन्होंने इस देश पर राज्य किया। सुलतान ग्यासुदीन के शक्ति में आने (1320) से लेकर अकबर के पूरे हिन्दुस्तान के स्वामी बनने तक (1556), इस किले की 52 बार घेराबंदी की गई किन्तु कोई इसे जीत नहीं सका। दिल्ली के एक शासक फिरोज ने एक बार किले की घेराबंदी की किन्तु उनकी कोशिश नाकाम रही। अकबर के समय के एक अमीर हसन कुली खान ने, जो बंगाल का गवर्नर था, किले पर बड़ी फौज के साथ हमला किया, जब उसे पंजाब भेजा गया था। लम्बी घेराबंदी के बाद वह इसे हासिल करने में असफल रहा।"

आरम्भ से लेकर 4 अप्रैल, 1905 को आए भूकम्प तक इसे फौजी कैम्प के रूप में प्रयोग में लाया जाता रहा। भूकम्प से क्षतिग्रस्त होने के बाद यह एक सुंदर स्मारक

बनकर रह गया। किले के बारे में कहावत प्रचलित थी कि जिसके पास यह किला है, उसके पास सारी पहाड़ियाँ हैं।

किले की प्रतिष्ठा तथा प्रसिद्धि के कारण महमूद इसकी ओर आकर्षित हुआ। महमूद के आक्रमण तथा लूटपाट का उल्लेख उतबी की 'तारीखे-ए-यामिनी' तथा फरिश्ता के वर्णन में मिलता है :

"सन् 1009 में सिन्ध नदी पर ब्रह्मपाल तथा उसके पुत्र आनन्दपाल को हराने के बाद सुलतान भीमनगर किले तक गया जो ऊँची पहाड़ी पर अगम्य नदियों के पार था। वहाँ हिन्द के राजा, उस प्रान्त के राजाओं तथा श्रद्धालुओं द्वारा कीमती जवाहरात मूर्ति को चढ़ाए हुए थे। यहाँ इतना धन एकत्रित था जिसे न ऊँट उठाकर ले जा सकें, न कोई पास रख सके, न इसका अंदाज ही लगाया जा सके।...सुलतान ने अपनी फौजों से किले को घेर लिया। जब आसपास की पहाड़ियों को फौजों से भरा पाया और तीर किले के भीतर आने लगे तो किले के द्वार खोल दिए गए।"

फरिश्ता ने जिक्र किया है :

"सुलतान अपने धर्म-प्रचार के जोश में नगरकोट के हिन्दुओं के विरुद्ध आगे बढ़ा और मूर्तियाँ और मंदिर तोड़ डाले। किला, जिसे उस समय 'भीम किला' नाम से जाना जाता था, पहले ही लूटा जा चुका था।

भीम किला से 7,00,000 सोने के दीनार, 700 मन सोना तथा चाँदी, 200 मन शुद्ध सोना, 2000 मन चाँदी तथा 20 मन हीरे-मोती-जवाहरात महमूद द्वारा लूटकर गजनी ले जाए गए।"

कनिंघम ने कहा है कि सोने-चाँदी की कीमत लगाने का तो कोई हिसाब भी नहीं है। केवल सिक्कों की कीमत 17,50,000 पौंड से ऊपर थी।

महमूद गजनी द्वारा किले में छोड़ी गई सेना सम्भवतः 1,043 तक यहाँ रही। इसके बाद दिल्ली के तोमर वंश के शासक द्वारा हाँसी, थानेसर आदि स्थानों पर विजय पाने के बाद नगरकोट को भी मुगल शासकों से मुक्त कराया।

सुजानपुर टीहरा

सुजानपुर टीहरा। महाराजा की उपाधि से विभूषित काँगड़ा के अंतिम स्वतंत्र शासक संसारचंद की राजधानी।

राज्य जितना विशाल था, राजा जितना बड़ा, आज राजधानी उतनी ही जीर्ण-शीर्ण। हिमाचल के अधिकांश शासकों की राजधानियों की जो रूपरेखा है, वही सुजानपुर की भी है। सीमा पर एक ऊँचा द्वार। द्वार के भीतर शहर। शहर के साथ चौगान। ऊँची जगह पर महल, मंदिर। चम्बा, कुल्लू, नाहन, मण्डी सब जगह एक-सा है। वैसे ही द्वार, शहर, चौगान और महल। इन स्थानों में पुराने बसे शहर अभी भी बसे हुए हैं। बढ़े और फूले-फले भी हैं। सुजानपुर में ऐसा नहीं है। पहले इसे आस-पास के लोग शहर कहते थे, आज आसपास शहर उग आए हैं, सुजानपुर छोटा कस्बा रह गया है, गाँव की तरह उपेक्षित। रौनक के नाम पर, विकास के नाम पर चौगान के एक ओर सैनिक स्कूल है, बस। एक पुराना सरकारी स्कूल भी है, जो सही अर्थों में पुराना है। छोटा-सा बाजार। बाजार के पीछे रहने वाले अधिकांश ब्राह्मण परिवार जिनमें राजपरिवार के पुरोहित भी रहे हैं, डोगरा कहलाते हैं। व्यापार वाणिज्य से जुड़े हुए कुछ महाजन परिवार आज भी यहाँ दुकानदारी करते हैं।

राजधानी के मुख्य द्वार पर 'संकटमोचन द्वार' लिखा है। इसे भलेठ का दरवाजा भी कहते हैं। यह द्वार महलों से लगभग तीन किलोमीटर दूर दरिया के पास है। द्वार के आगे समतल जगह में बाग-बगीचे हैं। बाग खत्म होने पर नीचे चौगान आरम्भ होता है तो ऊपर पहाड़ी पर महलात। चौगान के दूसरे सिरे पर मंदिर हैं, नौण-बावड़ियाँ हैं। पुराने घर व आबादी है। यहीं नर्वदेश्वर का प्रसिद्ध मंदिर है जो काँगड़ा कलम का एक जीता-जागता उदाहरण है। दूसरी ओर व्यास नदी बहती है जिसका अधिकांश पानी अब पण्डोह में सतलुज में मिलाने के लिए रोक दिया है। पण्डोह से आगे खड्ड-नाले मिलकर यहाँ व्यास होने का वहम पैदा करते हैं।

ऊँची पहाड़ी पर स्थित महलों से नीचे चौगान और पुराना सुजानपुर दिखता है। ऊपर की जगह को टीहरा कहते हैं, इसलिए दोनों को मिलाकर पूरा नाम सुजानपुर टीहरा है। ऊपर खड़े होने पर दूर-दूर तक फैली पहाड़ियों के ऊपर धौलाधार की बर्फीली चोटियाँ नजर आती हैं। नीचे छोटी पहाड़ियाँ और समतल भूमि। उत्तर-दक्षिण,

पूर्व-पश्चिम, जहाँ भी नजर जाती है महाराजा संसारचंद का राज्य है, जो वास्तव में था भी। जैसा कि कई लोककथाओं में होता है, दाता ने कहा, देखो तुम्हें कहाँ तक नजर आता है। कथा-नायक ने बात का मर्म जाने बिना कुछ सीमा बताई। दाता ने फिर पूछा तो नायक ने कुछ और आगे बताया। अंत में दाता ने कहा कि जाओ, जहाँ तक तुम्हारी नजर जाती है, वहाँ तक सारी पृथ्वी तुम्हारी। कुछ ऐसा ही वरदान था राज संसारचंद को। किन्तु यह वरदान किसी दाता ने नहीं दिया, संसारचंद ने अपने बाहुबल से पाया था।

महलों के मुख्य द्वार पर दो बोर्ड लगे हैं। एक केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग की, हिदायतों की नीली पाटिका और दूसरा 'कटोचगढ़'। वह महल केन्द्रीय पुरातत्व विभाग का संरक्षित स्मारक है। कटोचगढ़ का बोर्ड इसे चुनौती देता हुआ-सा खड़ा है।

मुख्य द्वार इतना बड़ा है कि सवार सहित हाथी आराम से निकल जाए। द्वार के दोनों ओर दो मंजिली ड्योढ़ियाँ हैं। बाईं ओर की ड्योढ़ी में अभी भी बहुत कुछ सलामत है जबकि दूसरी ओर बीच से लेंटर टूट गया है।

ड्योढ़ी के भीतर खुले दालान के एक ओर गौरीशंकर मंदिर है तो दूसरी ओर बारादरी। दालान में एक बड़ा स्नानगृह है। जिसमें महाराजा पानी में रंग मिला होली खेलते थे। आगे महलों के खँडहर। और आगे जाकर एक और मंदिर।

गौरी शंकर मंदिर अभी सलामत है। मंदिर की बाहरी दीवार पर काँगड़ा शैली में सुंदर बेलबूटे निर्मित किए गए हैं। इस मंदिर से कुछ वर्ष पूर्व मूर्ति चुराने की कोशिश की गई थी किन्तु मूर्ति का आधार नट-बोल्ट से कसा होने के कारण उखाड़ी नहीं जा सकी।

इन महलों में कहाँ राजा रहते थे, कहाँ रानियाँ ! कहाँ दीवान, कहाँ सिपाही ! यह बताने वाला आज कोई नहीं। किन्तु विशाल बारादरी का वर्णन कई जगह मिलता है जिसमें बाईस दरवाजों से बाईस पहाड़ी राजा आते थे।

सिरमौर से लाहौर तक राज्य-विस्तार का सपना देखने वाला एकमात्र पहाड़ी महाराजा संसारचंद इन खँडहरों में पुनः जी उठता है। महाराजा का दरबार लगा है। बाईस पहाड़ी राजा बारादरी के बाईस दरवाजों से महाराजा को भेंट लिये प्रकट होते हैं। महाराजा रणजीत सिंह पर धावा बोलने की मन्त्रणा की जाती है और लाहौर तक सीमा बढ़ाने की योजनाएँ बनती हैं।

दूसरे दृश्य में महाराजा होली खेल रहे हैं। काँगड़ा कलम के चित्रकार उन्हें होली खेलते हुए चित्रित कर रहे हैं। नहाने के बाद संसारचंद कलाकारों, शिल्पियों, कथाकारों, गुणीजनों को भेंट देते हैं। प्रजा में दीन-दुखियों को अभयदान देते हैं।

किसने बनवाए ये महल, ये दुर्ग !

'हिस्ट्री ऑफ पंजाब हिल्ज स्टेट्स' में उल्लेख है कि राजा अभयचंद ने 1748 में

सुजानपुर में दुर्ग बनवाए। इसके बाद राजा घमण्डचंद ने व्यास नदी के किनारे नगर बसाया और राजधानी बनाई। घमण्डचंद एक शक्तिशाली और लोकप्रिय राजा था, जिसने काँगड़ा किले को छोड़ लगभग सारा राज्य अपने अधिकार में कर लिया। उसने कई दुर्ग बनाए और कलाकारों को संरक्षण दिया।

1774 में घमण्डचंद की मृत्यु के बाद पुत्र तेगचंद राजा बना, जिसने केवल एक वर्ष राज्य किया। इसके बाद संसारचंद 1775 में गद्दी पर बैठा। पिता की मृत्यु तथा गद्दी सँभालने के समय वह केवल दस वर्ष का था।

दस वर्ष की अल्पायु में राजा बनने पर संसारचंद ने राज्य की बागडोर कुशलता से सँभाली और उसने पूर्वजों द्वारा संरक्षित राज्य की रक्षा करते हुए 21 वर्ष की आयु में (लगभग 1787) गौरवपूर्ण पैतृक किला 'काँगड़ा किला' जीतकर पहाड़ों का सर्वशक्तिमान राजा बनने का गौरव प्राप्त कर लिया। चम्बा, मण्डी, कुटलेहड़, कलहूर राज्यों को हरा कर अपनी सीमाएँ बढ़ाई। 1786 में बैजनाथ मंदिर की मरम्मत करवाई।

1871 में मुरली मनोहर मंदिर, 1874 में गौरीशंकर मंदिर बनवाया। काँगड़ा कलम को संरक्षण दिया और कलाकारों, कथावाचकों, शिल्पियों को प्रोत्साहन दिया। अपने सैंतालीस वर्ष के शासन में लगभग बीस वर्ष तक निष्कंटक राज्य करते हुए संसारचंद ने दूसरा अकबर, हातिम और अपने समय के रुस्तम का खिताब पाया।

1803-4 में महाराजा संसारचंद ने दो बार मैदानों पर आक्रमण किया किन्तु दोनों ही बार रणजीत सिंह से हारना पड़ा। वह समय रणजीत सिंह के उदय का समय था। यदि दूसरा समय होता तो सम्भवतः संसारचंद का लाहौर तक पहुँचने का सपना साकार हो जाता।

बार-बार हमलों के कारण तथा हार के भय से पहाड़ी राजा संसारचंद के विरुद्ध हो गए। राजा बिलासपुर ने संसारचंद के विरुद्ध गोरखों को काँगड़ा पर आक्रमण का निमन्त्रण दिया। संसारचंद महल मोरिया में गोरखों से बहादुरी से लड़ा किन्तु हार हुई और रणजीत सिंह से सहायता लेने को बाध्य होना पड़ा जिसका अर्थ था रणजीत सिंह की पराधीनता।

यदि राजा बिलासपुर गोरखों को आक्रमण के लिए बुलावा न देता और उधर रणजीत सिंह की शक्ति का उदय नहीं होता, तो यह पहाड़ी शासक अपनी राज्य-सीमाएँ पहाड़ों से भी आगे ले जाता।

इस हार के बाद निरंतर गोरखों द्वारा पहाड़ों को लूटा गया। समस्त पहाड़ी शासक सिक्ख शासकों के अधीन हुए। महाराजा संसारचंद को अपने अंतिम दिन कष्ट में बिताने पड़े।

विलियम मूर क्राफ्ट तथा जार्ज ट्रीबेक ने अपने संस्मरणों (जून 1820) में लिखा है :

"कुछ वर्ष पूर्व संसारचंद सतलुज से लेकर सिन्धु नदी तक के क्षेत्र के सबसे

बलवान राजा थे। सतलुज से कश्मीर तक के राजा उनके अधीन थे, उन्हें कर देते थे। संसारचंद की माली हालत बहुत ही अच्छी थी। 35 लाख रुपए की उनकी वार्षिक आय थी। अब वे गरीबी के साथ दिन काट रहे हैं.... ।"

चार वर्षों तक गोरखों द्वारा उत्पीड़न का वर्णन उन्होंने यूँ किया, "इन अभागे दिनों की स्मृति पहाड़ के इतिहास में एक सीमा-चिह्न के समान है। देश का कुछ हिस्सा तो उनके (गोरखों के) अधिकार में था, कुछ जिसमें काँगड़ा का दुर्ग और अन्य कुछ किले शामिल थे, कटोचों के । एक दल दूसरे दल के अधिकारगत इलाके पर इसलिए लूटमार करवाता था कि वह उसके साधनों को कमजोर कर दे। जनता किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अड़ोस-पड़ोस के राज्यों में भाग गई। कुछ चम्बा में, कुछ जालन्धर दोआब में। तीन वर्षों तक अराजकता की यह स्थिति बनी रही। काँगड़ा की इस उर्वर घाटी में फसल का एक पत्ता तक पैदा न हुआ। नगरों में घास जम आई थी तथा नादौन की सड़कों पर सिंहनियों के बच्चे पैदा होने लगे थे।"

सुजानपुर टीहरा के खँडहर आज महाराजा संसारचंद के अंतिम दिनों की भाँति दीन-हीन दशा में खड़े हैं, स्वर्णिम अतीत की याद दिलाते हुए।

शिमला : डायरी के पन्नों में

शिमला : 31 दिसम्बर, 1989

माल के मुहाने पर नई उम्र के अनब्याहे छोकरे नाच रहे हैं। 'तूतक-तूतक-तूतक-तूतियाँ…' के बोल पुरजोर आवाज पर बज रहे हैं। पंजाबी शान से न नाचकर हर कोई अपनी-अपनी तान में नाच रहा है। ऊपर खड़ा एक लड़का म्यूजिक डायरेक्टर की तरह तेजी से बाँहें हिलाता हुआ जैसे नाच करवा रहा है। नाचते-नाचते कोई गिर जाता है तो सड़क पर लोटने लगता है। माल की रेलिंग पर सैलानियों का समूह नीचे झाँक रहा है।

थोड़ी देर में टलने की कोशिश करते सिपाही दूर खड़े हो जाते हैं। इनके हाथों में लगभग सवा-सवा फुट के डण्डे हैं। आखिर एक सिपाही जो शायद ओहदे में दूसरों से भारी था, आगे बढ़ता है। दूसरे पीछे-पीछे सरकते हैं, टाँगें टेढ़ी-मेढ़ी कर घिसटते हुए। सिपाही दुकान में घुसने में कामयाब हो जाता है और एकदम बाजा बन्द करवा देता है। लड़के जहाँ के तहाँ फ्रीज हो जाते हैं। फिर जैसे होश आने पर एकाएक चिल्लाते हैं : "ओए! ओए!" झटके से सब अपनी जैकेट पहनने लगते हैं जो उन्होंने सड़क के कोने में कूड़े के ढेर की मानिंद खोलकर फेंक रखी थीं।

पता नहीं कब पनपी यह 31 दिसम्बरी संस्कृति। किन्तु 25 और 31 दिसम्बर के हुड़दंग ने यहाँ गत तीन-चार वर्षों से ही जन्म लिया है।

इस जश्न को देखने के बाद अंग्रेज हाकिमों और उनके अनुचरों की तस्वीर उभरती है। बड़े दिन को गिरजाघरों में सलीके से सजे-सँवरे, नपे-तुले कदम बढ़ाते अंग्रेज और सफेद दाढ़ी वाले शांताक्लोज का अवतरण! अंग्रेज हाकिम…बढ़िया शराब की बोतलें गटककर भी तने हुए। कुछ वर्षों बाद उनके अनुचर वही शालीनता ओढ़े हुए …और अब उनके काले साए!

अंग्रेजों के साए आज भी उन पुरानी बुलंद इमारतों में घूमते हैं। ऊँची-ऊँची इमारतें। मजबूत दीवारें अतीत को बोलती हुई।

30 अगस्त, 1817

स्कॉच अधिकारी 30 अगस्त, 1817 की अपनी डायरी में लिखते हैं, "…शिमला

एक मझोला-सा गाँव, जहाँ राहगीरों को पानी पिलाने के लिए एक फकीर रहता है...हम जाखू की ओर ठहरे और वहाँ से बहुत मनोरम और सुन्दर दृश्य देखा।" ए. विलसन का मत है कि शिमला की खोज उन स्कॉच अधिकारियों ने की जो सतलुज घाटी के सर्वे के लिए आए थे। दूसरा मत यह भी है कि 1816 में गोरखा सेना को कोटगढ़ ले जाते समय एक अंग्रेज अफसर द्वारा यह गाँव खोजा गया जो घने जंगल और जानवरों से भरा था।

'बड़ी सरकार' के लिए समर-कैपिटल की खोज चाहे किसी ने भी की हो, उसके पहले यह एक छोटा-सा पहाड़ी गाँव था—वर्तमान रिपन अस्पताल से ऊपर और रोमन-कैथलिक चर्च के नीचे।

1815 में इस गाँव को जींदराणा से लेकर राजा पटियाला को नेपाल की लड़ाई में अंग्रेजों का साथ देने के लिए दिया गया। आज के शिमला को पुरानी श्यामला देवी के नाम से भी जोड़ा जाता है जो जाखू में रहने वाले एक साधु द्वारा पूजी जाती थी।

भावी शिमला कहलाने वाला भू-भाग राजा पटियाला और राजा क्योंथल के अधिकार में था। 1824 से ही यूरोपीय इन राजाओं से अनुमति लेकर रहने लगे। 1830 में हिल स्टेट्स के पहले पोलिटिकल एजेंट मेजर केनेडी (जो सुबाथू में थे) ने राजा क्योंथल, राणा संसार सेन से 13 गाँवों की एक पहाड़ी ली। यहाँ केनेडी हाउस का निर्माण हुआ, जो शिमला में बनने वाला पहला भवन था।

यूँ तो शिमला में पुरानी वास्तुकला की इमारतों की भरमार है जो आज भी शिमला की एक अलग पहचान देती हैं। केनेडी हाउस के अतिरिक्त ऑकलैण्ड हाउस, चेप्सली, बेंटिंग कैसल, वुडविला, गोर्टन कैसल, रोथनी कैसल, वाकर अस्पताल तथा पश्चिमी कमान की भव्य इमारतें खड़ी हैं—आज भी अपने-अपने इतिहास का बोझ लिये। विश्व काटन स्कूल, ऑकलैण्ड हाउस स्कूल, सेंट एडवर्ड जैसी विशिष्ट संस्थाएँ आज भी चली हुई हैं। रिज का चर्च और कैथोलिक चर्च की घंटियाँ आज भी बजती हैं।

23 जुलाई, 1888

लेडी डफरिन ने अपनी डायरी में लिखा है : "हम नए वायस रीगल लॉज में रहने के लिए वस्तुतः आज (23 जुलाई, 1888) गए...।"

इन्होंने अपनी डायरी में भवन-निर्माण के समय लार्ड डफरिन के साथ कार्य के निरीक्षण के लिए बार-बार जाने का उल्लेख किया है। लार्ड डफरिन हर सुबह-शाम कार्य की प्रगति देखते थे। भवन की ड्राइंग उन्होंने स्वयं संशोधित की।

भवन का वास्तुकार मि. हेनरी था और मि. हैबर्ट तथा मि. क्लेअर सहयोगी अभियन्ता थे। इस भव्य भवन के मुख्य ब्लाक में तीन मंजिलें हैं। किचनविंग पंजमंजिला है जिनमें तीन मंजिलें भूमिगत हैं। भवन के ऊपर एक छोटा-सा टावर है

जहाँ वायसराय की उपस्थिति का सूचक झण्डा लहराता था।

एलिजाबेथन शिल्प में बने इस भवन में एक-सा पत्थर इस्तेमाल हुआ है। पत्थरों में नक्काशी न होते हुए भी यह गरिमामय लगता है। दीवारों का पत्थर खच्चरों पर कालका के निकट पहाड़ियों से लाया गया था। भवन के निर्माण पर उस समय लगभग सोलह लाख रुपए व्यय हुए।

भवन के भीतर काष्ठकला अद्वितीय है। टीक तथा देवदार की सीढ़ियाँ, अखरोट की छत और उसमें की गई नक्काशी मनमोहक है। बालरूम तथा ड्राइंगरूम में रेशम के भारी पर्दे लहराते थे। डाइनिंग रूम की सज्जा किसी भी आगन्तुक को आकर्षित करती थी। जो राजकीय भोज के समय देखते ही बनती थी। भवन की भीतरी साज-सज्जा मैसर्ज मेपल एण्ड कं. द्वारा की गई थी।

यद्यपि ब्रिटिश युग के बने सभी भवन सिचुएशन के लिहाज से बहुत ही उत्कृष्ट स्थानों में बने हैं तथापि यह भवन शिमला में बहुत गरिमामय और प्रभावशाली स्थान रखता है। एक ओर बर्फ से ढकी पहाड़ियाँ और दूसरी ओर मैदानी भाग। भवन के आसपास फूलों-भरे लॉन।

आजकल इस भवन में 'भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान' है। संस्थान द्वारा वायसराय तथा लेडी वायसराय के कमरों को एक संग्रहालय के रूप में सुरक्षित रखा है जिसमें बिस्तर, चारपाई, फर्नीचर तथा कालीन वही हैं जो उस समय थे।

जून, 1888

मिस एडन ने 9 जून, 1838 शिमला में एक नाटक देखा। वे लिखती हैं : "पिछली रात हम नाटक देखने गए। शिमला में एक छोटा-सा थियेटर है, छोटा और गर्म, कुछ-कुछ गन्दा किन्तु फिर भी ठीक था।"

शिमला देश का सबसे पुराना रंगमंच है सम्भवतः। शिमला का एमेच्योर ड्रामेटिक क्लब भारत में रंगकर्म का सबसे पहला संस्थान है। पहले नाटक लोअर बाजार में भी होते रहे। शिमला कम्युनिटी द्वारा असेम्बली रूम्ज में एक ओर थियेटर बना हुआ था। 1852 में एक मंचन के समय छत गिर गई किन्तु कोई हादसा नहीं हुआ।

इसके बाद थियेटर को 'एबेविल' नाम के घर में बदल दिया गया। 1869 में यहाँ सुन्दर स्टेज भी बनाया गया।

इसके बाद बहुत से मंचन अंग्रेज अधिकारियों के बँगलों में भी होते रहे।

एमेच्योर ड्रामेटिक क्लब या ए. डी. सी. का गठन 1888 में कर्नल हैंडर्सन के आवास में हुआ, जहाँ अट्ठारह व्यक्ति उपस्थित थे। ए. डी. सी. की पहली बैठक 21 मई, 1888 को हुई। उसी वर्ष क्लब को 1860 के अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत करवाया गया। उस समय क्लब में 20 सदस्य थे जो 1904 तक 350 हो गए। मंचन की आय

से समय-समय पर थियेटर की मरम्मत की जाती रही। 1896 तक कैरोसीन तेल के लैम्पों से रोशनी की जाती थी। एक बार पर्दा गिरने पर लैम्प भी गिर गए और आग लग गई। यद्यपि आग बुझा दी गई तथा अब बिजली की फिटिंग की आवश्यकता महसूस की गई। बिजली की व्यवस्था में लगभग 15,000 रुपए का व्यय हुआ और यह बिजली मेसोनिक लॉज तथा टाउन हॉल के बालरूम में भी प्रयोग में लाई जाने लगी।

आडिटोरियम में समय-समय पर सुधार किया जाता रहा।

1904 के आसपास ए. डी. सी. म्युनिसिपैलिटी को 3,000 रुपए प्रतिवर्ष थियेटर के प्रयोग के लिए देता था। नया थियेटर जून, 1887 में बना और मई, 1889 में आग की भेंट चढ़ गया। इस आग में मुख्य बाजार का पूर्वी भाग भी जल गया।

ऐतिहासिक गेयटी थियेटर में प्रथम 'टाइम विल टैल' 9 जून 1887 को खेला गया। इस नाटक के किरदार थे कर्नल स्टीवर्ट, कर्नल हैंडर्सन, कैप्टन संडाल, डेविस, मिस कार्टर और मिसेज फ्लेचर।

इस समय भी गेयटी थियेटर शहर के लिए एकमात्र थियेटर है यद्यपि अब इसमें पूरे दर्शक समा नहीं पाते। गेयटी थियेटर का मंच तथा ग्रीनरूम इस समय भी ए. डी. सी. के पास लीज पर हैं।

वैदिक सुरा

'धर्मयुग' के 14 दिसम्बर, 1980 अंक में श्री भरतरक्षक के 'क्या वैदिक सोमलता और सोमरस का रहस्य खुल गया !' तथा कृष्णचन्द्र सगर के 'कैसे तैयार किया जाता है सोमरस !' लेखों में सोमलता तथा उसे कूटने के लिए प्रयोग में लाई जाने वाली ओखलियों की चर्चा हुई। इस पर 'धर्मयुग' में 'सम्पादक के नाम पत्र' लिखा, जो प्रकाशित भी हुआ। इस पत्र में मुख्य मुद्दा था—क्या सोमलता केवल एक ही लता थी या सोमरस बनाने के लिए बहुत-सी जड़ी-बूटियों को प्रयोग में लाया जाता था तथा कुल्लू में तैयार सोमरस व पर्वत-शृंगों पर उगने वाली सोमलताएँ उस वैदिक पद्धति का प्रतीक तो नहीं ! उच्च शृंगों से लाई लताओं तथा सुर तैयार करने के समय विभिन्न प्रक्रियाओं को करीब से देख पाने का मौका नहीं मिल पाया, अतः उस समय विस्मृत लेख नहीं लिखा जा सका।

शृंगे शिशनो अर्षति—ऋग्वेद का उल्लेख है। सोमलता पर्वत-शृंगों पर पाई जाती थी। कुल्लू में तैयार मादक पेय 'सुर' के लिए भी जड़ियाँ ऊँचे पर्वत शिखरों से लाई जाती हैं।

ऋग्वेद ने सोम का अनेक बार गायन किया है। ऋग्वेद के नवें मण्डल में सोम का भरपूर उल्लेख आता है। वनस्पतियों के राजा, औषधियों के सम्राट, सोम का उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों में भी मिलता है।

सोमरस को बनाने की विधि, जो हमारे इन धर्मशास्त्रों में वर्णित है, ठीक उसी प्रणाली से कुल्लू में 'सुर' तैयार की जाती है। प्राचीन समय में इसे फलक नाम के पात्र में रखा जाता था। काटकर मूसलों से कूटा जाता था। कूटने और साथ में पानी मिलाने की प्रक्रिया में मन्त्रोच्चारण भी किया जाता था। कूटा हुआ सोम आघवनीय नाम के मिट्टी के पात्र में रखा जाता था। पात्र में पानी डाल इसका रस निचोड़ लेते थे। इसे अब छानकर अन्य पात्र में रखा जाता।

कुल्लू में प्रचलित इस मादक पेय को तैयार करने की भी यही वैदिक रीति है।

इस पवित्र पेय को सुर कहा जाता है। यह सुर चम्बा की ओर गद्दी लोगों द्वारा भी घर-घर निकाली जाती है और विशेष समारोहों में सामूहिक रूप से पी जाती है। कुल्लू में इसे पवित्र पेय माना जाता है जिसका देवता को प्रसाद चढ़ता है, यद्यपि कुछ देवताओं

में इसका चलन नहीं है। किन्तु जिन देवताओं के यहाँ यह मान्य है, वहाँ इसके पात्र को देवता के पास रखा जाता है। देवता के प्रांगण में, भण्डार में ही इसे तैयार किया जाता है। देवता को चढ़ाने के बाद ही इसे लोगों में वितरित किया जाता है। देवता के उत्सवों में देवता के कर्मचारी इसे विधिवत् तैयार करते हैं और प्रसाद के रूप में बाँटते हैं। इन उत्सवों में यह घरों में भी तैयार की जाती है और सामूहिक रूप से घर के सदस्यों व अतिथियों को पंक्ति में बिठा वितरित की जाती है। पुरुष व महिलाएँ, दोनों समान रूप से इसका सेवन करते हैं। एक देवता के उत्सव पर पहाड़ की चोटी पर बसा एक गाँव पूरा का पूरा सुर की गंध से महका हुआ था। सुरगंधा इस गाँव में हर आँगन में लोग दाल-भात की तरह पंक्ति में बैठे सुरापान कर रहे थे। यहाँ कुछ वैसा ही दृश्य उपस्थित था जैसा पौराणिक ग्रन्थों के चित्रों में सुर-असुरों को सुरापान करते हुए दिखाया जाता है।

'सुर' अन्य प्रकार की देसी शराब या 'लुगड़ी' के विपरीत एकमात्र पवित्र पेय है जो देवता को चढ़ता है। 'लुगड़ी' एक आम और अधिक प्रचलित पेय है जो सुर से निम्न कोटि का समझा जाता है।

यह पेय देवता के कारज के समय, जाच (मेला) के समय तथा ब्याह के अवसर पर तैयार किया जाता है।

इसे बनाने के लिए कई जड़ी-बूटियों को प्रयोग में लाया जाता है, जो ऊँचे जोतों, शिखरों पर पाई जाती हैं। ऐसा कहा जाता है कि ऊँचे पर्वतों पर इन जड़ी-बूटियों वाले स्थानों में कोई सुकुमार बालक या नारी नंगे पाँव चले तो वहीं मदहोश हो होश खो बैठते हैं। ऐसे भी ऊँचे जोतों को पहली बार लाँघनेवाला इन जड़ियों के खुमार से नशे में लड़खड़ा जाता है, या उसके सिर में चक्कर आ जाता है।

वैसे भी इन जड़ी-बूटियों के बारे में पुराने समय से अनेक दंतकथाएँ प्रचलित हैं। यथा—ये रात को चमकती हैं, नाना प्रकार के रूप धारण करती हैं। एक औषधि किस्म की जड़ी को बंदूक से मारने लगे तो निशाने के आगे गाय दिखने लगी या नारी दिखने लगी आदि। कुल्लू के पार थरकू गाँव में एक बार एक मैदान को समतल करती बार लोगों को ऐसी जड़ी मिली, जो उनके अनुसार रात को चमकती थी। मैं भी उसकी जड़ें घर लाया किन्तु कई बार रात के अँधेरे में देखने पर वह चमकती हुई नजर न आई।

ऊँचाइयों से, कठिनाई से लाई जाने वाली इन जड़ियों में से कुछ, जो सुर बनाने में प्रयुक्त होती हैं, इस प्रकार हैं—ओसटली, निम्बली, चटकारी, करारी, गुड़ल, शकोरी, घुमण, टकोरी, गिद्धामूसल, उम्बलीडोही, शौरी, बूढ़ी रा लोगड़, मटोषण, टुम्बलमुँही, माहुरा, मटौशल, शाउंडी, ठाठीमंग, डोरीगाह आदि। इनमें माहुरा और मटौशल दो जड़ियाँ प्रमुख हैं। शेष में जितनी उपलब्ध हों, उतनी से ही काम चला लिया जाता है। मटौशल नाम की जड़ी को वैसे ही डाला जाता है जैसे सब्जी में नमक डाला जाता है। इसे डालते समय मन्त्र का प्रयोग भी किया जाता है।

अब इन समस्त जड़ियों की (वस्तुतः ये उक्त सूची से अधिक हैं) पहचान करनेवाले कुछेक बुजुर्ग ही शेष हैं। अब प्रायः ये समस्त जड़ियाँ लाई भी नहीं जातीं। जोत से इन्हें लाने व सोम तैयार करने का कार्य देवताओं के यहाँ प्रायः बीस भादों को किया जाता है। बीस भादों के ऊँचे जोतों के जलाशयों जैसे शैला सौर, रोहतांग, भृगु आदि में स्नान का पर्व भी होता है। इसी दिन ये जड़ियाँ लाई जाती हैं।

इन जड़ी-बूटियों की जड़ों, पत्तों आदि को लकड़ी पर बारीक काटा जाता है। काटने के बाद इन्हें ओखली में कूटा जाता है। इन ओखलियों का प्रयोग विशेष रूप से इसी के लिए नहीं होता बल्कि धान आदि कूटने के लिए भी ये प्रयोग में लाई जाती हैं। अब इसमें जौ का आटा मिलाया जाता है। कई बार इसमें तरम्होड़ी (काटने वाली मक्खी : भिड़) भी डाली जाती है।

अब इस लुगदी की रोटी तैयार कर सुखाई जाती है। एक देवता की फागली में मैंने पुजारी के घर गोल मक्की की रोटी के आकार की कई रोटियाँ देखी जो इस पद्धति से तैयार की गई थीं। इसे 'ढेली' भी कहा जाता है।

इस रोटी के टुकड़े-टुकड़े कर कोटरे के आटे में पानी मिलाकर डाले जाते हैं ताकि लेही-सी बन जाए। इसे अब एक पात्र में डाला जाता है जिसे 'सुरेढ़ी' कहते हैं। गर्म स्थान में इस पात्र को रखकर सुर तैयार हो जाती है। इसमें ऊपर-ऊपर की सुर बढ़िया समझी जाती है।

सुर तैयार करते समय देवता के कर्मचारी भूखे रहते हैं। जड़ियाँ लाने के समय भी भूखे पेट रहना होता है।

सुर के प्रादुर्भाव के विषय में एक वृद्ध ने कथा सुनाई कि एक चिड़िया पुल के नीचे बैठी थी। एक आदमी ने चिड़िया से पूछा कि यहाँ क्यों बैठी है? चिड़िया ने रौब से कहा कि वह इस पुल को थामे है। यदि वह यहाँ से हट जाए तो पुल गिर जाए। असल में वह सुर में डाली जाने वाली जड़ियाँ खाए हुए थी।

यह कथा ऋग्वेद की इस उक्ति से मिलती है—

"हन्ताह पृथिवीमियां नि दधानिह वे हवा। कुवित् सोमस्यापामिति।"

—धरती को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रख देने की बात उस चिड़िया की ही भाँति है।

सोमरस को स्वास्थ्यवर्धक, स्फूर्तिदायक औषधि बताया गया है।

सोमलता को लेकर भारत व विदेशों में अनुसंधान हुआ है, किन्तु अभी तक यह सिद्ध नहीं हो पाया कि अमुक लता ही सोमलता है।

वास्तव में यह सोमलता एक न थी बल्कि सोमरस अनेक जड़ी-बूटियों से बनता था। ये जड़ी-बूटियाँ स्वास्थ्यवर्धक औषधि तो हैं ही, मादकता देने से आनन्ददायक भी हो जाती हैं। स्नायविक दुर्बलता को हरने वाली इन जड़ियों से शरीर चैतन्य और मन निडर बनता है।

कुछ भारतीय विशेषज्ञों ने एफेड्रा नाम का जिम्नोस्पर्म माना है। इस जिम्नोस्पर्म की जातियाँ हिमालय में पाई जाती हैं। यह एक औषधि के रूप में भी प्रयुक्त होती है। इसी तरह कुछ वनस्पतियों को सोमराजा, सोमिदा, सोम्बू आदि कहा जाता है।

कुछ विद्वानों ने इसे सारकोस्टेमा एसिडम नाम का पौधा माना है। यह एक बिना पत्तियों वाला पौधा होता है।

प्रायः इसे बिना फूल और पत्तों के माना जाता है। सम्भवतः इसी कारण से इसकी पहचान कर पाना कठिन है। पर्वतों पर इस प्रकार के पौधों की पहचान किसी जानकार को ही होती है। ऐसी जड़ियों का सेवन करने से वृद्ध साधुओं के जवां हो जाने की दंत-कथाएँ प्रचलित हुई हैं। प्रमुखतः सोम को हिमालय से लाया जाने वाला ही माना गया है जो नमी और गीले पर्वतीय प्रदेशों की उपज है। यह सम्भव है कि तरह-तरह के सोमरस बनाए जाने के लिए मैदानी जड़ियाँ भी प्रयोग में लाई जाती हों।

यदि यह सुर कुल्लू में चली रहती है और इसमें प्रयुक्त जड़ियों को पहचानने वाले व्यक्ति भी रहते हैं तो शोधकर्ता इन जड़ियों की खोज इस दिशा में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त कर सकते हैं।

महीन कारीगरी का कमाल : काँगड़ा कलम

मुगल बादशाहों की कला व वास्तुकला में रुचि ने चित्रकला जैसी उत्कृष्ट और महीन कला को जन्म दिया। मुगल काल में दिल्ली भारत की कला व संस्कृति का केंद्र बनी। बाबर में जहाँ साहित्यिक अभिरुचि थी, वहाँ अकबर (1556-1605) ने मुसलिम रूढ़िवादिता से ऊपर उठ कर कलाओं को संरक्षण दिया। वास्तव में मुगल कलम का जन्म अकबर के कला-प्रेम व संरक्षण के कारण ही हुआ। जहाँगीर (1605-1626) ने भी संरक्षण देना जारी रखा और कला की ओर अनुरागी रहा। शाहजहाँ (1626-1658) यद्यपि वास्तुकला की ओर समर्पित रहा तथापि चित्रकला को भी कम महत्त्व नहीं दिया। शाहजहाँ के पुत्रों में दारा शिकोह कला-अनुरागी था। औरंगजेब के बाद अनेक मुस्लिम शासकों के समय यह कला परंपरागत बन चुकी थी। औरंगजेब यद्यपि कट्टर मुस्लिम था, वर्षों से चली आ रही कला उस काल में भी किसी-न-किसी रूप में जीवित रही। इस समय तक हिंदू कलाकार भी मुगल शैली की चित्रकारी में पारंगत हो गए थे और इसका आवागमन एक से दूसरे राज्य में होता रहा।

एक यूरोपीय यात्री फिंच ने लाहुल किले के भित्तिचित्रों में जहाँगीर के साथ खड़े राजसी व्यक्तियों ने नूरपुर के राजा वासुदेव (1580-1613) का एक चित्र देखा। संभवतः ऐसे चित्र जो मुगल दरबार में बनाए जाते थे, पहाड़ी राजाओं द्वारा अपने राज्य में वापसी पर लाए जाते होंगे। इस तरह से मुगल दरबार की कला के साथ पहाड़ी रियासतों की कला का तालमेल समय के अंतराल के साथ बैठता गया।

नूरपुर के राजा वासुदेव ने मेवाड़ के राजा के साथ युद्ध में मुगल सेनाओं का प्रतिनिधित्व किया। अतः वासुदेव राजस्थान की संस्कृति तथा वहाँ के कलाकारों के संपर्क में आया। वासुदेव कृष्णभक्त राजा था। कहा जाता है, उसने राजस्थानी शिल्पकार नूरपुर बुलाए और उनसे नूरपुर किले में मंदिर बनवाया। यह कृष्ण मंदिर राजस्थानी शिल्पियों द्वारा बनाया गया। यद्यपि वासुदेव के शासनकाल में राजदरबार में किसी कला-शिल्पगृह की पुष्टि नहीं होती।

कार्ल खंडालवाला के अनुसार राजस्थान में इस शिल्प का आरंभ 1605 में मुगल दरबार की प्रेरणा से हुआ। पहाड़ी कलम के मुख्य केन्द्र रावी के किनारे बसोहली, बसोहली के पूर्व में जसरोटा, मानकोट, जम्बू, चंबा, काँगड़ा में नूरपुर, हरिपुर,

गुलेर, सुजानपुर, टिहरा, आलमपुर, नादौन तथा मंडी, सुलतानपुर व शांगरी (कुल्लू), बिलासपुर और अर्की हैं। सीब्बा, नालागढ़, नाहन, जुब्बल, दतारपुर आदि में पहाड़ी कलम गौण रूप में रही।

पहाड़ी कलम का शिल्पगृह 1678 में राजा किरपालसिंह के सिंहासनारूढ़ होने पर ही बना। इससे पूर्व पहाड़ी राजाओं में कोई शिल्पगृह नहीं था। बसोहली में राजा संग्रामसिंह पाल (1635-1673) के समय किसी दरबारी शिल्पगृह की पुष्टि नहीं होती है किंतु संग्रामसिंह पाल के शासनकाल के अंतिम दिनों में प्रसिद्ध तांत्रिक चित्रमाला, नायिका- भेद तथा रसमंजरी चित्रमाला मिलती है। जो इस समय बोस्टन संग्रहालय, विक्टोरिया तथा एलबर्ट संग्रहालय श्रीनगर में है। ये सभी कलाकृतियाँ लगभग एक ही समय की हैं।

कला समीक्षकों के अनुसार पहाड़ी कलम का किसी भी पहाड़ी दरबार में विधिवत् शिल्पकला का अस्तित्व राजा किरपाल सिंह के समय ही बना। जब किरपालसिंह ने शासन सँभाला उस समय मेवाड़ के राजा राजसिंह (1650) का राज्य था। राजा राजसिंह भी सचित्र पांडुलिपियों का बड़ा अनुरागी था।

कार्ल खंडालवाला के अनुसार बसोहली कलम 1740 तक एक मानक कला के रूप में प्रतिष्ठित रही। बसोहली कलम में भागवत चित्रमाला (1750), रामायण चित्रमाला (1752) प्रसिद्ध हैं। इन दोनों चित्रमालाओं का समय दो दशकों के भीतर ही माना जाता है।

गुलेर को विद्वानों ने उन पहाड़ी राज्यों में माना है जिन्होंने मुस्लिम कलम का अनुकरण किया। गुलेर ही काँगड़ा कलम का जनक माना जाता है। यहीं प्रसिद्ध चित्रकार पंडित सेउ मुसब्बर तथा उसके परिजन व वंशज हुए, जिन्होंने पहाड़ी रियासतों में पहाड़ी कलम में कीर्तिमान स्थापित किए। काँगड़ा कलम में गुलेर की भूमिका के विषय में आर्चर ने कहा है : "18वीं शताब्दी में पहाड़ी कलम के विकास की दिशा में गुलेर राज्य ने निर्णायक भूमिका अदा की। यहाँ न केवल अतिकोमल और आकर्षक स्थानीय कला का विकास हुआ, बल्कि लगभग 1780 में गुलेर शैली का अंतिम सोपान काँगड़ा में गया, जो अपने आप में काँगड़ा शैली बना। गुलेर शैली केवल पहाड़ी काम के 38 छोटे केन्द्रों में से एक ही नहीं है, यह पंजाब हिल्ज में सभी महान शैलियों का मूल और जननी है।"

गुलेर राज्य की स्थापना काँगड़ा के राजा हरिसिंह द्वारा 1405 में की गई। राजा हरिसिंह के शिकार पर जाने और खो जाने के बाद काँगड़ा का राजा उसका छोटा भाई बना दिया गया। एक व्यापारी द्वारा राजा को कुएँ से निकालने के बाद हरिसिंह ने काँगड़ा जाना उचित नहीं समझा और गुलेर में राज्य स्थापित किया।

गुलेर के राजाओं का दिल्ली दरबार में आना-जाना होता रहा, अतः मुगल कलम ने गुलेर तक की यात्रा की। कार्ल खंडालवाला के अनुसार राजा राजसिंह

(1675-1695) के समय तक कोई चित्र नहीं मिलता। राजा राजसिंह तथा उसके पिता राजा रूपचंद का पोर्ट्रेट (1695) राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में मिलता है। आरंभ में यह कला पोर्ट्रेट बनाने तक ही सीमित थी। डॉ. एम. एस. रंधावा ने माना है कि राजा दलीपसिंह (1695-1743) के समय राजदरबार में कलाकार अवश्य काम कर रहे थे। 'दलीप रंजनी (1707)' इनकी उपस्थिति का आभास होता है। लगभग (1777) के काल के दलीपसिंह के मुगल तथा गुलेर की मिश्रित शैली में पोर्ट्रेट मिलते हैं। राजा दलीपसिंह के पुत्र बिशनसिंह की मृत्यु के बाद उसका भाई गोवर्धनचंद गुलेर का शासक बना। यह कला का संरक्षक था। गोवर्धनचंद का विवाह बसोहली की राजकुमारी से हुआ, जिससे दोनों राज्यों के कलाकारों का आवागमन हुआ। गोवर्धनचंद के बाद प्रकाशचंद (1773-1790) के शासन काल में भी यह संरक्षण जारी रहा।

गुलेर कलम की प्रारंभिक कृतियाँ पंडित सेउ मुसब्बर तथा उसके पुत्रों मानक तथा नैनसुख द्वारा बनाई गई। नैनसुख ने जम्मू के बलवंत देव के यहाँ भी कार्य किया। मानक ने गुलेर और बसोहली दोनों स्थानों में काम किया।

गुलेर की कांगड़ा कलम के विकास का प्रथम चरण माना जाता है। गुलेर राज्य से कलाकारों के चंबा, सुजानपुर टीहरा में जाने से दूसरा चरण आरंभ हुआ।

पंडित सेउ मुसब्बर परिवार

कार्ल खंडालवाला ने 'एन. सी. मैहमा संग्रह में पहाड़ी मिनिएचर पेंटिंग्ज़' का विवेचन करते हुए पंडित सेउ मुसब्बर के परिवार के कलाकारों पर प्रकाश डाला है।

पंडित सेउ के दो पुत्र थे—मानक और नैनसुख। मानक का पुत्र कुशाला या खुशाला था। नैनसुख के कामा, गोधू, निक्का तथा रामलाल (या राँझा) हुए।

पंडित सेउ का कोई पोर्ट्रेट नहीं मिलता। केवल एक छोटे स्केच पोर्ट्रेट चंडीगढ़ संग्रहालय में है जिस पर सेउ अंकित है। नैनसुख का पोर्ट्रेट कभी डीलरों के माध्यम से लाहौर संग्रहालय में पहुँचा था, जो अब वहाँ नहीं है। नैनसुख की दो पेंटिंग्ज राष्ट्रीय संग्रहालय में हैं। इनमें से एक 'म्यूजिक पार्टी' है जो जसरोटा में 1748 में बनाई गई और दूसरी राजा बलवंतसिंह (जम्मू) की है। नैनसुख का संरक्षक जम्मू का राजा बलवंत सिंह (1743-1763) माना जाता है। पंडित सेउ की बड़े पुत्र मानक की दो पेंटिग्ज प्रमुख मानी जाती हैं। एक राजा संसारचंद के संरक्षण में थी, जो संभवतः दहेज-स्वरूप टिहरी-गढ़वाल को दी गई, ऐसा भी मत है कि मानक राजा संसारचंद तथा प्रकाशचंद (गुलेर) के दरबार में रहा होगा। दूसरे चित्र 'हुक्का पीते हुए महिला' के पीछे फारसी में मानक लिखा हुआ है। गोवर्धनसिंह (1745-1773) के समय गुलेर दरबार के शिल्पगृह की यह कलाकृति अलबर्ट संग्रहालय, लंदन में है। 1736 में मानक गुलेर में रहता था।

कुशाला या खुशाला (मानक का पुत्र) राजा संसारचंद के दरबार में था। जे. सी. फ्रेंच ने लंबागाँव आने पर पाया कि राजा का मनपसंद कलाकार कुशनलाल है, जो संभवतः कुशाला ही था।

पंडित सेउ मुसब्बर परिवार के 'मियाँ गोपालसिंह', 'चैस खेलते हुए', 'दरबार का दृश्य', 'राजा बिशनसिंह गुलेर' आदि चित्र चंडीगढ़, दिल्ली तथा लंदन संग्रहालयों में हैं।

काँगड़ा कलम और महाराजा संसारचंद

महाराजा संसारचंद जिन्होंने 10 वर्ष की अल्पायु में सिंहासन सँभाला और 21 वर्ष की आयु में प्रतिष्ठित काँगड़ा किला मुसलमानों से छुड़ा लिया। काँगड़ा कलम को भी अपनी उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँचाया। 1775 में सिंहासनारूढ़ होने के बाद 'लाहौर' तक पहुँचने की कल्पना करने वाले संसारचंद ने कई उतार-चढ़ाव देखे। सिरमौर, मंडी, बिलासपुर को हराने के बाद अमरसिंह थापा के हाथों मोरियाँ में हार के बाद संसारचंद को रणजीत सिंह से सहायता माँगनी पड़ी और पहाड़ों का गौरव काँगड़ा किला सदा के लिए रणजीत सिंह के अधीन हो गया।

1726 से 1805 का काल काँगड़ा के इतिहास में स्वर्णयुग कहा जा सकता है। सुजानपुर टीहरा में शिल्पियों को प्रोत्साहन दिया गया। नादौन भी कला का केंद्र बना।

संसारचंद ने आलमपुर, नादौन और सुजानपुर टीहरा में महल बनवाए। सुजानपुर टीहरा के भव्य स्वागत काल में 22 द्वार थे। जिनमें 22 पहाड़ी राजा संसारचंद के प्रति सम्मान प्रकट करने आते थे। 1874 में में गौरीशंकर का मंदिर बनाया गया। 1871 में मुरली मनोहर मंदिर बनवाया गया। 1824 में सुकेती रानी द्वारा प्रसिद्ध नर्मदेश्वर मंदिर बनवाया गया जिसमें बनाए गए चित्र आज भी विद्यमान हैं।

चंबा की भरमौर कोठी की कुछ काष्ठ-कलाकृतियाँ, जो पृथ्वीसिंह (1641-1664) के समय की हैं, मुगल प्रभाव लिये हुए हैं। राजा पृथ्वीसिंह शाहजहाँ के दरबार में जाता रहा और उसका पोर्ट्रेट 1695 के लगभग का है। यह पोर्ट्रेट प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम में मौजूद बताया जाता है। चंबा गजेटियर के अनुसार राजा छत्तरसिंह का विवाह बसोहली की राजकुमारी से हुआ।

छत्तरसिंह उसके तीन भाइयों के पोर्ट्रेट मिलते हैं। किन्तु दसावतार राधा-कृष्ण आदि विषयों को लेकर चंबा में चित्र बसोहली कलम की प्रेरणा से बने। राजा धीरजपाल (1710-1721) के दरबार के कलाकार चंबा में थे। नूरपुर में राजा देवतत्त्व (1700-1735) के समय रसमंजरी चित्रमाला मिलती है। जो 1715 और 1720 के बीच बनाई गई। नूरपुर कला का श्रेय देवीदास के पुत्र गोलू को जाता है जो नूरपुर का रहने वाला था, किन्तु किरनपालसिंह के दरबार में रहा।

कुल्लू में बसोहली के राजा धीरजपाल (1695-1735) के समय कुल्लू कलम का

विकास हुआ। शांगरी में प्रसिद्ध शांगरी रामायण लगभग 1710 में बना। कुल्लू कलम पर भी बसोहली कलम का प्रभाव है।

काँगड़ा कलम के साथ यह दुर्भाग्य रहा है कि जब तक इस अमूल्य निधि के प्रति जागरूकता आई, तब तक यह काँगड़ा तो क्या देश से जा चुकी थी। कुछ तथाकथित कलाप्रेमियों द्वारा उत्कृष्ट कृतियाँ 'डीलरों' के माध्यम से विदेशों में पहुँचाई गई। आज काँगड़ा कलम की कृतियाँ विदेशी संग्रहालयों में तो उपलब्ध हैं, पर देश में नदारद हैं।

कौन थे वे अनाम चितेरे !

काँगड़ा कलम के अनाम चितेरों को अब 'मास्टर्ज' कहा जाने लगा है। पहले ये तरखान चितेरे एक गुमनाम जिन्दगी जी रहे थे। हाँ, कलाप्रेमी राजाओं द्वारा इन्हें आश्रय जरूर मिला। इन कलाकारों में से अधिकांश और इनकी कृतियों की अब पहचान हो गई है, यद्यपि इनका काल तथा कृतित्व अभी भी संदिग्ध बना हुआ है।

बी. एन. गोस्वामी तथा एडवर्ड फिशर द्वारा लिखित 'पहाड़ी मास्टर्ज' (उत्तर भारत के *दरबारी चितेरे : 1992) में इन कलाकारों का विशद् विवेचन किया गया है।*

आज से लगभग चौदह वर्ष पूर्व राज्य संग्रहालय शिमला में 'देवी-माहात्म्य' की खोज से पूर्व सोलहवीं शताब्दी में पहाड़ी कला के बारे में कुछ ज्ञात नहीं था। 'देवी-माहात्म्य' एक पोथी के रूप में है, जिसमें अट्ठारह खुले पृष्ठ हैं जो एक आवरण में खुले रखे गए हैं। 'देवी-माहात्म्य' की कलाकृतियों को 1550 तथा 1580 के बीच का माना गया है। यह जिला काँगड़ा से प्राप्त हुई थी।

दूसरी कृति 'रसमंजरी' है जिसे सम्भवतः नूरपुर के किरपाल (1660-1690) द्वारा बनाया गया। 'रसमंजरी' के 135 पन्नों में लगभग 80 उपलब्ध हैं। इनमें से साठ पन्ने तो डोगरा आर्ट गैलरी जम्मू में हैं और कुछ श्री प्रतापसिंह संग्रहालय श्रीनगर में। बारह पन्ने विक्टोरिया तथा एलबर्ट संग्रहालय लंदन, सात फाइन आर्ट्स संग्रहालय बोस्टन तथा एक क्लीवलैण्ड म्यूजियम ऑफ आर्ट में उपलब्ध हैं।

नूरपुर के देवीदास (1680-1720) को किरपाल का पुत्र तथा रत्तो का पौत्र माना जाता है। देवीदास के तीन पुत्र ठाकरू, गोलू तथा निक्कू थे। देवीदास द्वारा 'रसमंजरी' शृंखला के चित्र बनाए गए। 'रसमंजरी' में 138 छन्द थे जिनमें से अब बहुत कम मिलते हैं।

कुल्लू राजवंश की एक स्वतंत्र शाखा शांगरी की शांगरी रामायण तथा जम्मू के समीप बाहु के चितेरों के मूल स्थान, उनके जन्म या उनके संरक्षकों के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है। शांगरी रामायण (1690-1720) के चित्र सर्वप्रथम राजा रघुवीरसिंह के पास 1956 में एम. एस. रन्धावा ने देखे।

मानकोट रियासत में सम्भवतः चित्रकार का नाम मैजू था। इस काल (1690-1730) भागवत पुराण की रचना हुई। इसके 25 चित्र चण्डीगढ़ संग्रहालय द्वारा टिक्का इन्द्र विजयसिंह से लिए गए। ये चित्र कृष्ण लीला से सम्बन्धित हैं।

चम्बा के राजा छत्तरसिंह (1675-1710) तथा उदयसिंह (1690-1720) के दरबार में कुछ महत्त्वपूर्ण तरखान चितेरे हुए। लहरू (1735-1767) के समय में भागवत पुराण शृंखला बनी। इसके कुछ चित्र भूरिसिंह संग्रहालय चम्बा में हैं। पहली बार इसकी कुछ ड्राइंग्ज जगदीश मित्तल द्वारा 1955 में प्रकाशित की गईं। दूसरी शृखला रामायण की है जिसके सैंतीस पन्ने भूरिसिंह संग्रहालय, चम्बा में हैं।

दूसरे चितेरे थे, महेश (1730-1770)। ये अपने काल के प्रसिद्ध व महत्त्वपूर्ण कलाकार थे। डॉ. ओहरी के अनुसार महेश का नाम लहरू के साथ 1747 के लेख में आया है। इनके चित्रों में मत्स्य, वाराह, नरसिंह, वामन आदि दशावतार आते हैं।

मण्डी दरबार में लगभग साठ वर्ष तक कलाकारों के दो खानदान रहे। अट्ठारहवीं शताब्दी (1710-1750) के पूर्वार्द्ध में मुख्यतः पोर्ट्रेट ही बनाए गए। राजा सिद्धसेन, राजकुमार, गोपियों के साथ कृष्ण, पाँच मुखों वाले सदाशिव, देवी आदि के चित्र इनमें प्रमुख हैं।

गुलेर के पण्डित सेउ (1680-1740) का एक स्केच उपलब्ध है जिसमें उसे अधेड़ उम्र का दिखाया गया है। इसके बड़े पुत्र का नाम मानकू था। इनका प्रमुख कार्य है गुलेर रामायण जिसके कुछ पन्ने लाहौर संग्रहालय, चण्डीगढ़ संग्रहालय तथा ज्यूरिक में उपलब्ध हैं। मानकू (1700-1760) का नाम हरिद्वार की बहियों में मिलता है। उसमें तरखान-वासी गुलेर, बेटे सेउ के पोते हंसू का संवत् 1793 लिखा गया। मानकू का मुख्य काम 'गीतगोविंद' है। इनका प्रमुख कार्य 1916 में प्रकाशित हुआ। मानकू का छोटा भाई नैणसुख (1710-1778) था जिसके बारे में पूरी तरह पुष्टि नहीं होती। नैणसुख द्वारा अपने संरक्षक बलवंत सिंह का पोर्ट्रेट बनाया गया बताया जाता है।

मानकू तथा नैणसुख के वंशज निम्न प्रकार से बताए गए हैं :

मातकू के पुत्र फत्तू (1725-1785) तथा खुशाला (1730-1790), नैणसुख के पुत्र कामा (1735-1810), गौधू (1740-1820), निक्का (1745-1833) तथा राँझा (1750-1830)।

फत्तू के पुत्र माधो, मोलक तथा काँशीराम हुए। खुशाला के सिखून, हाजरी। कामा का पुत्र लाला (1760-1827), गोधू के सुखिया तथा सुलतानू। निक्का के तीन पुत्र : हारखू (1765-1850), गोकल (1770-1847) तथा छज्जू (1775-1850) थे। राँझा के नूरसहाय तथा सुखदयाल। काँगड़ा (उस्तेढ़) के मोती का पुत्र था साजनू (1790-1830)। परम्परा अब भी जीवित है।

काँगड़ा कलम के मुख्य केन्द्र सुजानपुर टीहरा में 30 अप्रैल, 1946 को जन्मे ओम सुजानपुरी ने राजस्थान के चित्रकार किरपाल सिंह शेखावत से प्रोत्साहन तथा दीक्षा प्राप्त की। जयपुर से सवाई रायसिंह शिल्प मंदिर से कला में तीन वर्ष का डिप्लोमा प्राप्त किया। हिमाचल अकादमी तथा पंजाब ललित कला अकादमी से पुरस्कृत ओम

सुजानपुरी ने अब तक लगभग पाँच सौ अनुकृतियाँ तथा सौ मौलिक चित्र बनाए हैं। अप्रैल, 1974 से हिमाचल अकादमी में कलाकार के रूप में कार्यरत हैं। प्रस्तुत है इनसे एक भेंटवार्ता :

प्रश्न—आज काँगड़ा कलम की ओर कैसे प्रेरित हुए ?

उत्तर—राजस्थान के प्रसिद्ध चित्रकार किरपाल सिंह शेखावत सुजानपुर के नर्मदेश्वर मंदिर के भित्तिचित्रों की अनुकृतियाँ बनाने आए हैं। मैं उन्हें अनुकृतियाँ बनाते देखने जाया करता था हर रोज। उन्होंने मुझे यह कला सीखने की प्रेरणा दी और उन्हीं के माध्यम से मैं जयपुर में प्रशिक्षण प्राप्त करने लगा।

प्रश्न—पहले आप केवल अनुकृतियाँ ही बनाते रहे।

उत्तर—हाँ, मैंने पाँच सौ से ऊपर अनुकृतियाँ बनाईं। इनमें काँगड़ा कलम की प्रसिद्ध चित्रमालाएँ तथा कुछ भित्तिचित्र शामिल हैं। इस कला में पारंगत होने के लिए अनुकृतियाँ बनाना आवश्यक है। अनुकृतियाँ बनाने से ही वह बारीकी आती है और हाथ की इस कला के मर्म तक कलाकार पहुँचता है।

प्रश्न—काँगड़ा कलम के सभी चित्रों का साइज लगभग एक ही है। यानी ये छोटे साइज में बनीं। इसका कारण।

उत्तर—जैसा कि मैंने कहा, बारीकी का काम ही इस कलम की खूबी है। सभी चित्र छोटे साइज में बने हैं तभी इस कला की बारीकी की सार्थकता है। बड़े केनवास का चित्र बनाने पर लघु चित्र या मिनिएचर पेंटिंग कैसे रह जाएगी ? बड़ा चित्र होने से उसमें वह सूक्ष्म काम कहाँ से आएगा जो हमें सिर का बाल, पेड़ का एक-एक पत्ता, पत्ते का एक-एक रेशा दिखाने में आता है। बड़ा चित्र बनने से तो इस कला का मूल भाव ही नष्ट हो जाएगा।

प्रश्न—इस कलम के चित्रकार अनुकृतियाँ बनाने से मुक्त नहीं हो पाते। क्या आपने मौलिक चित्र बनाए हैं ?

उत्तर—मैंने लगभग सौ मौलिक चित्र बनाए हैं। इनमें 'ग्राम्य जीवन', 'पहाड़ी भू-दृश्य', 'ऊन कातती महिला' आदि पुरस्कृत हुए और चर्चित रहे। ऐसी मौलिक कृतियाँ बननी भी चाहिए। यदि इस कला को आगे बढ़ना है तो आधुनिक परिवेश की चित्रावली काँगड़ा कलम के माध्यम से आनी चाहिए। किन्तु इस कलम की सीमाओं का लाँघना भी उचित नहीं।

प्रश्न—आप कौन से रंग व कागज प्रयोग में लाते हैं ?

उत्तर—पहले चित्रकार हाथ से बना सियालकोटी कागज इस्तेमाल करते थे। यह मिलना बन्द हो गया तो राजस्थान से हाथ से बना कागज आता है। न मिलने पर बाजारू कागज भी ले लिया जाता है। हाँ, रंग मैं खुद बनाता था। अलग-अलग रंगों के बनाने की अलग-अलग विधि है। मिट्टी से बनने वाले रंगों के लिए मिट्टी को फिल्टर कर उसमें गोंद मिलाई जाती है। सिंदूर को पीसकर उसमें नींबू मिलाया जाता है। बाद

में गोंद मिलाई जाती है। सुनहरी रंग के लिए असली सोना प्रयोग में लाया जाता है। सिंगरफ, सिंदूर, गोंदली हड़ताल (सफेद पत्थर), हड़ताल (पीला), गोगुली (गोभूव मिलाकर बना पीला रंग), हलकारी (सुनहरी), पीली मिट्टी, खड़िया, रम्दुजी आदि से ये रंग बनते हैं। कुछ रंग फूलों से भी बनाए जाते हैं। अपने बनाए रंग चिरस्थायी होते हैं और बरसों तक फीके नहीं पड़ते।

प्रश्न—इस महीन काम के लिए ब्रश ?

उत्तर—ब्रश गिलहरी के बालों से बनाया जाता है। जिसे जीरो नंबर का ब्रुश कहते है, उसमें गिलहरी के बीस-पच्चीस बाल होते हैं।

प्रश्न—काँगड़ा कलम की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं ?

उत्तर—सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म काम, तीखे नैन-नक्श और सबसे ऊपर नपे-तुले या प्रोपोर्शनल आकार। मैं तो ये मानता हूँ कि राजस्थानी कलम में भी वह प्रोपोर्शन नहीं है। आकृतियों में जो काँगड़ा कलम में है। एकदम संतुलित और तीखापन।

प्रश्न—इस कलम की साधना से जीवनयापन ?

उत्तर—कलम साधने से जीवनयापन सम्भव नहीं। इन चित्रों की माँग विदेशों में अधिक है, हमारे यहाँ नहीं। विदेशी तो मेरे घर से भी चित्र ले जाते हैं। प्रदर्शनियों में नाम-पता लिख जाते हैं और पत्र लिखते हैं। यहाँ यह भावना नहीं है, हालाँकि इनकी कीमत भी अधिक नहीं है। बस दो-तीन से लेकर अधिकतम पच्चीस सौ तक। राजस्थान में इन चित्रों की बहुत बिक्री है। यहाँ दिल्ली से आकर 'डीलर' इन्हें खरीद ले जाते हैं। दिल्ली के 'डीलर' यहाँ तक नहीं पहुँचते।

प्रश्न—काँगड़ा कलम के आज के चित्रों की कीमत कम है जबकि आधुनिक कला के चित्र महँगे हैं और महँगे होते जा रहे हैं। आधुनिक कला के संदर्भ में काँगड़ा कलम कहाँ है आज ?

उत्तर—आधुनिक कला के सन्दर्भ में काँगड़ा कलम फिलहाल कहीं नहीं है। आधुनिक कलाकृतियों की कीमत बहुत अधिक रखी जाती है और वे बिकती भी बहुत हैं चाहे कलाकृति का पता लगे या न लगे, समझ आए या न आए। राष्ट्रीय अकादमियों द्वारा भी आधुनिक कलाकृतियों की प्रदर्शनियाँ लगाई जाती हैं। काँगड़ा कलम के लिए या परम्परागत कला के लिए स्थान नहीं है।

प्रश्न—क्या आप इस कला को उत्कृष्ट मानते हैं ?

उत्तर—हर कला अपनी जगह उत्कृष्ट है। किन्तु हाथ और आँखों की जो मेहनत काँगड़ा कलम माँगती है, वह सम्भवतः दूसरी कलाएँ नहीं। दूसरे, यह नियमबद्ध कला है, स्वच्छन्द नहीं। किसी प्रकार की छूट इसमें नहीं है कि आड़ी-तिरछी रेखाएँ लगा दीं या रंग बिखेर दिए, बस।

प्रश्न—आपके अतिरिक्त और कितने कलाकार इस समय काम कर रहे हैं ?

उत्तर—श्री चन्दूलाल रैणा, ओ. पी. टाक और विजय चम्बयाल—ये तीन कलाकार

हैं। हम चारों के पास हिमाचल अकादमी द्वारा चलाई जा रही 'गुरु-शिक्षा परम्परा' के अन्तर्गत कुल आठ शिष्य प्रशिक्षण ले रहे हैं। इससे पूर्व चन्दूलाल रैणा द्वारा अकादमी की योजना के तहत एक स्कूल चलाया गया था जिसमें तेरह शिष्यों ने प्रशिक्षण लिया। सीखने वालों को अकादमी की ओर से छात्रवृत्ति दी जाती है किन्तु नौकरी लगने पर छात्र प्रशिक्षण छोड़ जाते हैं। कहीं भी, कैसी भी नौकरी में रहकर कला के प्रति समर्पण की भावना जागे तो यह कला जीवित रह सकती है।

परिशिष्ट

भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश

राज्य स्तरीय मेले/उत्सव

		अधिसूचना संख्या	
1.	दशहरा कुल्लू (सितम्बर-अक्तूबर)	भाषा-सी (10)1/84	3.8.95
2.	शिवरात्रि मण्डी (फरवरी-मार्च)	—यथोपरि—	
3.	मिंजर चम्बा (जुलाई)	—यथोपरि—	विशेष वर्ग के मेले
4.	लवी रामपुर, शिमला (नवम्बर)	—यथोपरि—	
5.	ग्रीष्मोत्सव शिमला (मई-जून)	—यथोपरि—	
6.	होली, सुजानपुर (मार्च)	—यथोपरि—	
7.	मणिमहेश, चम्बा (सितम्बर)	—यथोपरि—	
8.	ग्रीष्मोत्सव, धर्मशाला (मई)	—यथोपरि—	
9.	नलवाड़ी, बिलासपुर (मार्च)	—यथोपरि—	
10.	रेणुका मेला, सिरमौर (नवम्बर)	—यथोपरि—	
11.	परम्परागत दिवस, केलंग (अगस्त)	भाषी-सी (10)-84	18.11.85
12.	शुलिनी मेला, सोलन (जून)	भाषा-ग(17) 2/36-भाग-1	26.6.92
13.	शिवरात्रि बैजनाथ, काँगड़ा (फरवरी-मार्च)	एल. सी. डी. एफ (4)-1/94	8.3.94
14.	होली उत्सव, पालमपुर, काँगड़ा (मार्च)	भाषा-ग(17)12/86 भाग-1.	7.4.94
15.	वैशाखी मेला, कालेश्वर (अप्रैल)	—यथोपरि—	
16.	छेचू मेला, रिवालसर, मण्डी (फरवरी-मार्च)	—यथोपरि—	
17.	लादरचा, स्पिति (जुलाई)	—यथोपरि—	
18.	रोहड़ू मेला, रोहड़ू, शिमला (अप्रैल)	—यथोपरि—	
19.	नलवाड़, सुन्दर नगर, मण्डी (अप्रैल)	—यथोपरि—	
20.	जनजातीय उत्सव, रिकांग पीओ (नवम्बर)	भाषा-ग(17)12/86 भाग-1.	30. 9.95
21.	हमीर उत्सव, हमीरपुर (सितम्बर)	भाषा-ग(17) 12/86 भाग-1	17.10.95

जिला स्तरीय मेले/उत्सव

		अधिसूचना संख्या	
1.	शरद उत्सव, ऊना (नवम्बर-दिसम्बर)	भाषा-सी (10)1/94	3.8.85
2.	पौरी उत्सव, त्रिलोकीनाथ, लाहुल-स्पिति (अगस्त)	—यथा—	
3.	फुलाइच उत्सव, रिब्बा, किन्नौर (अगस्त-सितम्बर)	—यथा—	
4.	दशहरा, सराहन, रामपुर (सितम्बर-अक्तूबर)	—यथा—	
5.	नागिनी उत्सव, नूरपुर, काँगड़ा (सितम्बर)	—यथा—	
6.	शिवरात्रि काठगढ़, काँगड़ा (फरवरी-मार्च)	—यथा—	
7.	वैशाखी, नूरपुर (ज्वाली) (अप्रैल)	भाषा-ग (17) 12/86	7.4.94
8.	मेला जोगिन्द्रनगर, मण्डी (अप्रैल)	—यथा—	
9.	वैशाखी, राजगढ़, सिरमौर (अप्रैल)	—यथा—	
10.	फाग मेला, रामपुर (फरवरी)	—यथा—	
11.	मेला आनी, कुल्लू (मई)	—यथा—	
12.	मेला बंजार, कुल्लू (मई)	भाषा-ग (17) 12/86 भाग-1	23.4.94
13.	छतराड़ी जातरा, चम्बा	भाषा-ग (17) 12/86 भाग-1	30.9.95
14.	बामन द्वादशी सराहां, सिरमौर	—यथा—	
15.	पहाड़ी संस्कृति संगम मेला, नौदान, हमीरपुर	भाषा-ग (17)12/86 भाग-1	17.10.95
16.	बाल दिवस मेला बागथल, सिरमौर	—यथा—	

केन्द्र संरक्षित स्मारक

चम्बा

1. गणेश मन्दिर
2. श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर — भरमौर
3. श्री मणिमहेश मन्दिर
4. श्री नृसिंह मन्दिर
5. श्री बृजेश्वरी मन्दिर
6. बंशी गोपाल मन्दिर
7. श्री चामुण्डा मन्दिर — चम्बा शहर

8. श्री हरिराय मन्दिर
9. श्री सीताराम मन्दिर
10. श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर समूह
11. श्री राम-सीता हनुमान शिला, सरोथा चम्बा
12. श्री शक्ति देवी मन्दिर, छतराड़ी

कुल्लू

1. श्री विश्वेश्वर महादेव, बजौरा
2. श्री शिव मन्दिर, जगतसुख
3. श्री गौरी शंकर मन्दिर, नग्गर
4. श्री हिडिम्बा देवी मन्दिर, ढूगरी

काँगड़ा

1. श्री भीम टीला, चैतड़ू
2. श्री गौरीशंकर मन्दिर एवं टीला, देसल
3. काँगड़ा किला, पुराना काँगड़ा
4. शिलालेख, खनियारा
5. कोटला मन्दिर, कोटला
6. मसरूर मंदिर व परिसर, मसरूर
7. नूरपुर किला व श्री राधाकृष्ण मंदिर, नूरपुर
8. शिलालेख, पठियार
9. लॉर्ड एलगिन टॉम, अप्पर धर्मशाला
10. श्री आशापुरी मन्दिर, आशापुरी
11. श्री शिव मन्दिर, बैजनाथ

हमीरपुर

1. कटोच महल, सुजानपुर टीहरा
2. श्री नर्वदेश्वर मन्दिर, सुजानपुर

मण्डी

1. बरसेले
2. श्री पंचावतार
3. श्री त्रिलोकीनाथ — मण्डी शहर
4. श्री अर्द्धनारीश्वर
5. श्री महादेव मन्दिर — सुन्दर नगर

सिरमौर

1. मानगढ़ किला

लाहुल-स्पिति

1. ताबो गोम्पा, ताबो (स्पिति)
2. श्री मृकुला देवी मन्दिर, उदयपुर
3. फू गोम्पा, फू (स्पिति)

राज्य-संरक्षित स्मारक

1. देवी कोठी मन्दिर, चुराह (चम्बा)
2. ममलेश्वर महादेव मन्दिर करसोग (मण्डी)
3. सूर्य नारायण मन्दिर, नीरथ (रामपुर)
4. दोचा-मोचा काष्ठ मन्दिर (कुल्लू)
5. हरिपुर किला, देहरा (काँगड़ा)

हिमाचल प्रदेश धार्मिक संस्थान तथा पूर्त विन्यास अधिनियम 1984 के अन्तर्गत मन्दिर

अनुसूची–1

क्रमांक **मन्दिर का नाम व स्थान**

1. तारा देवी मन्दिर, तारा देवी, जिला शिमला
2. दुर्गा माता मन्दिर, हाटकोटी, जिला शिमला
3. भीमाकाली मन्दिर, सराहन, जिला शिमला
   श्री रघुनाथ जी
   श्री नारसिंह जी
   श्री लाँकड़ा देवता जी
4. हनुमान मन्दिर, जाखू, जिला शिमला
5. श्री नैनादेवी मन्दिर, नैनादेवी, जिला बिलासपुर
6. श्री ज्वालामुखी मन्दिर, ज्वालामुखी, जिला काँगड़ा
7. श्री ब्रजेश्वरी मन्दिर, काँगड़ा, जिला काँगड़ा
8. श्री चिन्तपूर्णी मन्दिर, चिन्तपूर्णी, जिला ऊना
9. डमटाल मन्दिर, डमटाल, जिला काँगड़ा
10. बाबा बालकनाथ मन्दिर, दियोटसिद्ध, जिला हमीरपुर
11. अयोध्यानाथ मन्दिर, रामपुर, जिला शिमला

12. दत्तात्रेय मन्दिर, दत्तनगर, जिला शिमला
13. श्री दुर्गा मन्दिर, शराई कोटी, रामपुर, जिला शिमला
14. बद्री विशाल तथा नारसिंह देव मन्दिर, नगरोटा सूरियाँ, काँगड़ा
15. लक्ष्मीनारायण मन्दिर, चम्बा
16. मन्दिर ठाकुर द्वारा बाई जी साहिबा, पाँवटा साहिब, सिरमौर
17. श्री शाहतलाई मन्दिर-समूह—
    बाबा बालकनाथ मन्दिर, शाहतलाई (मुख्य मन्दिर)
    बाबा बालकनाथ मन्दिर, शाहतलाई (द्वितीय मंदिर)
    वटवृक्ष मन्दिर, शाहतलाई
    गुरना झाड़ी मन्दिर, शाहतलाई
18. श्री अष्टभुज मठ मन्दिर, बोहन, ज्वालामुखी, काँगड़ा
19. नन्दीकेश्वर, चामुण्डा देवी मन्दिर, काँगड़ा

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी

अकादमी पुरस्कार

प्रथम पुरस्कार

वर्ष 1983 तक

1. डॉ. ओमप्रकाश सारस्वत	हिन्दी काव्य
2. श्रीयुत श्रीनिवास श्रीकान्त	हिन्दी काव्य
3. श्री केशव	हिन्दी कहानी
4. श्री शान्ता कुमार	हिन्दी कहानी
5. श्री काहनसिंह जमाल	हिन्दी नाटक
6. श्री हरिप्रसाद सुमन	हिन्दी नाटक
7. श्री रमेशचन्द शर्मा	हिन्दी उपन्यास
8. श्री सुदर्शन वशिष्ठ	हिन्दी उपन्यास
9. स्व. लालचन्द प्रार्थी	इतिहास परम्परा
10. डॉ. बी. एल. कपूर	इतिहास परम्परा
11. श्री किशोरीलाल वैद्य	शोध समीक्षा
12. डॉ. हरिराम जसटा	शोध समीक्षा
13. स्व. मेहरचन्द सुमन	लोक साहित्य
14. श्री देवराज शर्मा	लोक साहित्य
15. श्री नरेन्द्र अरुण	पहाड़ी कविता
16. श्री भगतराम मुसाफिर	पहाड़ी कविता
17. श्री कुलभूषण कायस्थ	पहाड़ी कहानी/उपन्यास
18. श्री रूप शर्मा	पहाड़ी कहानी/उपन्यास
19. श्री खुशीराम शर्मा	लोककथा
20. डॉ. गौतम व्यथित	लोककथा
21. स्व. हरिचन्द पराशर	निबन्ध
22. डॉ. आत्माराम	निबन्ध

23. श्री दुर्गादत्त शास्त्री	संस्कृत साहित्य
24. श्री केशव शर्मा	संस्कृत साहित्य
25. श्री शबाब ललित	उर्दू साहित्य
26. श्री धर्मपाल आकिल	उर्दू साहित्य

वर्ष 1984

1. डॉ. वरयामसिंह	पहाड़ी कविता
2. डॉ. पीयूष गुलेरी	पहाड़ी कविता
3. श्री अवतारसिंह एनगिल	हिन्दी कविता
4. डॉ. कुमार कृष्ण	हिन्दी कविता
5. डॉ. सुशीलकुमार फुल्ल	हिन्दी उपन्यास
6. श्रीमती उत्तम परमार	हिन्दी उपन्यास
7. श्री दिनेश धर्मपाल	हिन्दी कहानी/नाटक
8. स्व. पी. एन. सेमवाल	इतिहास और परम्परा
9. श्री नन्द शर्मा	इतिहास और परम्परा
10. श्री केशवानन्द	संस्कृति और लोक साहित्य
11. कु. स्वर्णकान्ता शर्मा	संस्कृति और लोक साहित्य
12. डॉ. जोगिन्द्रसिंह वर्मा	शोध समीक्षा
13. डॉ. श्रीकान्त प्रत्यूष गुलेरी	शोध समीक्षा

वर्ष 1985

1. सुश्री रेखा	हिन्दी काव्य
2. डॉ. मनोहरलाल	हिन्दी शोध/समीक्षा
3. श्री बलदेवसिंह ठाकुर	पहाड़ी काव्य
4. स्व. श्री राजेशकुमार औज	उर्दू काव्य

वर्ष 1986

1. पं. भवानीदत्त शास्त्री	पहाड़ी काव्य

वर्ष 1987

1. श्री तुलसी रमण	हिन्दी काव्य
2. श्री बद्रीसिंह भाटिया	हिन्दी कहानी/उपन्यास/नाटक
3. श्री अश्विनी गर्ग	पहाड़ी कहानी/नाटक

वर्ष 1988

1. कर्नल विष्णु शर्मा	हिन्दी कहानी/उपन्यास/नाटक
2. श्री अमरसिंह रणपतिया	हिमाचली लोक साहित्य

3. डॉ. गौतम व्यथित — पहाड़ी काव्य
4. डॉ. श्री दुर्गादत्त शास्त्री — संस्कृत साहित्य

वर्ष 1989

1. श्री लक्ष्मणसिंह कश्यप — हिन्दी काव्य
2. डॉ. ओमप्रकाश सारस्वत — हिन्दी कहानी/उपन्यास/नाटक
3. श्री जयदेव किरण — पहाड़ी काव्य
4. श्री शबाब ललित — उर्दू काव्य

वर्ष 1990

1. श्री हरबंस कुमार — हिन्दी काव्य
2. श्री राजकुमार राकेश — हिन्दी कहानी/उपन्यास/नाटक
3. श्री नरेन्द्र अरुण — पहाड़ी काव्य
4. डॉ. इन्द्राणी चक्रवर्ती — हिन्दी शोध/संस्कृति

वर्ष 1991

1. स्व. श्री संतराम वत्स्य — बाल साहित्य
2. डॉ. चमनलाल मल्होत्रा — हिन्दी साहित्य की अन्य विधाएँ

वर्ष 1992

1. श्री योगेश्वर शर्मा — हिन्दी कहानी/उपन्यास
2. श्री देवेन्द्र धर — हिन्दी काव्य
3. श्री बिहारीलाल बहार — उर्दू साहित्य
4. श्री संसारचन्द प्रभाकर — पहाड़ी पाण्डुलिपि

वर्ष 1993

1. श्री तुलसी रमण — हिन्दी काव्य
2. डॉ. हरिराम जसटा — हिन्दी कहानी/उपन्यास
3. आचार्य शालिगराम — संस्कृत साहित्य
4. डॉ. प्रेम भारद्वाज — पहाड़ी काव्य
5. श्री सुंदर लोहिया — हिन्दी कहानी/नाटक

वर्ष 1994

1. श्री गुरमीत बेदी — हिन्दी काव्य
2. रेखा — हिन्दी कहानी/उपन्यास
3. श्री नरेन्द्र अरुण — पहाड़ी अनुवाद

कला सम्मान

वर्ष 1995

1. श्री सनतकुमार चैटर्जी	चित्रकला
2. स्व. श्रीमती रोशनी देवी	निष्पादन कला

पहाड़ी शिखर सम्मान

वर्ष 1994

1. श्री भवानीदत्त शास्त्री	पहाड़ी साहित्य विधा
2. डॉ. श्यामलाल डोगरा	पहाड़ी भाषाविज्ञान
3. पं. राहुल सांकृत्यायन	हिमाचल के प्रति योगदान

वर्ष 1995

1. श्री चन्द्रशेखर बेबस	पहाड़ी साहित्य विधा
2. श्री एस. एस. एस. ठाकुर	लोककला
3. डॉ. डी. पी. पटनायक	पहाड़ी भाषाविज्ञान

वर्ष 1996

1. प्रो. यू. आर. अनंतमूर्ति	समग्र लेखन
2. मियां गोवर्धनसिंह	पहाड़ी संस्कृति
3. स्व. मनोहर सागर पालमपुरी	पहाड़ी साहित्य

राज्य सम्मान

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी सम्मान (हिन्दी साहित्य)

1. पहला गुलेरी सम्मान	केशव	कवि-कथाकार
2. दूसरा गुलेरी सम्मान	डॉ. मनोहरलाल	निबन्धकार
3. तीसरा गुलेरी सम्मान	रेखा	कवि-कथाकार

पहाड़ी गांधी बाबा काँशीराम सम्मान (पहाड़ी साहित्य)

जयदेव किरण — पहाड़ी कवि

डॉ. यशवन्तसिंह परमार (संस्कृति सम्मान)

मियाँ गोवर्धनसिंह

निष्पादन कला सम्मान

1. पहला सम्मान	कंवर मनोहर सिंह
2. दूसरा सम्मान	एस.एस.एस. ठाकुर

हिमाचल एक दृष्टि में

हिमाचल एक दृष्टि में

मद	इकाई	विवरण
क्षेत्रफल (1991 जनगणना)	वर्ग कि. मी.	55,673
जिला	संख्या	12
आबाद गाँव (1991 जनगणना)	संख्या	16,997
शहर व नगर (1991 जनगणना)	संख्या	58
जनसंख्या (1991 जनगणना)	लाख	51.7
पुरुष (1991 जनगणना)	लाख	26.2
स्त्रियाँ (1991 जनगणना)	लाख	25.5
ग्रामीण जनसंख्या (1991 जनगणना)	लाख	47.2
शहरी जनसंख्या (1991 जनगणना)	लाख	4.5
अनुसूचित जाति की जनसंख्या (1991 जनगणना)	लाख	13.1
अनुसूचित जन-जाति की जनसंख्या (1991 जनगणना)	लाख	2.2
साक्षरता दर (1991 जनगणना)	प्रतिशत	63.9
वृद्धि दर (1981-91)	प्रतिशत	20.8
जनसंख्या का घनत्व (1991 जनगणना)	व्यक्ति	93
कुल मुख्य कामगार (1991 जनगणना)	लाख	17.8
जन्म दर (1992)	प्रति 1,000	27.9
मृत्यु दर (1992)	प्रति 1,000	8.8
प्रचलित मूल्यों पर प्रति व्यक्ति आय (1993-94)	रुपए	6,519
योजना उद्व्यय (1994-95)	करोड़ रुपए	660.32

राज्य की अर्थव्यवस्था में वृद्धि

क्र. सं. मद	इकाई	1990-91	1991-92	1992-93	1993-94
1	2	3	4	5	6
1. 1980-81 के भावों पर राज्य आय	करोड़ रुपए	1,285	1,258	1,278	1,300
2. प्रचलित भावों पर प्रति व्यक्ति आय	रुपए	4,910	5,578	5,579	6,519
3. 1 मार्च को जनसंख्या	लाख	51.7@	52.7	53.7	55.8
4. सकल सिंचित क्षेत्रफल	'000 हैक्टेयर	166.8	174.6	–	–
5. खाद्यान्न उत्पादन	'000 मि. टन	1433.3	1344.8*	1313.1	–
6. सेब उत्पादन	'000 मि. टन	342.1	301.7	279.1	294.7
7. चिकित्सा संस्थाएँ	संख्या	1,029	1,031	1,030	1,039
8. शिक्षा संस्थाएँ					
(i) प्राथमिक	संख्या	7,471	7,548	7,723	7,732
(ii) माध्यमिक	संख्या	1,066	1,067	1,067	1,105
(iii) उच्च/उच्चतर माध्यमिक + 2	संख्या	1,125	1,142	1,140	1,266
9. बिजली की संस्थापित क्षमता	मैगावाट	272.347	272.347	272.203	272.203(अ)
10. पेयजलकृत गाँव	संख्या	15,605 (92.8%)	16,030 (95.4%)	16,733 (99.6%)	16,807 (100.0%)
11. बस चलने योग्य सड़कों की लम्बाई।	कि. मी.	17,290	17,695	18,160	18,520

@ अन्तिम

* अनन्तिम

प्रशासनिक मण्डल/उप-मण्डल, तहसील तथा उप-तहसील

जिला	उप-मण्डल	तहसील	उप-तहसील
1	2	3	4
1. बिलासपुर	बिलासपुर	बिलासपुर	श्री नैनदेवी जी
	घुमारवीं	घुमारवीं	झण्डूता
2. चम्बा	चम्बा	चम्बा	होली
	चुराह	चुराह	सिहूंता
	पांगी	पांगी	भल्लाई (डलहौजी)
	भरमौर	भरमौर	
	डलहौजी	भटियात	
		सलूनी	
3. हमीरपुर	हमीरपुर	हमीरपुर	सुजानपुर टिहरा
	बड़सर	बड़सर	
		भौरन्ज	
		नदौन	
4. काँगड़ा	कांगड़ा	नूरपुर	फतेहपुर
	पालमपुर	इन्दौरा	हारचक्कियाँ
	धर्मशाला	ज्वाली	धीरा
	नूरपुर	काँगड़ा	रक्कड़
	देहरा गोपीपुर	धर्मशाला	थुरल
		पालमपुर	
		बड़ोह	
		जसवाँ	
		देहरा गोपीपुर	
		खुण्डियाँ	
		जयसिंहपुर	
		बैजनाथ	

5. किन्नौर	कल्पा	निचार	हंगरंग
	निचार	कल्पा	
	पूह	पूह	
		सांगला	
		मूरंग	
6. कुल्लू	कुल्लू	कुल्लू	आनी
	आनी	निरमण्ड	सैंज
	बंजार	बंजार	
7. लाहुल-स्पिति	किलांग	किलांग	उदयपुर
	काजा	काजा	
	उदयपुर		
8. मण्डी	मण्डी सदर	मण्डी सदर	बाली चौकी
	चच्योट	चच्योट	लडभड़ोल
	जोगिन्द्रनगर	थुनाम	सन्धोल
	सरकाघाट	जोगिन्द्रनगर	पद्दर
	सुन्दरनगर	सरकाघाट	कोटली
	करसोग	सुन्दरनगर	बलदवाड़ा
		करसोग	ओट
			निहरी
9. शिमला	शिमला शहरी	शिमला शहरी	चेता (कुपवी)
	शिमला ग्रामीण	शिमला ग्रामीण	ननखड़ी
	ठियोग	सूनी	टिक्कर
	रामपुर	ठियोग	जुन्गा
	चौपाल	कोटखाई	नेरवा
	रोहड़ू	रामपुर	
	डोडरा-क्वार	कुमारसैन	
		चौपाल	
		रोहड़ू	
		जुब्बल	
		डोडरा-क्वार	

10. सिरमौर	नाहन	नाहन	ददाहू
	पाँवटा साहिब	रेणुका	कमराऊ
	राजगढ़	शिलाई	नौहरा
		पाँवटा साहिब	
		पच्छाद	
		राजगढ़	
11. सोलन	सोलन	सोलन	रामशहर
	नालागढ़	कसौली	कृष्णगढ़
	अर्की	नालागढ़	
	कण्डाघाट	अर्की	
		कण्डाघाट	
12. ऊना	ऊना	ऊना	हरोली
	अम्ब	अम्ब	
		बगाणा	

सामान्य जनसंख्या में वृद्धि

वर्ष	जनसंख्या	दशकीय जनसंख्या वृद्धि	जनसंख्या का घनत्व	साक्षरता दर
1	2	3	4	5
1901	19,20,294	–	34	–
1911	18,96,944	(–) 1.22	34	–
1921	19,28,206	1.65	35	–
1931	20,29,113	5.23	36	–
1941	22,63,245	11.54	41	–
1951	23,85,981	5.42	43	–
1961	28,12,463	17.87	51	21.27
1971	34,60,434	23.04	62	31.96
1981	42,80,818	23.71	77	42.48
1991	51,70,877	20.79	93	63.86

स्रोत—(i) सामान्य जनसंख्या तालिकाएँ-II ऐ—भारत की जनगणना, 1971.

(ii) भारत की जनगणना, 1981, शृंखला-7, हिमाचल प्रदेश, भाग-II ऐ—सामान्य जनसंख्या तालिकाएँ।

(iii) भारत की जनगणना, 1991, शृंखला-9, हिमाचल प्रदेश, 1992 का पेपर-I, जनसंख्या के अन्तिम आँकड़े।

हिमाचल प्रदेश की प्रक्षिप्त जनसंख्या

('00)

अवधि	प्रक्षिप्त जनसंख्या	अवधि	प्रक्षिप्त जनसंख्या*
1	2	3	4
1 मार्च :			
1981	42,808	1991	51,709
1982	43,669	1992	52,693
1983	44,521	1993	53,695
1984	45,363	1994	54,716
1985	46,199	1995	55,757
1986	47,029	1996	56,819
1987	47,850	1997	57,951
1988	48,662	1998	59,105
1989	49,463	1999	60,282
1990	50,255	2000	61,484
		2001	62,709

स्रोत—योजना आयोग द्वारा जनसंख्या प्रोजेक्शन पर स्थापित विशेषज्ञ कमेटी की रिपोर्ट।

अधिकृत रिहायशी घरों की संख्या, परिवारों की संख्या तथा जनसंख्या

1991 जनगणना

जिला	कुल ग्रामीण शहरी	अधिकृत रिहायशी घर	परिवारों की संख्या	जनसंख्या
	कुल	52,344	52,555	2,95,387
1. बिलासपुर	ग्रामीण	48,540	48,737	2,78,652
	शहरी	3,804	3,818	16,735
	कुल	71,754	73,783	3,93,286
2. चम्बा	ग्रामीण	65,030	67,025	3,63,397
	शहरी	6,724	6,758	29,889
	कुल	68,986	69,176	3,69,128
3. हमीरपुर	ग्रामीण	64,049	64,208	3,46,442
	शहरी	4,937	4,968	22,686
	कुल	2,16,139	2,18,384	11,74,072
4. काँगड़ा	ग्रामीण	2,03,501	2,05,535	11,14,723
	शहरी	12,638	12,849	59,349
	कुल	16,333	16,439	71,270
5. किन्नौर	ग्रामीण	16,333	16,439	71,270
	शहरी	—	—	—
	कुल	57,234	57,407	3,02,432
6. कुल्लू	ग्रामीण	51,750	51,894	2,81,421
	शहरी	5,484	5,513	21,011

* अनन्तिम तथा 1992 से 2001 तक की प्रक्षिप्त जनसंख्या 1991 की जनसंख्या पर आधारित है।

	कुल	6,435	6,492	31,294
7. लाहुल-स्पिति	ग्रामीण	6,435	6,492	31,294
	शहरी	—	—	—
	कुल	1,42,028	1,43,600	7,76,372
8. मण्डी	ग्रामीण	1,28,966	1,30,462	7,20,603
	शहरी	13,062	13,138	55,769
	कुल	1,22,617	1,23,521	6,17,404
9. शमला	ग्रामीण	89,012	89,613	4,91,272
	शहरी	33,605	33,908	1,26,132
	कुल	65,351	65,694	3,79,695
10. सिरमौर	ग्रामीण	57,170	57,448	3,41,621
	शहरी	8,181	8,246	38,074
	कुल	70,573	71,250	3,82,268
11. सोलन	ग्रामीण	58,864	59,386	3,34,989
	शहरी	11,709	11,864	47,279
	कुल	69,659	70,717	3,78,269
12. ऊना	ग्रामीण	63,480	64,206	3,45,997
	शहरी	6,179	6,511	32,272
	कुल	9,59,453	9,69,018	51,70,877
हिमाचल प्रदेश	ग्रामीण	8,53,130	8,61,445	47,21,681
	शहरी	1,06,323	1,07,573	4,49,196

स्रोत—भारत की जनगणना 1991, हिमाचल प्रदेश, प्राथमिक जनगणना सारांश।

अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या

1991 जनगणना

जिला	पुरुष		स्त्रियाँ		कुल अनुसूचित जनजाति जनसंख्या	अनुसूचित जनजाति जनसंख्या की प्रतिशतता
	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी		
1	2	3	4	5	6	7
1. बिलासपुर	4,001	108	3,798	76	7,983	2.70
2. चम्बा	55,611	630	54,766	502	1,11,509	28.35
3. हमीरपुर	141	48	15	19	223	0.06
4. काँगड़ा	1,262	55	270	33	1,620	0.14
5. किन्नौर	19,021	--	20,588	--	39,609	55.58
6. कुल्लू	4,590	992	4,475	857	10,914	3.61
7. लाहुल-स्पिति	11,911	–	12,177	–	24,088	76.97
8. मण्डी	4,538	254	4,454	171	9,417	1.21
9. शिमला	1,592	818	1,383	576	4,369	0.71
10. सिरमौर	3,210	68	2,800	35	6,113	1.61
11. सोलन	1,246	96	1,050	57	2,449	0.64
12. ऊना	39	9	2	5	55	0.01
हिमाचल प्रदेश	1,07,162	3,078	1,05,778	2,331	2,18,349	4.22

स्रोत—भारत की जनगणना-1991, हिमाचल प्रदेश, प्राथमिक जनगणना सारांश।

अनुसूचित जातियों की जनसंख्या

1991 जनगणना

जिला	पुरुष		स्त्रियाँ		कुल अनुसूचित जनजाति जनसंख्या	अनुसूचित जनजाति जनसंख्या की प्रतिशतता
	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी		
1	2	3	4	5	6	7
1. बिलासपुर	36,719	1,832	36,155	1,575	76,281	25.82
2. चम्बा	36,933	2,814	35,322	2,598	77,667	19.75
3. हमीरपुर	40,850	2,050	42,602	1,892	87,394	23.68
4. कांगड़ा	1,19,150	4,518	1,20,654	4,176	2,48,498	21.17
5. किन्नौर	9,882	–	9,271	–	19,153	26.87
6. कुल्लू	43,540	1,622	40,898	1,429	87,489	28.93
7. लाहुल-स्पिति	1,214	–	1,010	–	2,224	7.11
8. मण्डी	1,07,166	5,775	1,06,767	5,290	2,24,998	28.98
9. शिमला	73,488	13,298	70,607	10,089	1,67,482	27.13
10. सिरमौर	55,621	4,204	50,958	3,822	1,14,605	30.17
11. सोलन	56,455	5,140	53,558	4,384	1,19,527	31.27
12. ऊना	40,388	3,396	38,123	3,071	84,978	22.47
हिमाचल प्रदेश	6,21,406	44,649	6,05,915	38,326	13,10,296	25.34

स्रोत—भारत की जनगणना-1991, हिमाचल प्रदेश, प्राथमिक जनगणना सारांश।

जिलावार भूमिहीन व्यक्ति

क्रम सं० जिला	31-3-83 तक पहचान किए गए भूमिहीन व्यक्तियों की संख्या	पात्र पाए गए व्यक्तियों की संख्या	भूमि आवंटित व्यक्तियों की संख्या	भूमि आवंटन के लिए शेष व्यक्तियों की संख्या	31-3-83 तक पहचान किए गए मकानहीन व्यक्तियों की संख्या	पात्र पाए गए व्यक्तियों की संख्या	आवास स्थल आवंटियों की संख्या	शेष
1	2	3	4	5	6	7	8	9
1. बिलासपुर	62	35	35	–	31	16	16	–
2. चम्बा	114	111	–	–	33	33	24	9
3. हमीरपुर	176	72	72	111	5	–	–	–
4. काँगड़ा	524	524	99	425	170	131	104	27
5. किन्नौर	11	7	7	–	9	7	7	–
6. कुल्लू	159	159	–	159	59	59	–	59
7. लाहुल-स्पिति	68	68	68	–	45	45	45	–
8. मण्डी	165	129	129	–	19	9	8	1
9. शिमला	294	20	20	–	708	303	303	–
10. सिरमौर	62	26	26	–	1	–	–	–
11. सोलन	68	43	43	–	4	2	2	–
12. ऊना	133	73	72	1	14	9	9	–
हिमाचल प्रदेश	1,836	1,267	571	696	1,098	614	518	96

स्रोत—राजस्व विभाग, हिमाचल प्रदेश

फलों के अन्तर्गत क्षेत्र

(हैक्टेयर)

वर्ष	सेब	निम्बू प्रजाति	अखरोट एवं सूखे मेवे	अन्य फल	योग
1	2	3	4	5	6
1970-71	26,735	5,495	1,745	10,354	44,329
1982-83	47,354	19,719	8,487	33,116	1,08,676
1983-84	48,292	21,926	9,009	34,824	1,14,051
1984-85	49,840	23,802	9,804	37,134	1,20,580
1985-86	51,103	27,365	10,455	39,847	1,28,770
1986-87	52,399	29,589	10,930	42,067	1,34,985
1987-88	54,912	26,726	11,628	48,785	1,42,051
1988-89	57,447	32,995	12,061	46,781	1,49,284
1989-90	59,988	34,863	12,559	49,059	1,56,469
1990-91	62,828	36,005	13,154	51,343	1,63,330
1991-92	66,767	36,885	13,581	53,535	1,70,768
1992-93	69,439	29,475	14,008	63,969	1,76,891
1993-94	72,406	30,145	14,553	65,200	1,82,304

स्रोत—उद्यान विभाग, हिमाचल प्रदेश।

फलों का उत्पादन

('000 मी. टन)

वर्ष	सेब	निम्बू प्रजाति	अखरोट एवं सूखे मेवे	अन्य फल	कुल
1	2	3	4	5	6
1970-71	103.12	14.54	1.49	29.43	148.58
1982-83	139.09	9.61	1.08	28.07	177.85
1983-84	257.91	12.08	2.21	32.08	304.28
1984-85	170.63	3.95	2.22	39.12	215.92
1985-86	174.62	4.72	1.74	26.66	207.74
1986-87	359.32	11.92	2.80	26.47	400.51
1987-88	259.28	10.87	2.72	35.82	308.69
1988-89	165.16	11.52	2.63	18.04	197.35
1989-90	394.87	12.32	3.41	49.39	459.99
1990-91	342.07	12.60	3.10	28.54	386.31
1991-92	301.73	7.74	2.40	30.43	342.30
1992-93	279.05	16.04	2.64	27.12	324.85
1993-94	294.73	21.39	2.21	7.14	325.47

स्रोत—उद्यान विभाग, हिमाचल प्रदेश।

जिलावार सेबों का निर्यात

जिला	सेबों का निर्यात			
	मीट्रिक टन में		बाक्सों में	
	1992	1993	1992	1993
1	2	3	4	5
1. शिमला	1,72,765	1,55,566	95,02,057	85,56,148
2. कुल्लू	56,633	76,282	31,14,812	41,95,503
3. मण्डी	7,214	7,373	3,96,783	4,05,530
4. किन्नौर	11,156	20,871	6,13,576	11,47,887
5. चम्बा	1,871	4,484	1,02,904	2,46,598
6. सिरमौर	1,122	259	61,702	14,248
7. सोलन	162	48	8,893	2,617
8. काँगड़ा	171	271	9,427	14,931
9. लाहुल-स्पिति	52	107	2,892	5,884
योग	2,51,146	2,65,261	1,38,13,046	1,45,89,346

स्रोत—उद्यान विभाग, हिमाचल प्रदेश।

मुख्य वन उपज का उत्पादन व मूल्य

वर्ष	इमारती लकड़ी		ईंधन*	
	परिमाण ('000 घन मी०)	मूल्य ('000 रुपये)	परिमाण ('000 घन मी०)	मूल्य ('000 रुपये)
1	2	3	4	5
1975-76	477.5	12,22,25	140.7	49,26
1979-80	463.7	21,20,16	158.5	1,90,26
1983-84	592.0	40,42,05	68.0	1,62,84
1984-85	460.2	43,12,09	17.7	83,40
1985-86	531.5	53,09,00	20.2	36,00
1986-87	548.0	47,23,69	48.0	1,12,01
1987-88	365.0	32,73,39	21.0	57,69
1988-89	453.0	85,63,05	70.0	1,87,75
1989-90	436.0	85,67,66	12.0	36,93
1990-91	312.3	86,83,40	25.0	1,08,68
1991-92	356.4	1,47,35,54	10.6	40,21
1992-93	391.0	1,93,25,50	15.5	70,56
1993-94 (अ)	389.6	2,16,644,56	27.1	85,09

स्रोत—वन विभाग, हिमाचल प्रदेश।

* जलाने की लकड़ी और कोयला सम्मिलित है।

विद्युत्
जिलावार उपगाँवों की विद्युतीकरण स्थिति

क्र.सं.	जिले का नाम	1988 के सर्वे के अनुसार उपगाँवों की स्थिति	विद्युतीकरण से बचे हुए अतिरिक्त उपगाँव	3/93 तक विद्युतीकृत	1994-95 में विद्युतीकृत	कुल विद्युतीकृत 3/95 तक	3/95 के बाद विद्युतीकरण हेतु बाकी उपगाँव	उपगाँवों का विद्युतीकरण जो नहीं हुआ
	1	2	3	4	5	6	7	8
1.	मण्डी	609	13	230	138	368	254	41
2.	बिलासपुर	51	12	53	10	63	–	NIL
3.	सिरमौर	770	–	264	47	311	459	60
4.	किन्नौर	71	–	32	1	33	38	54
5.	सोलन	434	–	213	25	238	196	45
6.	कुल्लू	512	3	256	76	332	183	36
7.	लाहुल-स्पिति	2	–	2	–	2	–	NIL
8.	शिमला	782	2	188	81	269	515	66
9.	चम्बा	851	–	390	105	495	356	42
10.	काँगड़ा	43	14	43	14	57	–	NIL
11.	हमीरपुर	12	–	11	–	11	1	NIL
12.	ऊना	45	–	42	3	45	–	NIL
	योग	**4182**	**44**	**1724**	**500**	**2224**	**2000**	**344**

हिमाचल प्रदेश में पन-विद्युत क्षमता, जिसकी पहचान कर ली गई है, का ब्योरा

क्र. सं.	पानी के प्रवाह का नाम परियोजना	अनुमानित क्षमता (एम. डब्ल्यू.)	टिप्पणी
	1	2	3
I	**यमुना का प्रवाह**		
1.	गिरी	60.00	प्रदेश सरकार (हि.प्र. रा. वि. प.) में गतिशील
2.	रेणुका बाँध	40.00	अन्वेषण प्रगति पर (हि. प्र. रा. वि. प.)
3.	पब्बर घाटी परियोजना		
	(क) टंगनू-रोमाल	44.00	अन्वेषण कार्य अभी शुरू करना है।
	(ख) धमवारी-सुंडा	70.00	हारजा से सहमति ज्ञापन हस्ताक्षरित (निजी सैक्टर)
	(ग) चिड़गाँव-मझगाँव	46.00	अन्वेषण कार्य अभी शुरू होना है।
	(घ) सवारा-कुड्डू	86.00	यथोपरि (निजी क्षेत्र में दिया जाना है)
	(च) आन्ध्रा	16.95	प्रदेश सरकार से गतिशील (हि. प्र. रा. वि. प.)
	(छ) मिन्स	9.00	अन्वेषण कार्य अभी शुरू होना है।
	(ज) शालू	11.25	यथोपरि
4.	रुपिन	39.00	यथोपरि
5.	यमुना परियोजना	537.37	यू. पी. के साथ मिलकर कुल 1074.75 मै. वाट बिजली पैदा होगी।
		योग : 959.57	

		959.57	
II. सतलुज का प्रवाह			
1.	भाखड़ा बाँध	1200.00	बी. बी. एम. बी. के नियंत्रण में गतिशील
2.	कोल बाँध	800.00	निजी क्षेत्र में दिया जाना है।
3.	सून्नी बाँध	1080.00	अन्वेषण कार्य शुरू करना है।
4.	चाबा	2.75	1.75 मै. वाट गतिशील 1.0 मै. वाट का अतिरिक्त उत्पादन सम्भव है (हि. प्र. रा. वि. प)
5.	नोटी	4.00	अन्वेषण कार्य शुरू करना है।
6.	रामपुर परियोजना	680.00	अन्वेषण कार्य शुरू करना है। निजी क्षेत्र में दिया जाना है।
7.	नोगली	6.00	स्टेज-1 (2.5 मै. वाट गतिशील) 3.5 मै. वाट
8.	नाथपा झाखड़ी	1500.00	निर्माणाधीन (संयुक्त सैक्टर)
9.	भाभा संवर्धन	—	निर्माणाधीन (हि. प्र. रा. वि. प)
10.	भाभा संवर्धन (पावर हाउस)	3.00	मिनी माइक्रो स्कीम में स्वीकृत एम. एन. ई. एस भारत सरकार द्वारा टर्न-की में दिया जाना है।
11.	संजय विद्युत परियोजना	120.00	गतिशील (हि.प्र. रा. वि. प)
12.	करछम-वागटू	900.00	जयप्रकाश से सहमति ज्ञापन हस्ताक्षरित (निजी क्षेत्र)
13.	शौंगटौंग-कड़छम	225.00	अन्वेषण कार्य शुरू करना है (निजी क्षेत्र)
14.	रुक्ती	1.50	गतिशील (हि. प्र. रा. वि. प)
15.	थोपन-पुवारी	400.00	अन्वेषण कार्य शुरू करना है।

16.	जंगी-थोपन	300.00	अन्वेषण कार्य शुरू करना है।
17.	बास्पा-I	210.00	अन्वेषण कार्य प्रगति पर (निजी क्षेत्र)
18.	बास्पा-II	300.00	सहमति ज्ञापन हस्ताक्षरित (जे. आई. एल. के साथ निजी क्षेत्र)
19.	रौंगटौंग	2.00	गतिशील (हि. प्र. रा. वि. प.)
20.	धानवी	22.50	अन्वेषण कार्य पूर्ण, आरम्भ करने को तैयार
21.	खाव-पूह	340.00	अन्वेषण कार्य शुरू करना है।
22.	पूह-स्पीलो	300.00	यथोपरि
23.	किलींग लारा	40.00	यथोपरि
24.	लारा पन-विद्युत	50.00	यथोपरि
25.	मेन-नदौग	76.00	यथोपरि
26.	नदौंग-लारा	60.00	यथोपरि
27.	लारी-सुमीती	104.00	यथोपरि
28.	सुमीती-कथांग	130.00	यथोपरि
29.	चांगो-यंग थंग	140.00	यथोपरि
30.	चंगथंग-खाब	400.00	यथोपरि
		योग : 10356.32	
III. व्यास प्रवाह			
1.	पौंग बाँध	360.00	गतिशील (बी. बी. एम. बी. के नियन्त्रण में)
2.	गज	10.50	निर्माणाधीन (हि. प्र. रा. वि. प.)
3.	खौली	10.50	ब्योरेवार अन्वेषण कार्य आरंभ होना है। (निजी क्षेत्र)

4.	बनैर	12.00	निर्माणाधीन (हि. प्र. रा. वि. प.)
5.	न्यूगल	15.00	सहमति ज्ञापन हस्ताक्षरित (ओम पावर कार्पोरेशन के साथ)
6.	बिनवा	6.00	गतिशील (हि. प्र. रा. वि. प.)
7.	उहल स्टेज-I	110.00	गतिशील (पंजाब विद्युत् बोर्ड के नियंत्रण में)
8.	उहल स्टेज-II (बस्सी)	75.00	गतिशील 60 मै. वाट, 15. मै. वाट का अतिरिक्त उत्पादन होना सम्भव है।
9.	उहल स्टेज-III	100.00	सहमति ज्ञापन हस्ताक्षरित मैसर्ज विलट के साथ (निजी क्षेत्र)
10.	बी. एस. एल.	990.00	गतिशील (बी. बी. एम. बी. के नियंत्रण में)
11.	लारजी	126.00	संयुक्त क्षेत्र के लिए आफ़र
12.	पार्वती स्टेज-I	750.00	अन्वेषण कार्य आरंभ (संयुक्त सैक्टर)
13.	पार्वती स्टेज-II	800.00	डी. पी. आर. भारत सरकार को दे दी गई है। (संयुक्त सैक्टर)
14.	पार्वती स्टेज-III	501.00	डी. पी. आर. भारत सरकार को दे दी गई है।(संयुक्त सैक्टर)
15.	सर्वरी	10.50	अन्वेषण कार्य आरम्भ होना है।
16.	मलाणा	86.00	सहमति ज्ञापन हस्ताक्षरित (निजी क्षेत्र)
17.	कुल्लू	42.00	अन्वेषण कार्य शुरू होना है।
18.	घरोपा	32.00	यथोपरि
19.	गंधारणी	18.00	यथोपरि
20.	एलेन-घुंगन	192.00	सहमति ज्ञापन हस्ताक्षरित मैसर्ज आर. एस. डब्ल्यू. एम. लि. के साथ (निजी क्षेत्र)
21.	कालथ	60.00	अन्वेषण कार्य शुरू होना है।
22.	पटीकरी	20.00	यथोपरि (निजी क्षेत्र में दिया जाना है)
		योग : 4326.50	

		4326.50	
IV	**रावी प्रवाह**		
1.	चमेरा जल-विद्युत परियोजना स्टेज-I	540.00	नेशनल हाइड्रो पावर द्वारा गतिशील
2.	चमेरा स्टेज-II	300.00	यथोपरि निर्माण कार्य आरम्भ होना है।
3.	बैरास्यूल परियोजना	180.00	गतिशील (एन. एच. पी. सी. के नियंत्रण में)
4.	हिबरा डैम परियोजना	231.00	सहमति ज्ञापन हस्ताक्षरित (निजी क्षेत्र)
5.	घैरौला	0.05	गतिशील (हि. प्र. रा. वि. प)
6.	कुटैहड़	360.00	अन्वेषण कार्य होना है।
7.	बुदिल	81.00	अन्वेषण कार्य आरम्भ। (निजी क्षेत्र में दिया जाना है)
8.	भरमौर (बुदिल पर)	45.00	अन्वेषण कार्य अभी आरंभ होना है।
9.	हरसर	60.00	अन्वेषण कार्य आरंभ होता है।
10.	टुंडा-I	15.00	यथोपरि
11.	टुंडा-II	30.00	यथोपरि
12.	कुगती	45.00	अन्वेषण कार्य आरंभ होना है।
13.	होली परियोजना	7.50	एम. एन. इ. एस. द्वारा मिनी माइक्रो के अन्तर्गत स्वीकृत (टर्नकी पर दिया जाना है)
14.	साल-I	8.25	अन्वेषण आरंभ होना है।
15.	साल-II	2.00	एम. एन. इ. एस. द्वारा मिनी माइक्रो के अंतर्गत स्वीकृत (टर्नकी पर दिया जाना है)
16.	भूरी सिंह पावर हाउस	0.45	गतिशील (हि. प्र. रा. वि. प)

17.	सिंदी	120.00	अन्वेषण आरंभ होना है।
18.	भरमौर	0.02	गतिशील (हि. प्र. रा. वि. प.)
19.	बड़ा-बंगाल	160.000	अन्वेषण अभी आरम्भ होना है।
		योग : 16868.09	

V चनाब प्रवाह

1.	जिप्सा	240.00	अन्वेषणगत
2.	टांडी	150.00	अन्वेषण आरंभ होना है।
3.	सेली	600.00	यथोपरि
4.	रशील	150.00	यथोपरि
5.	थिरोट	4.50	गतिशील (हि. प्र. रा. वि. प.)
6.	शानशा	0.20	गतिशील (हि. प्र. रा. वि. प.)
7.	बिल्लिग	0.20	यथोपरि
8.	सिसू	0.10	यथोपरि
9.	किलार	0.30	यथोपरि
10.	पांगी	3.00	अन्वेषण अभी आरंभ होना है।
11.	धेड़ा	3.00	यथोपरि
12.	लुजाई	4.00	यथोपरि
13.	सैचु	4.00	यथोपरि
14.	टिन्गार	180.00	यथोपरि
15.	दुगील	360.00	यथोपरि

16.	सोनबारी	210.00	यथोपरि
17.	डूगर	360.00	अन्वेषण प्रगति पर
18.	छतरू	300.00	यथोपरि
19.	तुन्शा	150.00	अन्वेषण आरंभ होना है।
20.	तेलिंग	81.00	यथोपरि
21.	पटन	60.00	यथोपरि
22.	तिंगत	81.00	यथोपरि
23.	मीयार	90.00	यथोपरि
24.	चन्द्र भागा	270.00	यथोपरि
		योग : 20,169.39	
VI.	लघु पन-विद्युत् परियोजनाएँ	341.00	
VII.	मिनी माइक्रो स्कीमें बची हुई 142 स्कीमें ऊपर की पाँच प्रवाहों पर	159.00	
	कुल योग	**20,169.39**	**मै. वाट**

जल-विद्युत परियोजना निजी क्षेत्र में देने के लिए

क्र. सं.	परियोजना	उत्पादन क्षमता (मै. वाट)	ऊर्जा का विश्वसनीय वर्ष एम.यू. (90%)	अनुमानित लागत (दस लाख में)	स्थिति
	1	2	3	4	5
	जिला शिमला				
1.	रामपुर	680	2720	20400	अन्वेषण शुरू होना है।
2.	सवारा कुड्डु	86	335	3440	यथोपरि
3.	चिड़गाँव मझगाँव	46	169	1840	यथोपरि
	जिला किन्नौर				
4.	सौंग टौंग-करछम	225	900	6750	यथोपरि
5.	बासपा-I	210	840	4500	अन्वेषण प्रगति पर
	जिला काँगड़ा				
6.	खौली	10.5	42	430	यथोपरि
	जिला चम्बा				
7.	कुटहेर	240	1045	7200	अन्वेषण शुरू होना है।
8.	बुद्धिल	81	324	3240	अन्वेषण प्रगति पर
9.	साल-I	8.25	51.73	330	अन्वेषण शुरू होना है।
	जिला मण्डी				
10.	पटीकरी	20	80	800	यथोपरि
	जिला बिलासपुर				
11.	कौलडैम	800	3073	14576	तकनीकी एवं वित्तीय मंजूरी (सी. ई. ए. से) वित्तीय मामलों की मन्त्रिमण्डलीय कमेटी द्वारा स्वीकृति अभी होनी है।

पन-विद्युत् परियोजनाएँ जिन पर निजी क्षेत्र में देने के लिए सहमति ज्ञापन हस्ताक्षरित कर दिए गए हैं।

क्र. सं.	परियोजना	उत्पादन क्षमता (मै.वा.)	ऊर्जा का विश्वसनीय वर्ष एम.यू. (90%)	अनुमानित लागत (दस लाख में)	स्थिति
	1	2	3	4	5
(अ)	1994-95 से पहले				
	जिला शिमला				
1.	घानवी	22.5	86	1132	सहमति ज्ञापन रद्द कर दिया गया।
	जिला किन्नौर				
2.	बासपा-II	300	1350	9492.30	प्रारंभिक कार्य शुरू। बिजली खरीदने हेतु अनुबन्ध हस्ताक्षरित किया जाना है।
	जिला मण्डी				
3.	ऊहल-II	100	429	5163	फर्म द्वारा भेजा गया विस्तृत परियोजना प्रतिवेदन बोर्ड के विचाराधीन है।
(ब)	1993-94 के दौरान				
	जिला शिमला				
1.	धमवारी सुण्डा	70	285	2550	डी. पी. आर. बोर्ड के पास छानबीन के लिए है।

	जिला किन्नौर				
2.	करछम-वांगटु	900	3725	13500	कम्पनी डी. पी. आर. तैयार कर रही है।
	जिला चम्बा				
3.	हिबरा	231	780	10200	डी. पी. आर. बोर्ड के पास छानबीन के लिए है।
	जिला काँगड़ा				
4.	न्यूगल	15	73	816	यथोपरि
	जिला कुल्लू				
5.	एलेन-धुंगन	192	670	3360	डी. पी. आर. कम्पनी के पास निर्माणधीन डी. पी. आर. बोर्ड के पास छानबीन के लिए है।
	मलाणा	86	370	3810	

31.3.95 तक हिमाचल प्रदेश में उपलब्ध बिजली की स्थिति

क्र. सं.	विद्युतगृह का नाम	एम. डब्ल्यू	प्रतिशत हिस्सा
	1	2	3
	हि. प्र. रा. वि. परिषद के स्रोत द्वारा		
(क)	भावा (3×40 मै.वा.)	120.00	–
(ख)	गिरी (2×30 मै.वा.)	60.00	–
(ग)	बस्सी (4×15 मै. वा.)	60.00	–
(घ)	आंध्रा (3×5.65 मै.वा.)	16.95	–
(च)	बिनवा (2×3 मै. वा.)	6.00	–
(छ)	नोगली ($4\times0.5+12\times0.25$ मै. वा.)	2.50	–
(झ)	रौंगटौंग (4.05 मै. वा.)	2.00	–
(ट)	अन्य	4.62	–
(ठ)	डीजल	0.133	—
		योग 272.203	–
	उपलब्धता (बाहरी स्रोत से)		
	(i) अन्तर्राज्यीय स्रोतों (जल) से		
(क)	भाखड़ा (पुराने हिमाचल का हिस्सा)	10.00	2.5%
(ख)	भाखड़ा (न्यू. हि. प्र. हिस्सा)	26.840	–
(ग)	डैहर (990 मै. वा.)	15.000	1.51%

(घ)	बैरा स्यूल (198 मै. वा.)	23.760	12%
(च)	यमुना जल-विद्युत् परियोजना (I, II & IV) 479.69 मै. वा.		
	(i) स्टेज-II(360 मै. वा.) 1972 से (अगस्त 72)	90.0	25%
	(ii) स्टेज-IV (30 मै. वा.) कुलहाल	6.00	20%
	(iii) स्टेज (84.69 मै. वा.) सितम्बर 1994 से	21.170	25%
(छ)	खारा जल-विद्युत परियोजना (72 मै. वा.)	14.40	20%
(ज)	पी. एस. इ. बी.		
	(i) सानन (60 मै. वा.)	1.50	25%
	(ii) सानन एक्सटेंशन (50 मै. वा.)	37.50	75%
	(iii) केन्द्रीय स्रोतों से		
(क)	रिहन्द थर्मल (1000 मै. वा.)	35.00	3.5%
(ख)	अन्ता-गैस (430 मै. वा.)	15.00	3.5%
(ग)	उरिया-गैस (600 मै. वा.)	20.00	3.3%
(घ)	नरोरा-अटोमिक (470 मै. वा.)	15.00	3.19%
(च)	दादरी (817.3 मै. वा.)	25.00	3.04%
(छ)	टनकपुर (120 मै. वा.)	4.00	3.33%
(ज)	अन्वार (420 मै. वा.)	7.00	1.67%
(झ)	सलाल-II (345 मै. वा.)	10.00	2.89%
(ज)	चमेरा (540 मै. वा.)	80.00	14.8%
	कुल योग	**729.373**	

स्रोत : प्रशासनिक रिपोर्ट 1994-95, राज्य बिजली बोर्ड, शिमला- 171004

सन्दर्भ ग्रन्थ

Hutchison, J. Vogel, J. Ph.	History of the Punjab Hill States
Vogel, J. Ph.	Inscriptions of Chamba State
Fleat, J.F.	Nirmand Plats of Mahasamvata & Maharaja Samudrasena.
Calvert, J.	The Silver Country & Vazeeri Rupi
Franke, A. H.	Antiquities of Indian Tibet.
Gerard, Alexander	Account of Koonawar in the Himalaya
Guiseppe Tucci	The Temples of Western Tibet & their Artistic Symbolism
Mian, Goverdhan Singh	Art & Architecture of Himachal Pradesh
Handa, O.C.	Tabo Monastery and Buddhism
Wilson, H.H.	Buddha and Buddhism
Randhawa, M.S.	Basoli, Chamba, Kangra Paintings
Ohri, V.C.	Arts of Himachal (State Museum Shimla).
Bernier, Ronald	Himalayan Towers

Annual Reports & Archaeological Servey of India, and Gazetteeres

सांकृत्यायन, राहुल	हिमाचल (वाणी प्रकाशन, दिल्ली)
गोवर्धनसिंह (मियाँ)	हिमाचल प्रदेश का इतिहास (हिमाचल अकादमी)
वशिष्ठ सुदर्शन	हिमाचल प्रदेश में स्वतन्त्रता संग्राम का संक्षिप्त इतिहास (भाषा विभाग)
वशिष्ठ, सुदर्शन	व्यास की धरा (हिमाचल पुस्तक भण्डार दिल्ली)
वशिष्ठ, सुदर्शन	कैलास पर चाँदनी (हिमाचल पुस्तक भण्डार, दिल्ली)
वशिष्ठ, सुदर्शन	पर्वत से पर्वत तक (रिलायंस पब्लिकेशन, दिल्ली)
वशिष्ठ, सुदर्शन	रंग बदलते पर्वत (सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली)
	सांख्यिकीय पुस्तिका (अर्थ एवं सांख्यिकी विभाग, हिमाचल प्रदेश)